अपने-अपने संकेत हैं। एक अर्थ का बोध कराने के लिए ध्वनि-संकेत विभिन्न रहते हैं। इसी आधार पर भाषाओं का भेद है। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ऐसा स्वाभाविक होता कि अमुक शब्द अमुक नियत अर्थ का बोध करायेगा, तो विभिन्न वर्गों में शब्द से अर्थबोध के लिए इच्छानुसार संकेत का होना सम्भव न होता। तब मनुष्यमात्र अपने भावों को प्रकट करने के लिए एक ही प्रकार की ध्वनियों का उपयोग करनेवाला होता; जैसा पशु-पक्षियों में प्रायः देखाजाता है। जो जिसका स्वाभाविक कार्य होता है, वह किसी जातिविशेष के लिए कभी बदलता नहीं है। सूर्य का कार्य सबको गरमी व प्रकाश प्रदान करना है; अथवा तैजस प्रकाश, रूप के ज्ञान में कारण होता है; यह स्वभाव से प्राप्त है, और सबके लिए समान है। सूर्य किसी एक वर्ग को प्रकाश दे, अन्य को न दे; अथवा प्रकाश में कोई एक वर्ग रूप का प्रत्यक्ष करे, अन्य न करे; ऐसा सम्भव नहीं; क्योंकि यह स्थिति इच्छानुसार नहीं है, निसर्गप्राप्त है। परन्तु शब्द से अर्थबोध होने में ऐसा नियम नहीं है। इसलिए शब्द से अर्थ का बोध सामयिक है, निर्धारित संकेत के अनुसार होता है, स्वाभाविक नहीं ॥ ५६ ॥

वैदिक शब्द का अप्रामाण्य—गत लम्बे प्रसंग से यह निर्धारित कियागया कि शब्दप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं होता। शब्द स्वयं में अतिरिक्त प्रमाण है। इस तथ्य को समझकर शिष्य के द्वारा—वैदिक साहित्य में प्रतिपादित पुत्रकामेष्टि, हवन तथा अभ्यास (एक मन्त्र को अनेक बार बोलने का विधान) आदि के प्रसंगों को लक्ष्यकर शब्द के प्रामाण्य के विषय में—कीगई आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ ५७ ॥ (११८)

[तदप्रामाण्यम्] उस शब्द—वाक्य का प्रामाण्य नहीं मानाजाना चाहिये, [अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः] अनृत-मिथ्या, व्याघात-विरोध तथा पुनरुक्त-दोष होने से (शब्द में)।

वेद का अप्रामाण्य क्यों—जिस शब्द को प्रमाण मानाजाता है, उसमें अनृत आदि दोष दिखाई देते हैं, अतः उसके प्रामाण्य को स्वीकार नहीं कियाजाना चाहिये। सूत्र में पठित 'तत्' पद सामान्य शब्दमात्र का निर्देश न कर केवल किन्हीं विशिष्ट वाक्यों का निर्देश करता है।

वैदिक वाक्य मिथ्या—उनमें वैदिक साहित्य का एक वाक्य है—'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्यायजेत' पुत्र की कामना करनेवाला व्यक्ति पुत्रेष्टि से यजन करे। पुत्रकामेष्टि का अनुष्ठान करने से पुत्र प्राप्त होजाता है। परन्तु अनेकवार ऐसा देखाजाता है कि इष्टि का अनुष्ठान करने पर भी यजमान (इष्टिकर्त्ता दम्पती) को पुत्रलाभ नहीं होता। फलतः उक्त वाक्य मिथ्या होजाता है। जब इस दृष्टफल

वाले वाक्य को मिथ्या होते देखते हैं, तो इसके अनुसार वे अदृष्टफलवाले वैदिक वाक्य भी मिथ्या होने सम्भव हैं, जिनमें स्वर्ग की कामना करनेवाले व्यक्ति के लिए अग्निहोत्र होम करने का विधान कियागया है–'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि। यह स्थिति प्रमाण मानेजानेवाले शास्त्र के विषय में विश्वास को उखाड़देती है।

वैदिक वाक्यों में विरोध—इसीप्रकार शास्त्रीय वाक्यों में परस्पर-विरोध पायाजाता है। दैनिक हवन का विधान करते हुए बताया है–'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाऽध्युषिते होतव्यम्' इत्यादि। सूर्योदय होजाने पर हवन करना चाहिये, अनुदित-सूर्यकाल में हवन करना चाहिये, अध्युषित[1] समय में हवन करना चाहिये। प्रातः दैनिक हवन के ये तीन काल बतलाये। पहले तो इन्हीं में परस्पर-विरोध है। उदित काल में हवन करना बताकर, उसका विरोध करते हुए अनुदित काल में बताया; उन दोनों कालों का विरोध कर तीसरा अध्युषित काल में हवन का विधान किया। ये सब काल एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। यदि इसे कालविषयक विकल्प बताकर विरोध से बचा भी जाय, तो आगे विधि का विरोध कियागया स्पष्ट दीखता है। वहाँ लिखा है—

१. "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति।
२. शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति।
३. श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति।"

१. श्याव उसकी आहुति को खाजाता है, जो उदित में हवन करता है।

२. शबल उसकी आहुति को खाजाता है, जो अनुदित में हवन करता है।

३. श्याव-शबल दोनों मिलकर उसकी आहुति को खाजाते हैं, जो समयाध्युषित में हवन करता है।

पहले हवन का विधान किया। अनन्तर श्याव आदि के द्वारा हुत आहुति को खाजाने के रूप में विधि की व्यर्थता बतलादीगई। यह विधि और उसको व्यर्थ बताने के रूप में परस्पर-विरोध स्पष्ट है।

---

१. उदित काल वह है, जब सूर्य का उदय (दर्शन) होजाय। अनुदित काल वह है, जब तक सूर्योदय से पहले नक्षत्रमण्डल दिखाई देता रहता है। जब नक्षत्रमण्डल दिखाई देना बन्द होजाता है, और सूर्योदय भी नहीं होता, वह अध्युषित-काल मानाजाता है। इस काल के विषय में एक प्राचीन उक्ति है—

तथा प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले।
रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितं हि तत्॥

वेद में पुनरुक्त-दोष—पुनरुक्त-दोष भी शास्त्रीय निर्देशों में देखाजाता है। अनेक स्थलों पर मन्त्रों के पुनः-पुनः उच्चारण का विधान किया है–'त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्' पहली ऋचा को तीन बार पढ़े, और अन्तिम ऋचा को तीन बार पढ़े। यह एक ही ऋचा को कई बार पढ़ने के रूप में पुनरुक्त-दोष है। यह वक्ता के प्रमाद को स्पष्ट करता है। फलतः अनृत, व्याघात और पुनरुक्त-दोषों के कारण ऐसे शब्द को प्रमाण मानना युक्त नहीं ॥ ५७ ॥

वैदिकवाक्य में मिथ्या दोष नहीं—शिष्यों की उक्त आशंका का सूत्रकार यथाक्रम समाधान करता है—

न कर्मकर्त्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५८ ॥ (११६)

[न] नहीं (आशंका ठीक) [कर्मकर्त्तृसाधनवैगुण्यात्] कर्म, कर्त्ता और साधनों के विगुण (गुणहीन) होने से।

गत सूत्र से यहाँ 'अनृत-दोषः' पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। शब्द-प्रमाण में पहला दोष 'अनृत' बतायागया, जिसमें पुत्रेष्टि–अनुष्ठान का फल न देखेजाने से उसे मिथ्या कहा है। आचार्य बताता है, पुत्रकाम-इष्टि में अनृत-दोष की आशंका करना व्यर्थ है। जहाँ पुत्रेष्टि का अनुष्ठान होने पर उसके फल पुत्र का लाभ नहीं होता, वहाँ उस शास्त्रीय वाक्य का कोई दोष नहीं है। इष्टि के अनुष्ठान से सम्पन्न पति-पत्नी ऋतुकाल में संयुक्त होकर पुत्र को उत्पन्न करते हैं। इस प्रसंग में पति-पत्नी का संयोग 'कर्म' है, इष्टि और संयोग के करनेवाले पति-पत्नी दोनों 'कर्त्ता' हैं। इष्टि पुत्रजन्म का 'साधन' है। ये तीनों –कर्म, कर्त्ता और साधन अपने गुणों से युक्त रहते हैं; अर्थात् इनमें कहीं किसी तरह की कमी नहीं रहती, तब पुत्रजन्म अवश्य होता है। यदि किसीमें कहीं कुछ न्यूनता–विगुणता होजाय, तो पुत्रजन्म न होगा।

पुत्रजन्म का साधन इष्टि है। इसमें कर्मवैगुण्य है–अनुष्ठान की प्रक्रिया का ठीक-ठीक न होना। शास्त्र में इष्टि-क्रिया की जो पद्धति बताई है, उसका पूर्णरूप में पालन न कियाजाना–इष्टिविषयक कर्मवैगुण्य है। इसमें कर्त्तृवैगुण्य है–इष्टि के करानेवाले ऋत्विजों का अविद्वान्, मन्त्रों का ठीक उच्चारण न करनेवाले तथा निन्दित आचरणवाले होना। इष्टिविषयक साधनवैगुण्य है–हवि-द्रव्य का असंस्कृत (अशुद्ध–अपवित्र) होना, मन्त्रों का न्यून व अधिक बोलाजाना एवं स्वर तथा वर्ण आदि से हीन होना, दीजानेवाली दक्षिणा का कम होना, निन्दित होना तथा पाप से कमाईगई होना आदि। ये सब इष्टिविषयक कमियाँ हैं; इनमें कोई कमी होजाय, तो अनुष्ठान निष्फल होजायगा।

पति-पत्नी इष्टि व संयोग के कर्त्ता हैं। कर्त्ता के विषय में कर्मवैगुण्य है–पति-पत्नी के संयोग का विधिपूर्वक न होना; उपयुक्तकाल एवं शास्त्रीयविधान

का ध्यान न रख परस्पर संयुक्त होजाना मिथ्यासंप्रयोग होगा, जो फल देने में कारगर नहीं रहता। इस विषय में कर्त्तृवैगुण्य है–पत्नी के योनिरोग आदि होना, तथा पति के शुक्रसम्बन्धी रोग एवं शुक्र में उपयुक्त जीवाणुओं का न होना आदि। कर्त्ता-विषयक साधनवैगुण्य है–उस चरु आदि का सुसंस्कृत न होना, जो संयोग से पूर्व दम्पती के उपयोग के लिए इष्टि–अनुष्ठान के प्रसंग में तैयार कियाजाता है। इष्टि आदि में इन कमियों के होजाने से उसके फल–पुत्र का लाभ नहीं होपाता, इसमें शास्त्रीय शब्द का कोई दोष नहीं है।

वैदिक वाक्य की सत्यता में लौकिक उदाहरण—लोकमें इसप्रकार के कार्य देखेजाते हैं। शिल्पी कोई मकान अथवा नदी आदि पर कोई बाँध बनाते हैं। उसके लिए उपयुक्त साधन-सामग्री एकत्र कर योग्य शिल्पियों द्वारा सुयोग्य अभियन्ताओं की देखरेख में यदि उसका विधिपूर्वक निर्माण होजाता है, तो वह कार्य सदियों सुरक्षित रहता हुआ सुफल प्रदान करता रहता है। यदि कार्य-अनुष्ठान के अवसर पर अभियन्ता निरीक्षण में प्रमाद करता है, अनुकूल निर्देश देने में अक्षमता रखता है, शिल्पी ईंट-प्रस्तर आदि का यथोचित सन्निवेश नहीं करता, साधन–सामग्री का यथाविधि उपयोग नहीं होता, सीमन्ट की जगह रेत या काली मिट्टी डालदीजाती है, और अव्वल ईंट की जगह दोयम-सोयम भरदी जाती हैं, तो वह कार्य फलप्रद न होकर सद्यः नष्ट होजाता है।

ऐसे ही अन्य लौकिक अनुष्ठानविषयक एक वाक्य है–'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' आग की चाहनावाला दो विशिष्ट काष्ठों को आपस में मथे। यदि यहाँ कर्म, कर्त्ता और साधन में वैगुण्य न होकर यथाविधि काष्ठों का मन्थन होता है, तो उसके फल–अग्नि का अवश्य लाभ होता है। यदि मन्थन ठीक न होने से उसमें कर्मवैगुण्य होजाय, कर्त्ता प्रमादी और बुद्धिहीन हो, मन्थनविधि का जानकार न हो, प्रयत्न में शिथिलता करे–यह कर्त्तृवैगुण्य रहे, और काष्ठ गीले हों अथवा कीड़े के खाये घुनेहुए हों, यह साधनवैगुण्य होगा। इन कमियों–दोषों के रहने पर मन्थन होने से भी अग्नि की प्राप्ति न होगी। इसमें मन्थन से अग्नि-प्राप्ति बताने वाले काव्य का कोई दोष नहीं है। प्रत्युत इसका कारण है–कर्त्ता, साधन तथा प्रक्रिया-सम्बन्धी कमियाँ। यही स्थिति 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इस वाक्य की है। शास्त्र और लौकिक वाक्य ऐसे प्रसंगों में परस्पर कोई भेद नहीं रखते ॥ ५८ ॥

वैदिकवाक्य में विरोध नहीं—दूसरे दोष–'व्याघात' का समाधान सूत्रकार बताता है—

अभ्युपेत्य[1] कालभेदे दोषवचनात् ॥ ५९ ॥ (१२०)

१. कौषीतकिब्राह्मण [२ । ९] तथा जैमिनीयब्राह्मण [१ । ६] में पाठ है— 'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः' दिन का नाम 'शबल' और रात्रि का नाम 'श्याम' है। वात्स्यायनभाष्य में 'श्याव' पाठ दिया है। उदित का प्रतीक शबल (दिन) तथा अनुदित का प्रतीक श्याम (रात्रि) है। अध्युषितकाल के प्रतीक श्याम (व)–शबल दोनों हैं।

उदितकाल–सूर्योदय होने पर।

अनुदितकाल–प्रातः नक्षत्रमण्डल दिखाईदेते रहने तक।

अध्युषितकाल–दोनों के अन्तराल का काल, जब नक्षत्रमण्डल दिखाई देना बन्द हो गया हो, और सूर्योदय भी न हुआ हो।

जिस व्यक्ति ने उदितकाल में हवन करने की प्रतिज्ञा की है, अथवा वैसा व्रत स्वीकार किया है, वह व्यक्ति यदि प्रतिज्ञात उदितकाल को छोड़कर अनुदित अथवा अध्युषितकाल में हवन करता है, तो वह असमय (अप्रतिज्ञात समय) में होने से स्वीकृत प्रतीक के अनुकूल नहीं है। वह होम-कर्म निष्फल होजाता है। इसी भाव को उदितकाल के प्रतीक शबल द्वारा आहुति के अभ्यवहरण (खाजाने) के रूप में अभिव्यक्त किया है। प्रतिज्ञात उदितकाल का प्रतीक शबल है।

यदि प्रतिज्ञात उदितकाल को छोड़कर व्यक्ति अध्युषितकाल में हवन करता है, तो श्याम-(व)-शबल दोनों उस आहुति को खाजाते हैं। अध्युषितकाल, उदित-अनुदित दोनों के अन्तराल में रहता है। इसी भावना से 'श्यावशबलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति' निर्देश किया गया है। प्रतिज्ञात अनुदितकाल को छोड़कर अध्युषितकाल में हवन करने वाले के लिए भी यही व्यवस्था है।

जो व्यक्ति प्रतिज्ञात अनुदितकाल को छोड़कर उदितकाल में हवन करता है, उसकी आहुति को श्याम (व) खाजाता है। अनुदितकाल का प्रतीक श्याम है। प्रतिज्ञा करनेवाले व्यक्ति का उसी प्रतिज्ञात काल में किया हवन सफल–श्रेयस्कर होता है।

इन सब वाक्यों का–प्रतिज्ञातकाल को छोड़देने की–निन्दा में तात्पर्य है। स्वीकृत व्रत को तोड़ना निश्चित दोष है। परस्पर-विरोध की भावना इन वाक्यों में कोई नहीं है।

इस विषय में तैत्तिरीयसंहिता [२ । १ । ८ । ५] का यह वाक्य अनुसन्धेय है—"कृष्णो भवत्येतद्वै वृष्ट्यै रूपं रूपेणैव वृष्टिमवरुन्धे; शबलो भवति विद्युतमेवास्मै जनयित्वा वर्षयत्यवाशृंगो भवति वृष्टिमेवास्मै नियच्छति"

[अभ्युपेत्य] स्वीकार करके [कालभेदे] काल का उल्लंघन करने पर [दोषवचनात्] दोष के कथन से

गत सूत्रों से 'न, व्याघात' पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये । जो व्यक्ति प्रारम्भ में यह प्रण करलेता है कि मैं उदित में हवन किया करूँगा, अथवा अनुदित में कियाकरूँगा, यदि वह अपने प्रतिज्ञात–स्वीकृतकाल का उल्लंघन करता है— उदितकाल में हवन की प्रतिज्ञा कर, उसे छोड़ अनुदित अथवा अध्युषित में हवन करता है, उसके लिए यह कार्य दोषपूर्ण बतायागया है–'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति' इत्यादि । इसलिए हवन का विधान करनेवाले इन वाक्यों में परस्पर कोई व्याघात–विरोध नहीं है ।

हवन-कार्य किसी भी समय कियाजाय, वह पुण्य ही है; पर दोषवचन में रहस्य यही है कि प्रतिज्ञात समय के छोड़देने में कर्त्ता-व्यक्ति का प्रमाद, आलस्य तथा अनुष्ठान के प्रति उपेक्षा व शिथिलता के भाव प्रकट होते हैं । इसी भावना से स्वीकृत समय के उल्लंघन को दोष बतायागया है, जिससे हवन करनेवाला व्यक्ति अपने इस सत्कार्य में सदा सन्नद्ध व सतर्क रहे ।। ५९ ।।

पुनरुक्ति-दोष नहीं वैदिक वाक्यों में—पुनरुक्तविषयक तीसरी आशंका का समाधान करने की भावना से सूत्रकार ने बताया—

अनुवादोपपत्तेश्च ।। ६० ।। (१२१)

[अनुवादोपपत्तेः] अनुवाद की उपपत्ति–सिद्धि–संभावना से (पूर्वोक्त वाक्य में पुनरुक्ति-दोष नहीं है), [च] तथा ।

गत सूत्रों से 'न, पुनरुक्तदोष' इन पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये । पूर्वोक्त जिन वाक्यों में पुनरुक्त-दोष की उद्भावना कीगई है, वस्तुतः वहाँ पुनरुक्तदोष नहीं है; क्योंकि उन वाक्यों में अनुवाद का होना संभावित है, अथवा सिद्ध है । जो वाक्य बिना प्रयोजन के बार-बार निरर्थक कहेजाते हैं, वहाँ पुनरुक्तदोष मानाजाता है । परन्तु जहाँ शब्द अथवा शब्दसमूह का पुनः-पुनः अभ्यास किसी विशेष प्रयोजन से कियाजाता है, वह 'पुनरुक्त' न होकर 'अनुवाद' कहाजाता है । ब्राह्मण[1] में कथन है–'इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे'–मैं इस विरोधी को पन्द्रह अरोंवाले वाग्वज्र से बाधित करता हूँ । इसके अनुसार पन्द्रह अरोंवाला वह वाणीरूपी वज्र पन्द्रह ऋचा हैं, जिनका उच्चारण कर पन्द्रह सामिधेनी-आहुतियाँ दीजाती हैं । परन्तु जिन ऋचाओं से आहुति देने का विधान है, वे केवल ग्यारह हैं । उन्हींसे पन्द्रह आहुतियाँ देने के लिए पहली और अन्तिम ऋचा की तीन आवृत्ति कीजाती हैं । इसप्रकार दो

१. द्रष्टव्य, कौषी०, १२।२॥३।२, ३।७।२॥ २. ऋ० ३।२१।२॥६।१६।१०-१२॥३।२७।१३-१५॥१।१२।१॥३।२७।४॥५।२८।५-६॥

ऋचाओं से छह आहुतियाँ, तथा शेष नौ ऋचाओं से एक-एक आहुति देकर पन्द्रह संख्या पूरी कीजाती है। मन्त्रों का यह अभ्यास सप्रयोजन होने से अनुवाद माना है, जो दोषावह नहीं ॥ ६० ॥

अनुवादवाक्य सार्थक—अनुवादवाक्यों की सार्थकता को सूत्रकार ने बताया—

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६१ ॥ (१२२)

[वाक्यविभागस्य] वाक्यविभाग के [च] तथा [अर्थग्रहणात्] अर्थ-ग्रहण से (शब्द-प्रमाण है, यह समझना चाहिए)।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों का कई प्रकार से विभाग आचार्यों ने किया है। वह किन्हीं विशेष प्रयोजनों के आधार पर है। उनमें एक विभाग 'अनुवाद' है, जिसको शिष्ट पुरुषों ने प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' [श० ब्रा० १।३।५।६] इत्यादि वाक्य ऐसा ही है। अतः इसका प्रामाण्य निर्बाध है, इसमें पुनरुक्त जैसे किसी दोष की सम्भावना नहीं ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणवाक्य-विभाग— ऐसे ब्राह्मणवाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है; सूत्रकार ने बताया—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६२ ॥ (१२३)

[विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्] विधिवचन, अर्थवादवचन, अनुवाद-वचन के विनियोग—समन्वय से।

ब्राह्मण-वाक्यों का तीन प्रकार से विनियोग होता है, अर्थात् ब्राह्मण-वाक्यों का तीन भागों में समन्वय होजाता है। वे भाग हैं—विधिवचन, अर्थवाद-वचन, अनुवादवचन। कर्मकाण्डसम्बन्धी समस्त ब्राह्मण-साहित्य इन्हीं भागों में समन्वित है ॥ ६२ ॥

विधिवाक्य—उनमें विधिवचन कौन-से हैं, सूत्रकार ने बताया—

विधिर्विधायकः ॥ ६३ ॥ (१२४)

[विधिः] विधि है [विधायकः] विधायक=प्रेरक वाक्य।

जो शास्त्रीय वाक्य किसी कर्मानुष्ठान के लिए प्रेरणा देता है, वह विधि-वाक्य कहाजाता है। भाष्यकार ने विधि के दो अर्थ बताये—'नियोग' और 'अनुज्ञा'। नियोग का अर्थ है—व्यक्ति को कार्य के लिए प्रवृत्त करना। जिस वाक्य से 'इदं कुर्यात्'—यह करे—इसप्रकार प्रेरणा मिलती हो, वह नियोगविधि-वाक्य है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्ग की कामनावाला याग करे। जो वाक्य जानते हुए व्यक्ति को कुछ विशेष जनाता है, वह अनुज्ञाविधिवाक्य है। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यहाँ पर वाक्य अग्निहोत्र के साधनों की प्राप्ति के लिए

व्यक्ति को प्रेरित कर अग्निहोत्र के लिए प्रवृत्त करता है। साधनों के विना अग्निहोत्र सम्भव नहीं, अतः उसके लिए द्रव्योपार्जन आदि में प्रवृत्ति को जगाता है; यद्यपि ऐसा व्यक्ति अग्निहोत्र में प्रवृत्ति की भावना स्वतः रखता है। इसमें यह रहस्य समझना चाहिए जब ये विधिवाक्य अग्निहोत्र आदि में अप्रवृत्त पुरुष को प्रवृत्त करते हैं, तब 'नियोगविधि' हैं; और जब प्रवृत्ति की भावना को रखते हुए पुरुष को साधनों के अर्जन की ओर सचेत करते हैं, तब 'अनुज्ञा-विधि' कहेजाते हैं ॥ ६३ ॥

अर्थवाद-वाक्य—क्रमप्राप्त अर्थवादवचनों के विषय में सूत्रकार बताता है—

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६४ ॥ (१२५)

[स्तुतिः] स्तुति-प्रशंसा, [निन्दा] निन्दा, [परकृतिः] अन्य के किये कार्य का विवरण देना, [पुराकल्पः] पुरानी घटना को बताना [इति] यह सब [अर्थवादः] अर्थवादवचन मानाजाता है।

ऐसे सब वाक्य-जो किसी कार्य की स्तुति या निन्दा करते हों, दूसरे के किये कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हों, एवं पुरानी घटनाओं का उल्लेख करते हों-'अर्थवाद' नाम से कहेजाते हैं।

स्तुति-अर्थवाद—जब किसी विधि-कर्मानुष्ठान से मिलनेवाले फलों की प्रशंसा कीजाती है, वह उस विधि की प्रशंसा है, स्तुति है। इससे उस विधि के अनुष्ठान के प्रति लोगों को विश्वास उत्पन्न होता है। फल के विषय में इस-प्रकार सुनने से व्यक्ति उस ओर श्रद्धान्वित होकर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्तिशील होजाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक कर्मविषयक स्तुतिवाक्य इसप्रकार पायेजाते हैं-'सर्वजिता[1] वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै, सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयति य एतेन यजते' इत्यादि। सब की प्राप्ति और सबके विजय के लिए देवों-विद्वानों ने 'सर्वजित्' नामक याग से यजन किया; और उन्होंने सबको जीतलिया। वह व्यक्ति सब-कुछ प्राप्त करलेता है, और सबको जीत लेता है, जो इस 'सर्वजित्' नामक याग से यजन करता है। ऐसे स्तुतिवाक्य व्यक्ति को कर्मानुष्ठान के प्रति श्रद्धान्वित कर प्रवृत्त करते हैं।

निन्दा-अर्थवाद—कर्म के अनिष्ट फलों का विवरण देनेवाले वाक्य निन्दा-वचन कहेजाते हैं। ये निन्दावाक्य उन निन्दनीय कर्मों को छोड़ देने की प्रवृत्ति को जगाते हैं। इससे अन्य अनुष्ठेय कर्मों में प्रवृत्ति जागृत होती है। इसप्रकार का वाक्य है-"स[2] एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेना-

---

१. तुलना करें, तां० १६ । ७ । २ ॥
२. तुलना करें, तां० १६ । १ । १ ॥

निष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतति, अयमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा" इत्यादि— यज्ञों में यह प्रथम यज्ञ है, जो ज्योतिष्टोम है; इससे यजन न कर जो अन्य याग से यजन करता है, वह पतित होजाता है, जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट होजाता है। सोमप्रधान यज्ञों में सबसे प्रथम ज्योतिष्टोम याग का अनुष्ठान करना चाहिये। जो इसकी उपेक्षा कर सबसे प्रथम अन्य याग का अनुष्ठान करता है, वह पतित होजाता है। यह सोमप्रधानयागों में सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम को छोड़कर अन्य याग के अनुष्ठान की निन्दा कीगई है, जिससे कोई ऐसा न करे।

परकृति-अर्थवाद—अन्य कर्त्ताओं के द्वारा अनुष्ठित परस्पर-विरुद्ध विधि का कथन करना 'परकृति' नामक अर्थवाद है। ऐसा वाक्य है—"हुत्वा[1] वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्; तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति अग्नेः[2] प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधति" इत्यादि—कतिपय होता हवन प्रारम्भ करके वपा का ही प्रथम अग्नि में सेचन करते हैं; परन्तु चरकशाखा के अध्वर्यु लोग दधिमिश्रित घृत [पृषदाज्यम्[3]] की ही प्रथम आहुति अग्नि में देते हैं। स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्तृक परस्पर-विरोधी दो विधियों का उल्लेख कियागया है; यह 'परकृति' नामक अर्थवाद कहाजाता है।

पुराकल्प-अर्थवाद—चौथा अर्थवाद 'पुराकल्प' है, जिसमें इतिहास के समान बीते हुए अर्थों का विवरण प्रस्तुत कियाजाता है। इस विषय का सन्दर्भ है—"तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन्—'योने यज्ञं प्रतनवामहे' इत्यादि।" इस कारण उक्त क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान[4]

---

१. तुलना करें, मा० श० ३। ८। २। २४॥

२. मूल ब्राह्मण में 'अग्नेः' पद नहीं है, तथा 'प्राणः' एकवचनान्त पाठ है।

३. पृषदाज्यमिति प्रोक्तं दधिसर्पिरिति द्वयम्। द्रष्टव्य, मा० श० ३। ८। ४। ७॥ का० श० ४। ८। ४। ४॥ 'पृषदाज्य' पद के अर्थ के लिए द्रष्टव्य है—मा० श० ३। ८। ४। ८॥

४. 'बहिष्पवमान' नामक स्तोत्र क्या है ? इस विषय में कात्यायन श्रौतसूत्र की भूमिका [लेखक :—वेदाचार्य विद्याधर शर्मा; ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी संस्करण; संवत् १९८७ विक्रमी] के ज्योतिष्टोम प्रकरण में दीगई टिप्पणी इसप्रकार है—

"ज्योतिष्टोमस्य प्रातःसवनानुष्ठाने 'उपास्मै गायता नरः' [ऋ० ९। ११। १॥ साम० ६५१; ७६३॥ यजु० ३३। ६२], "दविद्युतत्या" [ऋ० ९। ६४। २८॥ साम ६५४], "पवमानस्य ते" [ऋ० ९। ६१। ४॥ साम ७८७], इति त्रिषु सूक्तेषु गायत्रं साम गातव्यम्। तदिदं सूक्तत्रयगानसाध्यं स्तोत्रं बहिष्पवमानमित्युच्यते।"

नामक साम-स्तोत्र के द्वारा स्तुति की। यह इतिहास के समान प्रतीत होनेवाला बीते हुए अर्थ का विवरण है।

शंका—अर्थवाद में स्तुति और निन्दा की गणना करना तो युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि विधि के ग्राह्य व त्याज्य होने में वह प्रयोजक है। परकृति और पुराकल्प की गणना अर्थवाद में करना व्यर्थ है। वैसा विवरण विधि के विषय में कोई अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता।

समाधान—परकृति पुराकल्प की अर्थवाद में गणना करना युक्त है; क्योंकि किन्हीं स्तुतिवाक्यों अथवा निन्दावाक्यों के साथ इनका सम्बन्ध रहता है। विधि-सम्बन्धी किसी-न-किसी अर्थ को ऐसे सन्दर्भ अवश्य प्रकाशित करते हैं; अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों के अर्थवाद-वाक्यों में इनकी गणना उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

'अनुवाद' का स्वरूप—तीसरे प्रकार के ब्राह्मण-सन्दर्भ 'अनुवाद' कहे-जाते हैं। सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया—

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६५ ॥ (१२६)

[विधिविहितस्य] विधि-विहित अर्थ का [अनुवचनम्] पुनः कथन करना (किसी प्रयोजन से), [अनुवादः] अनुवाद (नामक विभाग है ब्राह्मण-ग्रन्थों का)।

विधिविहित पदार्थ का–विधान के अनन्तर किसी प्रयोजन से–कथन करना 'अनुवाद' है। जैसे– "दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"[1] इस वाक्य से दर्शयाग और पौर्णमासयाग का विधान कियागया है। इसके अनन्तर कहागया है–"एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी यद्दर्शपूर्णमासौ, य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते, ताभ्यामेव सुवर्गं लोकमनुपश्यति"[2] स्वर्ग की चाहनावाला व्यक्ति दर्श-पूर्णमास याग करे। इस विधि के अनन्तर उसकी विशेषता अभिव्यक्त करने के प्रयोजन से 'एते वै संवत्सरस्य' इत्यादि सन्दर्भ पूर्वोक्त का अनुवाद है।

"बहिष्पवमानं नाम स्तोत्रं गायन्त ऋत्विजो धावन्ति, यथा लोके पराजित्य पलायन्ते तद्वत्।"

ज्योतिष्टोम याग के प्रातःसवन-अनुष्ठान में ऋग्वेद आदि की गायत्री छन्द में पठित निर्धारित ऋचाओं से जो स्तुतिगान कियाजाता है, उसका नाम 'बहिष्पवमान' स्तोत्र है।

बहिष्पवमान स्तोत्र को गाते हुए ऋत्विज वेदि से बाहर की ओर इस तरह भागते हैं, जैसे लोक में पराजित होकर पुरुष भागा करते हैं। सम्भवतः वेदि से बाहर की ओर जाकर गाने के कारण इस स्तोत्र का नाम 'बहिष्पवमान' है।

१. तुलना करें, तै० सं० २।५।४।१॥ (स त्वे दर्शपूर्णमासौ यजेत)।
२. तै० सं० २।५।६।१॥

यह अनुवाद दो प्रकार का है। एक–विधिवाक्य को उन्हीं शब्दों द्वारा दुहरादेना। यह 'शब्दानुवाद' कहाजाता है। दूसरा–'अर्थानुवाद' है, जिसमें शब्दों को न दुहराकर विहित अर्थ का कथन होता है। लोक में जैसे पुनरुक्त दो प्रकार का होता है, ऐसे अनुवाद भी। 'अनित्यः अनित्यः' यह शब्दपुनरुक्त है; 'अनित्यः विनाशी' यह अर्थपुनरुक्त। ऐसे वैदिक साहित्य में अनुवाद दोनों प्रकार का है। शब्दानुवाद पूर्वोक्त सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। "दर्शपूर्णमासौ यजेत" यह विधि है। इस विधि को प्रयोजनवश शब्दों द्वारा "एते वै संवत्सरस्य···य एवं विद्वान्···' इत्यादि सन्दर्भ से दुहराया है। विहित अर्थ के पुनः कथन का उदाहरण इसप्रकार समझना चाहिए –'अग्निहोत्रं जुहोति' यह एक विधान किया। इस विहित अग्निहोत्र के दधि–साधन को बताने के लिए जब इसका पुनः कथन कियाजाता है–'दध्ना जुहोति' यह अर्थानुवाद अथवा विहितानुवाद है।

अनुवाद का प्रयोजन—विहित का अनुवाद क्यों कियाजाता है, इसके तीन मुख्य प्रयोजन होते हैं। १. विहित को लक्ष्यकर उसकी स्तुति का बताना; २. निन्दा बताना; ३. विधिशेष का कथन करना। स्तुति और निन्दा के उदाहरण पहले दिये जाचुके हैं–'सर्वजिता वै देवाः' 'स एष वाव प्रथमो यज्ञः' इत्यादि। विधिशेष का उदाहरण 'दध्ना जुहोति' विहितानुवाद के रूप में प्रथम दियागया है। सामान्य अग्निहोत्र का 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' विधान करके शेषविधि के रूप में उसके साधन-द्रव्य दधि के विधान के लिए यह है। साधन-द्रव्य के विना होम सम्भव नहीं, अतः यह दधि का विधान मुख्य अग्निहोत्र-विधि का शेष है।

इनके अतिरिक्त विहितानुवाद के अन्य प्रयोजन भी कल्पना कियेजासकते हैं। उनमें एक यह है, मुख्य विधि-निर्देश के अनन्तर उसमें अनुष्ठेय अवान्तर विधियों का कथन। अनन्तर आनेवाली प्रत्येक अवान्तर विधि के निर्देश के साथ विहितानुवाद होता रहता है। जैसे–सोमयाग विहित है–'सोमेन यजते' दर्श–पौर्णमास भी विहित है–'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत'। इनमें आनन्तर्य बताने के लिए इनका अनुवाद कियाजाता है–'दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इत्यादि। अन्य उदाहरण देखें–'तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति' यह सवनीय पुरोडाश का विहितानुवाद है, इसमें तरसत्व [–विशिष्ट वानस्पत्य रसमिश्रण] के नियम के लिए। सवनीय पुरोडाश 'तरस' विशिष्ट वनस्पतियों के रस से मिश्रित होने चाहिएँ; इस व्यवस्था के विधान के लिए यह विहितानुवाद है।

लोक में भी–विधि, अर्थवाद, अनुवाद–तीन प्रकार के वाक्यों का प्रयोग देखाजाता है–'ओदनं पचेत्, ग्रामं गच्छेत्' इत्यादि विधिवाक्य हैं। 'आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्, आयुर्वै घृतम्, आपोमयः प्राणः' इत्यादि अर्थवादवाक्य हैं। 'पचतु पचतु भवान्, लिखतु लिखतु भवान्' इत्यादि अनुवाद-वाक्य हैं; इनमें क्रियापद का अभ्यास है। यह कार्य में शीघ्रता करने, प्रोत्साहन

देने तथा अवधारण के लिए कियाजाता है। जैसे लौकिक वाक्यों में विविध प्रकार से अर्थग्रहण कराने के कारण प्रमाणता का निश्चय है; ऐसे ही वैदिक वाक्य-विभाग के साथ अर्थबोध कराने से प्रमाण हैं। इसप्रकार शब्द का प्रामाण्य सुनिश्चित होता है ॥ ६५ ॥

अनुवाद-पुनरुक्त एकसमान—शिष्य पुनः आशंका करता है—

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६६ ॥ (१२७)

[न] नहीं [अनुवादपुनरुक्तयोः] अनुवाद और पुनरुक्त में [विशेषः] भेद, [शब्दाभ्यासोपपत्तेः] शब्द का अभ्यास–पुनः कथन होने से (दोनों जगह—अनुवाद और पुनरुक्त में)।

अनुवाद और पुनरुक्त दोनों में शब्द का अभ्यास समान रहता है। अभ्यस्त शब्द का अर्थ भी उभयत्र जानाजाता है। तब यह कहना अयुक्त है कि अनुवाद संगत और पुनरुक्त असंगत होता है। दोनों का प्रकार समान होने से दोनों को युक्त मानाजाय; अथवा दोनों को अयुक्त मानाजाय ॥ ६६ ॥

अनुवाद-पुनरुक्त भिन्न हैं—आचार्य सूत्रकार आशंका का समाधान करता है—

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६७ ॥ (१२८)

[शीघ्रतरगमनोपदेशवत्] अतिशीघ्र जानेकेलिए उपदेश के समान [अभ्यासात्] अभ्यास–पुनः उच्चारणमात्र की समानता–से, अथवा अभ्यास से–पुनरुक्त से [न] नहीं है [अविशेषः] अभेद–समानता (अनुवाद का)।

अनुवाद–पुनरुक्त दोनों में केवल शब्द दुहराने की समानता से इन्हें अभिन्न समझना ठीक नहीं है। अथवा सूत्र में 'अभ्यास'-पद 'पुनरुक्त' के लिए प्रयुक्त हुआ है। तब सूत्रार्थ होगा–पुनरुक्त से अनुवाद का अभेद नहीं है। परन्तु इस अर्थ में हेतु अनिर्दिष्ट रहता है; अतः सूत्रार्थ का पहला प्रकार उपयुक्त है। अभ्यास से अर्थात् शब्द के पुनः उच्चारणमात्र की समानता से अनुवाद और पुनरुक्त का अभेद मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः सूत्र के हेतु-पद–'अभ्यासात्' का अर्थ 'सार्थक अभ्यास' समझना चाहिए। ऐसा भाव सूत्रगत उदाहरण से अभिव्यक्त होता है। अनुवाद और पुनरुक्त में अभेद इसीकारण नहीं है, क्योंकि अनुवाद में शब्द का अभ्यास सार्थक होता है, पुनरुक्त में निरर्थक। जाने में शीघ्रता करने के लिए 'शीघ्रं शीघ्रं गम्यताम्'–'जल्दी-जल्दी चलो' कहाजाता है। यहाँ 'चलना' क्रिया में अतिशय लाने के प्रयोजन से 'शीघ्र' पद का पुनः उच्चारण है, अतः यह अनुवाद है, पुनरुक्त नहीं। जहाँ शब्द का पुनः उच्चारण निरर्थक होगा, वह पुनरुक्त होगा।

लोक में अनेक प्रयोजनों से ऐसा व्यवहार बराबर होता रहता है। 'पचति-पचति' कहने से यह भाव प्रकट होता है कि वह निरन्तर पकाता रहता है; क्रिया में कोई व्यवधान नहीं आपाता। इसीप्रकार 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः' गाँव-गाँव रमणीय है; तात्पर्य है, प्रत्येक ग्राम रमणीय है; सर्वत्र ग्रामों में रमणीयता व्याप्त है। 'परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः'– त्रिगर्त देशों से परे वर्षा हुई है। त्रिगर्तदेशों को बिल्कुल बचागई है। यहाँ 'परि' पद का अभ्यास त्रिगर्त देशों के सर्वथा परिवर्जन को अभिव्यक्त करता है। त्रिगर्त में बूँद नहीं पड़ी, दूर-दूर बरसगया है। 'अध्यधि कुड्यं निषण्णम्'-दीवार के बिल्कुल पास रक्खा है। यहाँ 'अधि'-पद का अभ्यास सामीप्य[1] अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इसीप्रकार 'तिक्त तिक्तम्' यह प्रयोग वस्तु एवं व्यक्ति के प्रकार को अभिव्यक्त करता है। किसी पदार्थ के विषय में कहने पर तात्पर्य है–यह तीखा-ही-तीखा है, बहुत तीखा है। क्रोधी व असहनशील व्यक्ति के विषय में कहने पर उसके स्वभाव-प्रकार को बतलाता है। लोक में ऐसे व्यक्ति को प्रायः कहाजाता है–यह बड़ा कड़वा है। दो वार उच्चारण में–"तीखा ही तीखा है; कड़वा ही कड़वा है" ऐसे प्रयोग प्रायः होते रहते हैं। ऐसे प्रयोगों का–विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करना–प्रयोजन होने से इन्हें निरर्थक नहीं मानाजाता। अतः ये पुनरुक्त न होकर अनुवाद की कोटि में आते हैं। इसीप्रकार वैदिक सन्दर्भों में अनुवाद-वाक्य हैं, जो स्तुति, निन्दा, शेषविधियों में अधिकार व आनन्तर्य आदि प्रयोजनों को अभिव्यक्त करने के कारण सार्थक होने से प्रमाण हैं ॥ ६७ ॥

वेद-शब्दप्रामाण्य में अन्य साधन—शिष्य जिज्ञासा करता है, शब्द प्रमाण के प्रतिषेध के लिए उठाई गई आपत्तियों का पूर्ण समाधान करदियागया, क्या इसीकारण शब्द का प्रामाण्य स्वीकार करलेना चाहिये ? अथवा उसके लिए और भी कोई साधन हैं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया, और भी साधन हैं; सुनो—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यात् ॥ ६८ ॥ (१२६)

[मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्] मन्त्रप्रामाण्य, आयुर्वेदप्रामाण्य के समान [च] और [तत्प्रामाण्यम्] वेद का प्रामाण्य है, [आप्तप्रामाण्यात्] आप्तप्रामाण्य से।

किसी विषय का साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति आप्त होता है। शब्द-प्रमाण के लक्षण-सूत्र [१ । १ । ७] की व्याख्या में कहागया है कि आप्त का यह लक्षण ऋषि, आर्य, म्लेच्छ आदि मानवमात्र के लिए समान है। आप्तों का आप्त परमात्मा

१. यहाँ निर्दिष्ट प्रयोगों की साधुता के लिए द्रष्टव्य–अष्टाध्यायी, ८ । १ । ४–७ ॥

है, जो अनन्त विश्व का सार्वदिक साक्षात्कृतधर्मा है। ऐसे व्यक्ति का कहा हुआ शब्द प्रमाण होता है। इसीके अनुसार सूत्र में 'आप्तप्रामाण्यात्' हेतु दिया है। आप्तोक्त वाक्यों के प्रमाण मानेजाने के कारण समस्त ऐसा शब्द - प्रमाण है, जो आप्त द्वारा कथित है। सूत्र के 'तत्प्रामाण्यम्' पद में 'तत्' सर्वनाम से समस्त वेद का ग्रहण होता है। उक्त हेतु के आधार पर उसको सिद्ध करना अपेक्षित है। इसकेलिए सूत्र में दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं–'मन्त्रप्रामाण्यवत्' तथा 'आयुर्वेदप्रामाण्यवत्'।

'मन्त्रप्रामाण्य' पद का विवरण—पहले उदाहरण 'मन्त्रप्रामाण्यवत्' के 'मन्त्र' पद का अर्थ प्रायः जादू-टोना आदि के रूप में उच्चरित शब्द–कियाजाता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है–'मन्त्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभावः।' विष-(ज़हर)-रूप वज्र का प्रतिषेध (रोकना) जिनका प्रयोजन है, ऐसे 'मन्त्र'-पदों का प्रयोग करने पर वैसा प्रयोजन सिद्ध होजाता है; अर्थात् मन्त्रप्रयोग से विष का प्रभाव रुकजाता या दूर होजाता है।

'मन्त्र' पद की यह व्याख्या पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होती। जादू-टोने के रूप में स्यानों के द्वारा जो पद या वाक्य उच्चरित होते हैं, वे सर्वथा मनघड़न्त व पूर्णरूप से असंस्कृत होते हैं। फिर ऐसे प्रसंगों में निश्चितरूप से यह कहना कठिन है कि तात्कालिक कष्ट के दूर होने में उन पदों का साक्षात् प्रभाव होता है। वहाँ यह अधिक मान्य व संगत होसकता है कि प्रयोक्ता के मनोबल से प्रयोज्य पर मानसिक प्रभाव होकर तात्कालिक कष्ट दूर होजाता हो। विष के प्रसंग में तो जादू-टोने का प्रयोग असफल ही देखागया है। ऐसे जादू-टोने के मनघड़न्त ऊटपटाँग पदों के कल्पित तथाकथित प्रामाण्य के आधार पर वेद-शब्द के प्रामाण्य को सिद्ध करना उपहास्य प्रतीत होरहा है।

वात्स्यायन के पाठ में 'विष' पद के स्थान पर हमारी गुरुपरम्परा में 'विषय' पद बतायाजातारहा है। भाष्य के उपलब्ध पाठ की व्याख्या के कोई संकेत इस सूत्र के न्यायवार्त्तिक व तात्पर्यटीका आदि में उपलब्ध नहीं हैं।[1] इसके

---

१. इससे यह सन्देह कियाजासकता है कि कदाचित् यह पंक्ति भाष्य के मूल पाठ में न रही हो। कालान्तर में किसी विद्वान् ने अध्यापन के समय अपनी भावना के अनुसार सूत्र के 'मन्त्र' पद का यह अर्थ छात्रों की हस्तलिखित पुस्तकों के हाशिये [प्रान्त] पर लिखवादिया हो, जो सामयिक लोक-व्यवहार के अनुसार सुगम व उपयोगी समझा जाकर अनायास स्वीकार करलियागया; पूर्व-पुस्तकों से अन्य प्रतिलिपि होने पर मूल में अन्तर्निविष्ट करदियागया। इसमें यह भी एक उपोद्बलक सम्भव है–सूत्र में 'मन्त्र' पद प्रथम पठित है; परन्तु भाष्यकार ने व्याख्या आयुर्वेद के प्रामाण्य से प्रारम्भ की है, आगे उसीका विशद विवरण है।

साथ ऐसे संकेत इन व्याख्याग्रन्थों में उपलब्ध हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि 'मन्त्रप्रामाण्यवत्' का अर्थ–मन्त्र के एकदेश के प्रामाण्य के समान–ऐसा समझना चाहिये। 'मन्त्र' पद से तात्पर्य 'वेद' है। वेद के एकदेश के प्रामाण्य से समस्त वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। वेद का ऐसा एकदेश वह है, जो दृष्टफल है, अर्थात् जिसका फल इसी जन्म में प्राप्त होजाता है। उसके उदाहरण के लिए व्याख्याकारों ने–'ग्रामकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत' इत्यादि का उल्लेख किया है। ये वैदिक अनुष्ठान दृष्ट फलवाले हैं।

इस विचार के अनुसार वात्स्यायनभाष्य की उस पंक्ति का संगत अर्थ होजाता है, यदि वहाँ 'विष' पद के स्थान पर 'विषय' पाठ मानाजाता है। तब भाष्यपंक्ति होगी–'मन्त्रपदानां च विषयभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभावः, एतत् प्रामाण्यम्।' मन्त्रपदों के प्रयोग होने पर उनके प्रयोग के फल का वैसा ही होजाना, यह उनका प्रामाण्य है। उनका प्रयोग और उसका फल क्या है? उन मन्त्रपदों में जो अनुष्ठेय प्रतिपादित है, उसके अनुष्ठान पर वैसा फल मिलजाना। वह है-सांसारिक विषयभोगरूपी अशनि [वज्रप्रहार–बिजली गिरना जैसे महान् कष्ट] का प्रतीकार। अनेक मन्त्रपदों[1] में विवेक-वैराग्य, योगसमाधि आदि प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपदेश है; उसका प्रयोग-अनुष्ठान करने पर व्यक्ति निःसन्देह उस स्थिति को प्राप्त करलेता है। उस सफलता से उसका प्रामाण्य सिद्ध होजाता है। वेद के उतने भाग का प्रामाण्य सिद्ध होजाने पर उसीके अनुसार शेष के प्रामाण्य का अनुमान करलियाजाता है। यही स्थिति 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि की सफलता पर पुष्ट होती है। इनके प्रामाण्य से समस्त वेद का प्रामाण्य निश्चित होता है।

प्राचीन व्याख्याग्रन्थों में 'मन्त्रप्रामाण्य' की पृथक् स्वतन्त्र व्याख्या नहीं है। 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्' का विवरण इस रीति पर दियागया है, जैसे उन व्याख्याकारों ने इसको एक उदाहरण माना हो। उसके अनुसार प्रस्तुत पद की व्याख्या इसप्रकार होनी चाहिये–'मन्त्रगत आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान'। मन्त्र का तात्पर्य 'वेद' है; वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद-भाग है, उसके अनुसार कार्यानुष्ठान से अनुकूल फल की प्राप्ति होजाती है। इससे उतने वेदभाग का प्रामाण्य सिद्ध होने पर 'आप्तप्रामाण्य' हेतु को बल मिलता है; उसके आधार पर समस्त वेद का प्रामाण्य निश्चित होजाता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने सम्भवतः इसीकारण आयुर्वेद के प्रामाण्य से सूत्रार्थ का प्रारम्भ किया है।

आयुर्वेद में यह उपदेश कियागया है–ऐसा आचरण करके अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, और इन-इन बातों को छोड़कर अनिष्ट से बचाजासकता है।

---

१. देखें–ऋ० ५। ८१। १॥ यजु० ११। १-३॥

उन उपदेशों का यथायथ पालन करने पर वैसा फल प्राप्त होता है, यह उन उपदेशों की यथार्थता है; यही उनका प्रामाण्य है। इसमें 'आप्तप्रामाण्य' हेतु है। उसका उपदेष्टा आप्त है, यह उपदेश के प्रामाण्य में कारण है। आप्त के प्रामाण्य का आधार है–"साक्षात्कृतधर्मा होना, (१) प्राणियों के प्रति दयाभाव होना, (२) साक्षात्कार से जाने हुए वस्तु के यथार्थस्वरूप को प्रकट करने की इच्छा होना (३)।"

'आप्त'-पद-विवरण—आप्त वे व्यक्ति होते हैं, जिन्होंने उस विषय का साक्षात्कार किया होता है। यह छोड़ने योग्य है, क्योंकि यह हानि का हेतु है; यह प्राप्त करने योग्य है, इसकी प्राप्ति के साधन ये हैं; इसप्रकार सब प्राणियों पर जो दयाभाव रखते हैं। स्वयं साधारण प्राणी इन सचाइयों को नहीं जानपाते; उपदेश के अतिरिक्त और कोई साधन उनको तथ्य का ज्ञान कराने के लिए नहीं है; जब तक व्यक्ति किसी सचाई को जानता नहीं, तबतक उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति का होना सम्भव नहीं; विना प्रवृत्ति आदि के कल्याण की आशा रखना व्यर्थ होता है। अन्य कोई उपकारक इनका है नहीं; तब हमारा यह कर्त्तव्य है-हमने जैसा जाना है, और जो सचाई है, उसका उपदेश करें। साधारण जन उसको सुनकर सचाई को समझ सकेंगे; छोड़ने योग्य को छोड़ेंगे, तथा प्राप्त करने योग्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। इन भावनाओं से आप्त व्यक्तियों द्वारा यथार्थ का उपदेश कियाजाता है। ये तीन बातें हैं, जो आप्तों के प्रामाण्य का आधार हैं। उसके अनुसार कियागया अनुष्ठान अभीष्ट अर्थका साधक होता है; इसी आधार पर आप्त एवं आप्तोपदेश को प्रमाण मानाजाता है।

इस दृष्टफलवाले वेदैकदेश आयुर्वेद के प्रामाण्य से अदृष्ट फलवाले वेदभाग के प्रामाण्य का यथार्थ ज्ञान करलियाजाता है; क्योंकि आप्तप्रामाण्य-हेतु उभयत्र समान है। वेद का अन्य एक भाग–जो 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि अनुष्ठानों का मूल है, दृष्टफलवाला है; उससे भी शेष समस्त वेद के प्रामाण्य का बोध होजाता है। समस्त वेद का उपदेष्टा एकमात्र चेतन-तत्त्व परमात्मा है। जब उसके किसी एक भाग का प्रामाण्य निश्चित है; तब समस्त वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती।

लोक में बहुत व्यवहार तथ्य के उपदेश पर आश्रित रहता चला करता है। वहाँ पर भी पूर्वोक्त आप्तविषयक तीनों परिस्थितियों अथवा भावनाओं का होना आवश्यक रहता है, तभी वे उपदेश प्रमाण मानेजाते हैं। एकप्रकार से उनका मूल वेद को समझना चाहिये; क्योंकि आयुर्वेद तथा अन्य लौकिक शास्त्रों के प्रवक्ता वे ही ऋषि, मुनि, आचार्य होते हैं, जो वेदों के द्रष्टा हैं। इसप्रकार आयुर्वेदादि दृष्ट फलवाले शब्द-प्रामाण्य के समान वेद-शब्द का प्रामाण्य निर्बाध होजाता है।

आशङ्का— वेद-शब्दों का प्रामाण्य आप्तोक्त होने से बताया गया। वेद प्रमाण है, क्योंकि वह आप्त का उपदेश है। यह अनावश्यक है, वेद तो नित्य होने से प्रमाण मानाजासकता है।

समाधान—किसी शब्द का प्रामाण्य, उसके द्वारा उपयुक्त अर्थ का बोध कराने में निहित है। नियत अर्थ का वाचक होने से उस अर्थज्ञान में शब्द का प्रामाण्य है। शब्द के नित्य होने से उसका प्रामाण्य बताना असंगत है। यदि शब्द से अर्थ का बोध होने में उसका नित्य होना आधार हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध होजाना चाहिये। यह सर्वथा आपत्तिजनक है; ऐसा मानने पर समस्त शब्दार्थ-व्यवस्था अनुपपन्न होजायगी। इसलिए शब्द के प्रामाण्य का प्रयोजक शब्द का नित्य होना नहीं मानाजासकता।

आशङ्का—शब्द को अनित्य मानने पर शब्द की वाचकता-अर्थबोधकता सम्पन्न न होसकेगी; क्योंकि किसी पद का उच्चारण करने पर पदगत वर्णों का क्रमिक उच्चारण होता है; ऐसे क्रमिक उच्चरित पदों से वाक्य बनता है। ऐसी स्थिति में जो वर्ण या पद उच्चरित होगये वे नष्ट होगये, जो शेष हैं उनका उच्चारण अभी हुआ नहीं। अर्थबोधकता न उतने उच्चरित अंश में है, और न आगे उच्चारण कियेजानेवाले अंश में। इसप्रकार शब्द को अनित्य मानकर शब्द में अर्थबोधकता सम्पन्न न होपायेगी। क्योंकि अर्थबोधक पद या वाक्य उच्चारण के रूप में कभी संघटित नहीं होता; और वही अर्थ का बोधक होता है। शब्द के नित्य मानेजाने पर यह बाधा न होगी; क्योंकि तब शब्द के स्थायी होने से शब्द का संघटन सम्भव होगा, और वह अर्थ का बोध करा देगा। अतः वेद-शब्द का प्रामाण्य उसके नित्य होने से स्वीकार करना चाहिये।

समाधान—यदि वेद-शब्द नित्य होने से अर्थ के बोधक मानेजाते हैं, तो लौकिक शब्दों से अर्थ-बोध न होना चाहिये। परन्तु लौकिक शब्दों से उसीप्रकार अर्थ-बोध होता है, जिसप्रकार वैदिक शब्दों से। अतः शब्द से अर्थ-बोध होने में 'नित्यत्व' हेतु अनैकान्तिक है। लौकिक शब्द में नित्यत्व न होने पर उससे अर्थ-बोध होजाता है।

आशङ्का—लौकिक शब्दों को भी नित्य मान लेना चाहिये। तब हेतु अनैकान्तिक न होगा।

समाधान—यदि लौकिक शब्द नित्य होने से प्रमाण मानेजायें; तो अनाप्त व्यक्ति का उपदेश भी प्रमाण मानाजासकेगा, जो सर्वथा अनिष्ट एवं अवाञ्छनीय है।

आशङ्का—अनाप्त के उपदेश-शब्द को अनित्य मानलियाजायगा; इसलिए उसके प्रामाण्य की सम्भावना नहीं रहेगी।

समाधान—यह तो अपने घर की मनमानी होगई—किसी शब्द को नित्य मानो, किसीको अनित्य। अनाप्त का शब्द अनित्य है और आप्त का नित्य, इसमें क्या प्रमाण है? किसी हेतु से यह सिद्ध नहीं कियाजासकता कि अनाप्त का उपदेशरूप लौकिक शब्द अनित्य है, और आप्त का नित्य; जबकि शब्द की स्थिति में कभी किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए शब्द के प्रामाण्य का हेतु उसका नित्य होना नहीं है।

आशङ्का—तब शब्द के प्रामाण्य का हेतु क्या मानना चाहिये?

समाधान—प्रत्येक शब्द किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने में नियत है। इस नियम व व्यवस्था का मूल आधार ईश्वरेच्छा है। क्योंकि लोक में शब्दार्थ-व्यवस्था सर्वप्रथम वेदानुसार अवतरित हुई।[1] वेद ईश्वरोपदेश है, जो सर्वोच्च सर्वाङ्गपूर्ण महान् आप्त है। अनन्तर शब्दशास्त्र में निष्णात आभिधानिक आचार्यों द्वारा शब्दार्थव्यवस्था के लिए संकेत समयानुसार निर्धारित कियेजातेरहे हैं। यह क्रम आवश्यकतानुसार सदा चालू रहता है। इसमें बहुत बड़ी देन लोकव्यवहार की है। सर्वसाधारण जनता के द्वारा विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का कलेवर—यथाकाल यथापेक्ष परिवर्त्तित होते रहने पर भी—उतने समय की स्थायिता के अनुसार विशिष्ट अर्थ का बोध कराने में नियत रहता है। अर्थ और शब्द के वाच्य-वाचकभाव का यह नियम शब्दार्थव्यवस्था को सन्तुलित रखता है। इसलिए शब्द के प्रामाण्य में आप्तोपदेश निर्दोष हेतु है; शब्द का नित्य होना नहीं।

वेद का नित्यत्व, शब्द या ध्वनि के नित्यत्व पर आधारित नहीं है। प्रत्युत मन्वन्तर और युगान्तरों के अतीत और अनागत कालों में वेद का सम्प्रदाय, वेद का अभ्यास, वेद का प्रयोग निरन्तर रहता है; उसकी आनुपूर्वी में कोई व्यवच्छेद—विपर्यय—उलट-पलट नहीं होता। यही वेद का नित्यत्व है। आप्तप्रामाण्य से उसका प्रामाण्य है। लौकिक शब्दों में भी प्रामाण्य का वही आधार है ॥ ६८ ॥

इति गौतमीयन्यायदर्शनस्य विद्योदयभाष्यविभूषिते
द्वितीयेऽध्याये प्रथममाह्निकम्।

---

१. द्रष्टव्य मनुस्मृति [१।२१]—
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥
उस परमात्मा ने सर्गादि काल में सब पदार्थों के नाम उनके पृथक्-पृथक् कार्य तथा लौकिक व्यवस्थाओं को वेद शब्दों से ही एवं वेदशब्दानुसार बनाया।

अथ द्वितीयाऽध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रमाण-संख्या परीक्षा—प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों की परीक्षा गत आह्निक में कीगई। उद्देश सूत्र [१।१।३] में चार प्रमाणों का उल्लेख है। शिष्य आशंका करता है, प्रमाणों की चार संख्या मानाजाना यथार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐतिह्य आदि अन्य प्रमाण सुनेजाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्यों की आशंका को सूत्रित किया—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाऽभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥ (१३०)

[न] नहीं [चतुष्ट्वम्] चार होना (प्रमाणों का, क्योंकि इनके अतिरिक्त) [ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाऽभावप्रामाण्यात्] ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव के प्रमाण होने से।

प्रमाण आठ होने चाहियें—उद्देश-सूत्र में चार प्रमाणों का निर्देश ठीक नहीं है; क्योंकि उनसे अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव एवं अभाव, ये चार प्रमाण और हैं। तब प्रमाण आठ मानेजाने चाहियें। इनका निर्देश न कियाजाना उद्देश-सूत्र में न्यूनता है।

ऐतिह्य—ऐसे पुराने प्रवादों (-कथानकों) की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है, जिसके प्रथम प्रवक्ता का निर्देश कियाजाना शक्य नहीं होता। लोग ऐसा कहते चले आये हैं—इसीरूप में वे परम्परा प्रचलित रहती हैं।

अर्थापत्ति—वह प्रमाण है, जहाँ एक कथन से न कहा हुआ अर्थ प्राप्त होजाता है, अर्थात् जानलियाजाता है। किसी ने कहा—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते'—देवदत्त मोटा-ताज़ा तन्दुरुस्त है, पर दिन में खाना नहीं खाता। इस कथन से यह जानलियाजाता है कि जब देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता, और ठीक तन्दुरुस्त है, तो अवश्य रात में खालेता है। 'रात्रिभोजन' कहा नहीं गया; पर पहले कथन से इसका बोध होजाता है। बोध-ज्ञान-प्रमा का साधन प्रमाण है। तब अर्थापत्ति को प्रमाण मानना आवश्यक है। अर्थापत्ति के अनेक उदाहरण लोकव्यवहार में प्रयुक्त होतेरहते हैं। किसीने कहा—बादलों के न रहने पर वर्षा नहीं होती। इससे जानागया—बादलों के होने पर वर्षा होती है। आजकल तो आप ग़ाज़ियाबाद रहते हैं। इससे ज्ञात हुआ—कुछ समय पूर्व कहीं अन्यत्र रहते थे, इत्यादि।

सम्भव—वह प्रमाण है, जहाँ किसी ऐसे अर्थ का बोध हो, जिसके बिना अन्य अर्थ का सद्भाव सम्भव न हो। एक सेर भार के कहने पर उसमें पाव-

भर भार के अस्तित्व का बोध अवश्य होजाता है; क्योंकि पाव-भर भार के सद्भाव के विना सेर भार का सद्भाव सम्भव नहीं होता। धड़ी कहने से अथवा एक धड़ी भार के सद्भाव का ग्रहण होने से सेर भार की सत्ता का ग्रहण हो-जाता है[1]। इसप्रकार सम्भव से अर्थज्ञान होने के कारण उसे प्रमाणों में गिनना आवश्यक है।

अभाव—से विरोधी अर्थ का ज्ञान होजाता है। बादल गहरे उठे हैं, पर वर्षा नहीं होरही। वर्षा की अविद्यमानता—वर्षा का न होना अपने विरोधी अर्थ का ज्ञान करा देता है। पुरोवात [MONSOON = मॉनसून] वर्षा के बादलों को तैयार करता है, बादल गहरे होआते हैं। पर 'विधारक-वात' के प्रबल होने पर वर्षा नहीं होपाती। बादलों के साथ इस 'वात' का संयोग वर्षा का विरोधी होता है। बादलों के भारी होने पर भी यह पानी को नीचे नहीं गिरने देता। इसप्रकार अभाव अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिनाजाना चाहिए। फलतः प्रमाणों के उद्देश-सूत्र में जो केवल चार प्रमाणों का निर्देश है, वह अधूरा रहजाने से यथार्थ नहीं है ॥ १ ॥

प्रमाण केवल चार—आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान करते हुए कहा—यह ठीक है, ऐतिह्य आदि से किसी अर्थ का ज्ञान होने के कारण ये प्रमाण तो कहे जा सकते हैं, परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है। क्योंकि—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्था-न्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥ (१३१)

[शब्दे] शब्दप्रमाण में [ऐतिह्यानर्थान्तरभावात्] ऐतिह्य का अन्तर्भाव होने से [अनुमाने] अनुमान-प्रमाण में [अर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावात्] अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव का अन्तर्भाव होने से [च] और [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध (उद्देशसूत्रगत प्रमाणनिर्देशविषयक आशंका) ठीक नहीं है।

ऐतिह्य आदि का शब्द आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव—ऐतिह्य, शब्दप्रमाण से भिन्न नहीं है। शब्द का जो लक्षण कियागया है—'आप्तोपदेशः शब्दः'। ऐतिह्य आप्त का उपदेश है, यह असम्भावित नहीं है। इसमें केवल इतना अन्तर है—ऐतिह्य में प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता। परन्तु इतने से उसके आप्तोपदेश होने में कोई सन्देह की बात नहीं है। इसलिए ऐतिह्य को—शब्दरूप होने से—पृथक् नहीं पढ़ागया।

---

१. वात्स्यायन-भाष्य में भार का निर्देश करने के लिए द्रोण, आढक और प्रस्थ का उल्लेख किया है। इनमें प्रस्थ—एक सेर, आढक—धड़ी (पाँच सेर), तथा द्रोण—धौंन (दस सेर) समझना चाहिए।

अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अनुमान के लक्षण से बाहर नहीं जाते। अनुमान में यही विशेषता है, कि प्रत्यक्ष अर्थ से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है। अर्थापत्ति में इसीप्रकार एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उस विरोधी अर्थ का ज्ञान होजाता है, जो कहा नहीं गया है। बात यह कही गई कि 'बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती।' इससे अकथित विरोधी अर्थ का ज्ञान हुआ–'बादलों के रहने पर ही वर्षा होती है। इसमें पहला कथन हेतु और दूसरा अकथित अर्थ साध्य है। यही अनुमान का स्वरूप है।

यही स्थिति सम्भव में है। दो सम्बद्ध पदार्थों में जो एक-दूसरे के विना नहीं होसकता, वह अपनी स्थिति से दूसरे के अस्तित्व का बोध करादेता है। समुदाय [द्रोण] समुदायी [प्रस्थ] के विना नहीं होसकता। यदि समुदाय का ग्रहण होरहा है, तो वह समुदायी के अस्तित्व का बोधक होता है; क्योंकि समुदायी के विना समुदाय हो नहीं सकता।

ऐसा ही अभाव में है। बादल गहरे होरहे हैं, पर वर्षा नहीं होरही। वर्षा का-यह अभाव अपने विरोधी अर्थ के अस्तित्व का अनुमान कराता है। इसका प्रतिबन्धक विरोधी है–विधारक वायु का बादलों से संयोग। बादलों के रहने पर विधारक वायु बादलों से संयुक्त होकर वर्षा को नहीं होने देता। यहाँ वर्षा का अभाव अपने विरोधी प्रतिबन्धक के अस्तित्व का अनुमापक है। पुरोवात वर्षा लाता है, विधारकवात रोकता है। अभाव से ज्ञान होने का यह प्रकार अनुमान से भिन्न नहीं है। इसलिए ऐतिह्य आदि को प्रमाण भले कहाजाय; पर ये अतिरिक्त प्रमाण नहीं हैं। इन सबका शब्द एवं अनुमान में यथायथ अन्तर्भाव होजाता है। फलतः प्रमाणों के उद्देशसूत्र में प्रमाणविषयक निर्देश सर्वथा यथार्थ है ॥ २ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण नहीं—शिष्य आशंका करता है–ठीक है, ये प्रमाणान्तर न हों, पर अर्थापत्ति को जो प्रमाण की श्रेणी में रक्खाजाता है, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के आशय को सूत्रित किया—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥ (१३२)

[अर्थापत्तिः] अर्थापत्ति [अप्रमाणम्] प्रमाण नहीं है, [अनैकान्तिकत्वात्] अनैकान्तिक होने से।

अर्थापत्ति का उदाहरण दिया–बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती। यहाँ अर्थापत्ति से प्रमाणित हुआ–बादलों के रहने पर वर्षा होती है। यह कथन अनैकान्तिक–व्यभिचारी होने से दोषपूर्ण है; क्योंकि अनेक बार बादलों के रहने पर भी वर्षा नहीं होती। बादलों का होना-मात्र वर्षा होने के लिए आवश्यक नियम नहीं है। जैसे बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती, ऐसे अनेक

वार बादलों के होने पर भी वर्षा नहीं होती । अतः अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानाजाना चाहिए ॥ ३ ॥

अर्थापत्ति का प्रामाण्य—आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, तुमने अर्था-पत्ति के स्वरूप को ठीक समझा नहीं । सूत्रकार ने कहा—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥ (१३३)

[अनर्थापत्तौ] जो अर्थापत्ति नहीं है, उसमें [अर्थापत्त्यभिमानात्] अर्था-पत्ति के अभिमान से (अर्थापत्तिविषयक आशंका निर्मूल है)।

अर्थापत्ति का जो उदाहरण दिया- बादलों के न होनेपर वर्षा नहीं होती, इसका तात्पर्य यही है कि कारण के न होनेपर कार्य नहीं होता । यहाँ अर्थापत्ति से बोध होता है- कारण के होने पर ही कार्य उत्पन्न होता है । दूसरा उदाहरण है -मोटा-ताज़ा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता । यहाँ भी मोटा-ताज़ा रहना कार्य है, भोजन उसका कारण है । कारण के बिना कार्य नहीं होसकता; इस व्यवस्था के अनुसार भोजन के बिना मोटा-ताज़ापन नहीं रहसकता । जब दिवा-भोजन का निषेध कियागया, तो उसके विरोधी रात्रिभोजन का अर्थापत्ति से ज्ञान होजाता है । इसप्रकार किसी कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना सम्भव नहीं होती । कोई कार्य अपने कारण की सत्ता का व्यभिचार नहीं करसकता। यह तभी सम्भव है, जब बिना कारण के कार्य होजाता हो । पर ऐसा नहीं होता, अतः अर्थापत्ति में अनैकान्तिकता का दोष देना निराधार है ।

यह जो कहागया—कारण के रहते कभी-कभी कार्य नहीं होता, ऐसी स्थिति उसी समय आती है, जब कार्योत्पत्ति का कोई प्रतिबन्धक कारण वहाँ उपस्थित हो । यह तो कार्योत्पत्ति के पूरे कारणों का उपस्थित न होना है । प्रत्येक कार्य के कारणों में एक कारण -प्रतिबन्धकाभाव होता है । प्रतिबन्धक की उपस्थिति में प्रतिबन्धकाभाव कारण के न रहने पर कारणसामग्री में न्यूनता होजाने से वहाँ कार्य उत्पन्न नहीं होता । ऐसी दशा में कार्य न होना, कारण का धर्म है; कारणविषयक परिस्थिति है । यह अर्थापत्ति का विषय नहीं है; अतः अर्थापत्ति में इससे कोई दोष नहीं आता ।

यदि अर्थापत्ति का यह विषय नहीं है, तो अन्य क्या विषय है ? अरे भोले ! बताया तो सही, अर्थापत्ति का विषय है—कारण के होते हुए ही कार्य का उत्पन्न होना; यह कार्य का उत्पाद कारण के सद्भाव का कभी व्यभिचार नहीं करता । अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि कारण के बिना कार्य होजाय। यही अर्थापत्ति का विषय है । इससे स्पष्ट होजाता है—अर्थापत्ति के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण उक्त आशंका उभारी गई । अब अर्थापत्ति का स्वरूप स्पष्ट होजाने पर उक्त आशंका का कोई अवकाश नहीं रहता । कारण

की विद्यमानता में जहाँ कार्य नहीं होता, वहाँ प्रतिबन्धक का सद्भाव स्पष्ट दिखाई देता है। उसकी सत्ता से नकार नहीं कियाजासकता। वह कारणधर्म है, अर्थापत्ति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं ॥ ४ ॥

शिष्यों को सिखाने के लिए आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का प्रतिबन्दी[1] समाधान किया—

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥ (१३४)

[प्रतिषेधाप्रामाण्यम्] प्रतिषेध का अप्रामाण्य है [च] तथा, वैसे ही [अनैकान्तिकत्वात्] अनैकान्तिक होने से।

'अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, अनैकान्तिक होने से' यह प्रतिषेधवाक्य है। इस वाक्य से अर्थापत्ति के प्रामाण्य का प्रतिषेध कियागया; इससे अर्थापत्ति के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं हुआ। तात्पर्य है, इस प्रतिषेध का विषय अर्थापत्ति का सद्भाव नहीं है। फलतः अर्थापत्ति का अस्तित्व अक्षुण्ण बनारहा। अर्थापत्ति जब है, तो उसके प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं होता। फिर उसके प्रामाण्य का उपपादन गत सूत्र से करदियागया है। फलतः प्रतिषेध अपने लक्ष्य को पूरा न करने से अनैकान्तिक है, और इसीकारण वह अप्रमाण है। अप्रमाणभूत वाक्य से किसीका प्रतिषेध नहीं कियाजासकता ॥ ५ ॥

यदि आशंकावादी यह मानता है कि प्रत्येक वाक्य के अपने प्रतिपाद्य विषय नियत होते हैं; उसी विषय में व्यभिचार आदि दोष दिखाना वाक्य को दूषित कर सकता है। भिन्न विषय में दोष दिखाने से मूलवाक्य का कुछ नहीं बिगड़ता। प्रतिषेध-वाक्य का विषय अर्थापत्ति का प्रामाण्य है, उसका सद्भाव नहीं। सद्भाव को लक्ष्यकर उक्त वाक्य में दोष देना असंगत है। इस उट्टंकना पर सूत्रकार ने उसी रूप में उत्तर दिया—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥ (१३५)

[तत्प्रामाण्ये] प्रतिषेध-वाक्य के प्रामाण्य में [वा] अथवा, भी [न] नहीं, [अर्थापत्त्यप्रामाण्यम्] अर्थापत्ति का अप्रामाण्य।

यदि उक्त प्रतिषेध का—अपने विषय में व्यभिचार न होने से—प्रामाण्य स्वीकार कियाजाता है, तो अर्थापत्ति का भी अपने विषय में व्यभिचार न होने

---

१. **वादी के द्वारा किसी विषय में उठाई गई आपत्ति, अथवा प्रस्तुत प्रतिषेध का उसीके दियेगये तर्क के अनुसार उसका उत्तर देना प्रतिबन्दी उत्तर कहाजाता है। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा ही उत्तर है। आशंकावादी ने अनैकान्तिक हेतु से अर्थापत्ति के प्रामाण्य का प्रतिषेध किया। उसके उत्तर में उसी हेतु से उक्त प्रतिषेध का अप्रामाण्य बताया।**

से अप्रामाण्य सिद्ध नहीं कियाजासकता। अर्थापत्ति का विषय है—कार्योत्पत्ति द्वारा अपने कारणों की सत्ता को न छोड़ना। तात्पर्य है, कोई कार्य अपने कारणों के सद्भाव में उत्पन्न होसकता है। जहाँ कारणों के सद्भाव में कार्योत्पत्ति का न होना बताकर अर्थापत्ति के प्रामाण्य में दोष दियागया है, वह असंगत है। क्योंकि वहाँ कार्य की अनुत्पत्ति कारणों के सम्पूर्ण न होने से रहती है। मेघ आदि कारण तो उपस्थित हैं, परन्तु कार्य को न होनेदेनेवाले प्रतिबन्धक की उपस्थिति में प्रतिबन्धकाभाव कारण का अभाव रहता है। प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र में कारण मानाजाता है। उस दशा में कतिपय कारण—बादलों के रहने पर भी कुछ कारणों के न होने से वर्षा-कार्य नहीं होपाता। यह कारणों की न्यूनता कारण का धर्म है; अर्थापत्ति का विषय नहीं। यदि कारण के असद्भाव में कार्य उत्पन्न होजाय, तो अर्थापत्ति में अप्रामाण्य-दोष का आपादन कियाजासकता है। यह सम्भव न होने से अर्थापत्ति का प्रामाण्य अक्षुण्ण समझना चाहिये ॥ ३ ॥

अभाव का अप्रामाण्य—शिष्य आशंका करता है, अर्थापत्ति का प्रामाण्य समझ में आगया; परन्तु अभाव को प्रमाण कैसे स्वीकार कियागया? यह समझ नहीं आया। जो स्वतः अभाव है, वह प्रमाण कैसे होगा? शिष्य की भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥ (१३६)

[न] नहीं [अभावप्रामाण्यम्] अभाव का प्रामाण्य [प्रमेयासिद्धेः] उसके प्रमेय की सिद्धि न होने से।

अभाव का प्रामाण्य इसीकारण अस्वीकार्य है, क्योंकि उससे जानाजानेवाला कोई प्रमेय सिद्ध नहीं। जिसका ज्ञातव्य विषय नहीं, उसके ज्ञान-साधन का होना अनावश्यक व निराधार है। जहाँ भूतल आदि में घटादि का अभाव बतायाजाता है, वहाँ केवल भूतल आदि का ग्रहण होता है, और वह प्रत्यक्षादि का विषय है। ऐसी स्थिति में 'अभाव' नामक प्रमाण का मानना व्यर्थ है।

वस्तुस्थिति को देखाजाय, तो अभाव का बहुत-सा प्रमेय लोकसिद्ध है। यह केवल हठ व दुराग्रह से मानो कहागया है कि प्रमेय के न होने के कारण अभाव को प्रमाण न मानना चाहिये ॥ ७ ॥

अभाव-प्रमाण का प्रमेय—अभाव का बहुतेरा प्रमेय लोकसिद्ध होने पर सूत्रकार ने उसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां
तत्प्रमेयसिद्धिः ॥ ८ ॥ (१३७)

[लक्षितेषु] छींटवाले कपड़ों के बीच [अलक्षणलक्षितत्वात्] छींट के न होने के कारण पहचानेजाने से—[अलक्षितानाम्] विना छींट के कपड़ों के, [तत्प्रमेयसिद्धिः] अभाव का प्रमेय सिद्ध होता है।

छींटवाले कपड़ों के बीच–विना छींट के कपड़ों को–उनपर छींट के अभाव से पहचानेजाने के कारण अभाव के प्रमेय की सिद्धि होती है।

एक व्यक्ति को आदेश दियागया, बाजार जाकर विना छींट का कपड़ा ले आओ। दूकान पर उसके सामने छींट और विना छींट के सब तरह के कपड़े होते हैं। वह जिन कपड़ों में छींट का अभाव देखता है, उससे वह अपने उपादेय कपड़े को पहचान लेता है। लक्षण (छींट) के अभाव से अलक्षित वस्त्रों को पहचानाजाता है। लक्षणों का अभाव उस प्रमा (ज्ञान–पहचानना) का हेतु है। प्रमा का हेतु प्रमाण मानाजाता है। फलतः अभाव का प्रामाण्य स्पष्ट है।

अभाव के अस्तित्व की आशंका उठाकर स्वयं सूत्रकार ने समाधान किया—

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ६ ॥ (१३८)

[असति] न होने पर [अर्थे] अर्थ के–प्रतियोगी[1] के [न] नहीं होसकता [अभावः] अभाव; [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो) [न] नहीं (यह युक्त), [अन्यलक्षणोपपत्तेः] अन्यों (वस्त्रों) में लक्षण (प्रतियोगी) की विद्यमानता से।

जो वस्त्र लक्षण-(चिह्न-छींट)- रहित हैं, उनमें लक्षण का अस्तित्व कभी नहीं रहा। तात्पर्य है, वे लक्षण कभी अपने अस्तित्व में नहीं आये। तब उनके अभाव का कथन असंगत होगा; क्योंकि अभाव अपने प्रतियोगी के बिना नहीं होसकता; जब वस्तु का अस्तित्व होगा, तभी कहीं पर उसका अभाव कहाजा-सकता है। अप्रतियोगिक अभाव असम्भव है। इसलिए जिन वस्त्रों में लक्षण कभी नहीं हुए, उनमें लक्षणाभाव कैसे होगा? जो वस्तु उत्पन्न होकर कहीं नहीं रहती, उसका अभाव कहना ठीक है। पर लक्षणरहित वस्त्रों में ऐसा नहीं है कि वहाँ लक्षण उत्पन्न होकर फिर न रहे हों। अतः उनमें लक्षण का अभाव कहना अनुपपन्न है।

यह आशंका प्रागभाव को न समझने के कारण उठाई गई। उसका निर्देश सूत्रकार ने बारहवें सूत्र में किया है। प्रकारान्तर से सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया–यह ठीक है, जो लक्षणरहित वस्त्र हैं; उनमें लक्षण कभी नहीं हुए; परन्तु अन्य वस्त्रों में लक्षण विद्यमान हैं। वस्त्रों का ग्राहक जिनमें लक्षणों को देखता है, उनको छोड़देता है; जिनमें लक्षण नहीं देखता, उन्हें लेलेता है।

---

१. जिस वस्तु का अभाव कहाजाय, वह अभाव का 'प्रतियोगी', और जिसमें अभाव बतायाजाय, वह अभाव का 'अनुयोगी' कहाता है। जैसे–'भूतले घटाभावः' भूतल में घट का अभाव है। यहाँ अभाव का प्रतियोगी घट, और अनुयोगी भूतल हैं।

लक्षित वस्त्रों में दीखतेहुए लक्षणों का अलक्षित वस्त्रों में अभाव है। उस अभाव से वह उन वस्त्रों को आदेयरूप में जानलेता है। इससे अभाव-प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह समाधान अत्यन्ताभाव के आधार पर है। लक्षित वस्त्रों में जो लक्षण हैं, उनका सर्वथा-अत्यन्त अभाव अलक्षित वस्त्रों में रहता है॥ ९॥

अभाव विद्यमान का नहीं—अभाव की इस स्थिति को न समझता हुआ शिष्य पुनः आशंका करता है-जो लक्षण विद्यमान हैं, उनका अभाव कैसे मानाजासकता है? सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः॥ १०॥ (१३९)

[तत्सिद्धेः] लक्षणों की सिद्धि-विद्यमानता से (लक्षित वस्त्रों में), [अलक्षितेषु] लक्षणरहित वस्त्रों में (उनका अभाव है, यह कथन) [अहेतुः] हेतुरहित है।

लक्षित वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान हैं, उन लक्षणों का अलक्षित वस्त्रों में अभाव कहना असंगत है; क्योंकि विद्यमान का अभाव बताना परस्पर-विरुद्ध कथन है। ऐसे कथन में कोई हेतु न होने से यह अप्रमाण है॥ १०॥

विद्यमान का अन्यत्र अभाव संगत—यह आशंका अन्योऽन्याभाव को न समझने के कारण उठाई गई। उसके अनुसार सूत्रकार ने समाधान किया—

न लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः॥ ११॥ (१४०)

[न] नहीं (आशंका ठीक) [लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः] लक्षण जो अवस्थित हैं, उनकी अपेक्षा से (अन्यत्र अभाव की) सिद्धि-होने के कारण।

लक्षित वस्त्रों में लक्षण अवस्थित हैं। यह कोई नहीं कहता कि उनका-नाश-ध्वंस होजाने से-अभाव होगया। कहा यह जारहा है कि किन्हीं वस्त्रों में लक्षण अवस्थित हैं, किन्हीं में अवस्थित नहीं हैं। जिनमें अवस्थित हैं, उनकी अपेक्षा से अन्य वस्त्रों में लक्षणों का अभाव है। तात्पर्य है, लक्षित वस्त्रों से अलक्षित वस्त्र भिन्न हैं। जो लक्षित वस्त्र हैं, वे अलक्षित नहीं; जो अलक्षित हैं, वे लक्षित नहीं। अलक्षित वस्त्रों की चाहना रखता हुआ व्यक्ति लक्षित वस्त्रों से भिन्न वस्त्रों का आदान करलेता है; क्योंकि उसने लक्षित वस्त्रों की अपेक्षा से-अलक्षित वस्त्रों में लक्षणाभाव का ज्ञान करलिया है; उस अभाव-ज्ञान से वह उन अलक्षित वस्त्रों को पहचानगया है। इस पहचान का हेतु लक्षणाभाव होने से अभाव का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह समाधान लक्षित-अलक्षित वस्त्रों के परस्पर अन्योऽन्याभाव का आश्रय लेकर कियागया है॥ ११॥

प्रागभाव की उपपत्ति—अलक्षित वस्त्रों में लक्षण उत्पन्न नहीं कियेगये, यह उन वस्त्रों में लक्षणों का प्रागभाव है। इसी अभाव के कारण अलक्षित वस्त्रों की वस्तुगत्या पहचान होती है। सूत्रकार ने प्रागभाव की स्थिति को समझाया—

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ।। १२ ।। (१४१)

[प्राक्] पहले [उत्पत्तेः] उत्पत्ति से [अभावोपपत्तेः] अभाव की उपपत्ति–सिद्धि होने के कारण (पूर्वोक्त आशंका का अवकाश नहीं रहता)।

उत्पत्ति-विनाश के आधार पर अभाव दो प्रकार का मानागया है। किसी कार्य पदार्थ के उत्पन्न होने से पहले जो उसका अविद्यमान होना है, वह अभाव है। दूसरा अभाव वह है, जो उत्पन्न कार्य के कालान्तर में नष्ट होजाने से अविद्यमानता है। अलक्षित वस्त्रों में पहला अभाव रहता है, जिसको 'प्रागभाव' कहते हैं—प्राक्-अभाव; उत्पत्ति से पहले वस्तु का न होना। घट आदि किसी पदार्थ के टूट-फूट जाने, नष्ट होजाने पर जो उसका अभाव है, वह 'ध्वंसाभाव' अथवा 'प्रध्वंसाभाव' कहाजाता है। इसप्रकार अभाव के प्रमेय की लोक में कमी नहीं है। फलतः अभाव का प्रामाण्य मान्य होने पर भी वह अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानागया; क्योंकि वह अनुमान-प्रमाण के प्रकार में अन्तर्निविष्ट है ।। १२ ।।

शब्द-प्रमाण परीक्षा—यहाँ तक प्रमाणों की संख्या के विषय में परीक्षा करदीगई, प्रमाण चार स्वीकार कियेगये। अब शब्द-प्रमाण के प्रसंग से शब्द के नित्य-अनित्य होने का विचार प्रस्तुत कियाजाता है। इस शास्त्र का सिद्धान्त है-शब्द अनित्य है। सूत्रकार ने इस मान्यता के लिए हेतु प्रस्तुत किये—

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ।। १३ ।। (१४२)

[आदिमत्वात्] आदि-(उत्पत्ति)-वाला होने से [ऐन्द्रियकत्वात्] इन्द्रियसन्निकर्ष से ग्राह्य होने के कारण [कृतकवदुपचारात्] अनित्य के समान व्यवहार-प्रयोग होने से (शब्द अनित्य है) [च] तथा।

शब्द अनित्य है—उत्पत्तिवाला होने से, इन्द्रियसन्निकर्षग्राह्य होने से तथा अन्य अनित्य रूपादि के समान शब्द में अनित्य व्यवहार होने से शब्द को अनित्य मानना चाहिये। शब्द के अनित्य होने में सूत्रकार ने तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं। उनमें पहला है—

आदिमत्त्वात्—'आदि' पद का अर्थ है-योनि-कारण। 'आदि' आङ्-उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से निष्पन्न होता है–'आदीयते यस्मादिति आदिः'–जिससे कार्य का आदान कियाजाय, कार्य को जिससे लियाजाय, जहाँ से कार्य उत्पन्न हो। यह कारण-उपादान अथवा समवायी के अतिरिक्त असमवायी और निमित्त कारण भी होते हैं। ये कारण किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं; तभी इन्हें 'कारण' कहाजाता है। स्पष्ट है–उत्पन्न हुआ कार्य अनित्य होगा। इसका तात्पर्य होता है–शब्द अनित्य है, उत्पत्तिवाला अर्थात् उत्पत्तिधर्मक होने से, रूप आदि गुणों के समान।

यह हेतु असंदिग्धरूप से उस समय शब्द की अनित्यता को स्पष्ट करदेता है, जब यह देखाजाता है कि विभिन्न व्यक्तियों व प्राणियों द्वारा उच्चरित शब्दों का स्वरूप विभिन्न होता है। शब्द में वर्ण व आनुपूर्वी समान रहती है, पर ध्वनि में स्पष्ट भेद होता है। एक ही वर्ण व पद का विभिन्न व्यक्ति तथा शुक, सारिका (तोता, मैना) आदि के द्वारा उच्चारण करने पर सुननेवाले व्यक्ति को उच्चरित ध्वनि में स्पष्ट भेद गृहीत होता है। ध्वनि-भेद के आधार पर यह तथ्यरूप में कहाजासकता है कि यह चैत्र, मैत्र आदि कौन व्यक्ति बोल रहा है; अथवा तोता या मैना आदि में से कौन बोल रहा है। यदि शब्द उत्पत्तिधर्मक न होकर नित्य होता, तो उसका यह श्रूयमाण स्वरूपभेद न रहता। इससे शब्द का अनित्य होना स्पष्ट होता है।

इसे पूर्ण असन्दिग्ध नहीं कहाजासकता; यहाँ संशय का अवकाश है। शब्द के नित्य होने पर ध्वनिभेद शब्द के विभिन्न अभिव्यक्तिकारणों के आधार पर सम्भव है। जिनको शब्द की उत्पत्ति का कारण बतायाजाता है, वस्तुतः वे शब्द की अभिव्यक्ति के कारण हैं। शब्दध्वनि में स्वरूपभेद अभिव्यञ्जक की विभिन्नता से होता है। मुख तथा मुख से बाहर शब्दाभिव्यक्ति-साधनों के विभिन्न होने से--शब्द तीव्र है, मन्द है, अमुक द्वारा उच्चरित है, इत्यादि रूप में--ध्वनिभेद प्रतीत होता है; वस्तुतः शब्द नित्य व एकरूप है। इस संशय की निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने हेतु दिया---

ऐन्द्रियकत्वात्---ऐन्द्रियक होने से अर्थात् शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर, ग्रहण होने से शब्द का अनित्यत्व स्पष्ट होजाता है। इसे समझने के लिए यह विचारना अपेक्षित है-कुछ दूरी पर किन्हीं निमित्तों से शब्द होरहा है। दूर बैठा व्यक्ति उसे सुनरहा है। इस परिस्थिति पर विचारणीय है--क्या यह शब्द व्यञ्जक-निमित्त के उसी देश में होरहा है, जहाँ व्यञ्जक स्थित है? जैसे रूपादि की प्रतीति उसी प्रदेश में होती है, जहाँ रूप का व्यञ्जक प्रकाश व घटादि द्रव्य उपस्थित रहता है? अथवा संयोग आदि से उत्पन्न शब्द, आगे शब्दसन्तति द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होजाने पर गृहीत होता है?

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है, दोषपूर्ण है। पहला दोष यह है-यदि शब्द व्यञ्जक-निमित्त के प्रदेश में अभिव्यक्त होकर वहीं रहजाता है, तो दूरस्थित इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष सम्भव न होने के कारण शब्द का ग्रहण न होसकेगा। रूपादि के विषय में यह आपत्ति न होगी, क्योंकि रूप का ग्रहण करनेवाला चक्षु-इन्द्रिय अपनी रश्मियों के द्वारा व्यञ्जक-प्रदेशस्थित रूपादि से सन्निकृष्ट होकर उनके ग्रहणसाधन होने में सफल रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय में यह क्षमता न होने से व्यञ्जक-प्रदेश में उसका शब्द से सन्निकर्ष होना सम्भव नहीं।

तथा शब्द व्यञ्जक-प्रदेश में अभिव्यक्त होकर रहजाता है; ऐसी स्थिति में शब्द का ग्रहण न होसकेगा।

दूसरा दोष इसमें यह है—व्यंग्य पदार्थ उसी समय तक अभिव्यक्त रहता है, जबतक व्यञ्जक की विद्यमानता रहे। व्यञ्जक प्रकाश एवं घट आदि की विद्यमानता में रूप व्यंग्य का ग्रहण होता है; व्यञ्जक की अनुपस्थिति में यह बात नहीं देखीजाती। थोड़ी दूर पर कोई व्यक्ति कुल्हाड़े से लकड़ी काटरहा है; अथवा धोबी, कपड़े को पटड़े पर पटक-पछाड़कर धोरहा है। जब लकड़ी पर कुल्हाड़ा ज़ोर से चोट देता है, अथवा पटड़े पर कपड़ा पटकाजाता है, उस समय उनके संयोग से शब्द अभिव्यक्त होता है। उसका अभिव्यञ्जक है—लकड़ी-कुल्हाड़ा-संयोग, अथवा पटड़ा-कपड़ा-संयोग। व्यंग्य-व्यञ्जकभाव की व्यवस्था के अनुसार व्यञ्जककाल में व्यंग्य का प्रतीत होना सम्भव है, परन्तु यहाँ शब्द के व्यञ्जक-संयोग के न रहने पर भी शब्द का ग्रहण होता है। दूरस्थित व्यक्ति उस शब्द को उस समय सुनपाता है, जब कुल्हाड़ा व कपड़े को दुबारा चोट करने व पटकने के लिए उठालियाजाता है। ऐसी स्थिति में संयोग के न रहने पर शब्द का गृहीत होना यह प्रकट करता है कि संयोग शब्द का व्यञ्जक न मानाजाकर उत्पादक मानाजाना चाहिये।

संयोग को शब्द का उत्पादक मानने पर संयोगजन्य शब्द से अन्य शब्द उत्पन्न होता है, उससे अन्य; इसप्रकार शब्दसन्ततिद्वारा उसका श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर ग्रहण होता है। फलतः संयोग को शब्द का उत्पादक मानने पर शब्द के ग्रहण में कोई बाधा नहीं रहती।

शब्द को इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा गृहीत होने के कारण अनित्य बतायागया; परन्तु घटत्व, द्रव्यत्व आदि जाति का ग्रहण इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा होता है, और जाति को नित्य मानागया है। इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक होजाता है। तब सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

कृतकवदुपचारात्—कृतक-अनित्य पदार्थ के समान शब्द में व्यवहार होने से शब्द को अनित्य मानाजाता है। अनित्य सुख-दुःख आदि में तीव्र-मन्द होने का व्यवहार होता है—तीव्र सुख है, तीव्र दुःख है, मन्द सुख है, मन्द दुःख है, इत्यादि। ठीक ऐसा व्यवहार शब्द के विषय में होता है—तीव्र शब्द है, मन्द शब्द है, इत्यादि। इससे सुखादि के समान शब्द की अनित्यता स्पष्ट होती है।

शब्द को नित्य माननेवाला आशंका करता है—यह तीव्रता-मन्दता शब्द का धर्म नहीं है, शब्द तो नित्य एकसमान है, उसमें कभी कोई भेद नहीं होता। शब्द के अभिव्यञ्जक संयोग के तीव्र-मन्द होने से शब्दग्रहण में यह तीव्र-मन्दता प्रतीत होती है। जैसे रूप के व्यञ्जक प्रकाश की तीव्र-मन्दता से रूप के ग्रहण में तीव्र-मन्दता रहती है। प्रकाश अच्छा है, तो रूप अच्छा दीखता है; प्रकाश

धीमा है तो रूप धीमा दिखाई देता है। यह अच्छा या धीमा, दिखाई देने के साथ है, रूप के साथ नहीं; रूप तो वैसा ही रहता है। ऐसे ही शब्द में भेद न होकर व्यञ्जक के अनुसार शब्द के ज्ञान में भेद रहता है।

यह आशङ्का अनुभवविरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। यह अनुभवसिद्ध है, जब एक काल में तन्त्री [वीणा] और भेरी [नगाड़ा] दोनों को बजायाजाता है, तब भेरी का शब्द तन्त्री के शब्द को दबादेता है, उसको अभिभूत करदेता है। यह अभिभव एक शब्द से दूसरे शब्द का होता है। तीव्र शब्द, मन्द शब्द को दबाता है। यह व्यवहार शब्द की तीव्र-मन्दता को स्पष्ट करता है, शब्दज्ञान को नहीं। भेरीशब्द तन्त्रीशब्द का अभिभावक है; भेरीशब्द-ज्ञान अभिभावक नहीं है। ऐसी दशा में यदि शब्दगत भेद नहीं मानाजाता, तो अभिभव अनुपपन्न होगा। तीव्र भेरी-शब्द के साथ मन्द तन्त्रीशब्द भी सुनाई देना चाहिये। पर सुनाई न देने के कारण शब्द का भिन्न होना सिद्ध होता है। उस दशा में अभिभव संगत होजाता है। शब्दभेद तभी सिद्ध होसकता है, जब शब्द को अनित्य–उत्पत्तिवाला मानाजाता है।

यदि फिर भी शब्द को नित्य मानकर संयोग आदि निमित्तों से उसे अभिव्यक्त हुआ मानाजाता है, तो भी अभिभव अनुपपन्न होगा। क्योंकि व्यंग्य पदार्थ व्यञ्जक के प्रदेश को छोड़कर नहीं रहसकता। इसलिए व्यंग्य शब्द, व्यञ्जक-संयोग के समानदेश में अभिव्यक्त होगा। इस दशा में तन्त्रीशब्द भेरीशब्ददेश में तथा भेरीशब्द तन्त्रीशब्ददेश में पहुँचना असम्भव है। यह स्थिति भेरीशब्द से तन्त्रीशब्द के अभिभव को अनुपपन्न बनादेती है। उन शब्दों के परस्पर-प्राप्ति के बिना अभिभव हो नहीं सकता। शब्द को अभिव्यक्त हुआ मानकर प्राप्ति का होना सम्भव नहीं; क्योंकि उस दशा में शब्द अपने व्यञ्जक के देश को छोड़ नहीं सकता। अतः शब्द को उत्पन्न होनेवाला–अनित्य मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

यदि तन्त्रीशब्द को प्राप्त हुए बिना भेरीशब्द के द्वारा उसका अभिभव मानाजाता है; तो एक जगह भेरी बजने पर संसार में सर्वत्र तन्त्रीशब्द का अथवा उन सभी शब्दों का अभिभव होजाना चाहिये; जो भेरीशब्द की अपेक्षा मन्द हैं, क्योंकि अप्राप्ति सर्वत्र समान है। पर ऐसा होना कभी सम्भव नहीं। फलतः यह मानना सर्वथा निर्दोष है कि शब्द अपने निमित्त - संयोग आदि से उत्पन्न होकर शब्दसन्तति द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकृष्ट होनेपर तीव्र-शब्द मन्द-शब्द का अभिभव करदेता है।

समझना चाहिये, 'अभिभव' का तात्पर्य क्या है ? क्योंकि यदि भेरीशब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष हुआ है, तो उस समय भेरीशब्द सुनाई देगा। कोई इन्द्रिय एक काल में एक विषय का ग्रहण करसकता है। भेरीशब्दश्रवणकाल में

होजाता है; यह वस्तु का नाश होना अभाव की उत्पत्ति है। क्योंकि वह वस्तु फिर अपने अस्तित्व में कभी नहीं आती, इसलिये अभाव आगे सदा बना रहता है। इसे नित्य के समान कहसकते हैं, वास्तविक नित्य नहीं; क्योंकि इसमें—वास्तविक नित्य होने की एक शर्त—'उत्पन्न न होना', नहीं घटती। शब्द की जो स्थिति है, वैसा कोई कार्य नित्य नहीं देखाजाता। अनैकान्तिक-दोष हेतु में तभी संभव था, जब ठीक शब्द के समान किसी कार्य में हेतु को दिखाकर उसे नित्य मानाजाता। ऐसा कहीं संभव न होने से उक्त हेतु में व्यभिचार-दोष नहीं है ॥ १५ ॥

'ऐन्द्रियकत्व' हेतु अनैकान्तिक नहीं—नित्य सामान्य (जाति-घटत्व आदि) के इन्द्रियग्राह्य होने से 'ऐन्द्रियक' हेतु को जो अनैकान्तिक कहागया, सूत्रकार उसका समाधान करता है—

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १६ ॥ (१४५)

[सन्तानानुमानविशेषणात्] शब्दसन्तान के अनुमान की विशेषता से (शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है)।

गत सूत्रों से 'नित्येषु' और 'अव्यभिचारः' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। 'ऐन्द्रियक' पद का अर्थ केवल इन्द्रिय से ग्राह्य होना नहीं; प्रत्युत 'इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर गृहीत होना' है। निमित्त-संयोग के प्रदेश में शब्द होता है; पर वह श्रोत्रेन्द्रियप्रदेश में गृहीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के साथ—दूर देश में उत्पन्न हुए—शब्द का सन्निकर्ष होना इस बात का अनुमान कराता है कि शब्द सन्तानोत्पत्तिक्रम से श्रोत्र तक पहुँचा है। शब्द का निमित्त संयोग जहाँ होता है, शब्द वहाँ हुआ; उस शब्द से सब ओर सजातीय शब्द उत्पन्न हुआ, उससे फिर अन्य सजातीय शब्द हुआ। इसप्रकार शब्दसन्तानक्रम से शब्द श्रोत्र से सन्निकृष्ट होनेपर सुनाजाता है। यह श्रोत्रप्रत्यासत्ति से ग्राह्य होना शब्द के सन्ततिक्रम का अनुमान करादेता है। यह सन्ततिक्रम शब्द के अनित्य मानेजाने पर संभव है। इसलिये सामान्य नित्य में 'ऐन्द्रियक' हेतु अनैकान्तिक नहीं है। अनैकान्तिक तब होता, जब इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द को अनित्य कहाजाता। यहाँ तो इन्द्रियग्राह्यता शब्दसन्तति का अनुमान कराती है। उससे शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अनैकान्तिक नहीं 'कृतकवदुपचार' हेतु—अन्तिम हेतु में दियेगये अनैकान्तिक दोष का सूत्रकार परिहार करता है—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार[1] इति ॥ १७ ॥ (१४६)

---

१. 'इति' पद नहीं है, न्या० नि०।

[कारणद्रव्यस्य] कारण द्रव्य का [प्रदेशशब्देन] 'प्रदेश' इस शब्द के द्वारा [अभिधानात्] कथन होने से [नित्येषु] नित्य पदार्थों में [अपि] भी [अव्यभिचारः] व्यभिचार-दोष नहीं, [इति] बस (प्रसङ्ग समाप्त हुआ)।

"कम्बल का प्रदेश, वृक्ष का प्रदेश" इस लोकव्यवहार में 'प्रदेश'- पद उस पदार्थ के कारणद्रव्य का कथन करता है। किसी कार्य-द्रव्य के अवयव उसके कारण होते हैं, यह पद उस कार्यद्रव्य के किसी या किन्हीं अवयव-भाग-अंश का निर्देश करता है। परन्तु आकाश आदि द्रव्य कार्यद्रव्य नहीं हैं। उनके किसी कारणद्रव्य का होना संभव नहीं। आकाश के साथ 'प्रदेश'-पद का प्रयोग उस दशा में होता है, जब किसी परिच्छिन्न द्रव्य के साथ आकाश के संयोग का कथन कियाजाय। किन्हीं दो द्रव्यों का संयोग सदा अव्याप्यवृत्ति होता है। जो दो द्रव्य परस्पर संयुक्त होते हैं, वे एक-दूसरे के साथ सर्वांश में संयुक्त नहीं होपाते। उनका कुछ भाग परस्पर संयुक्त होता है। किसी एकदेशी द्रव्य के साथ आकाश का संयोग होने पर, जैसे अन्यत्र संयोग एकदेशी द्रव्य को व्याप्त नहीं करता, ऐसे ही यह आकाश का संयोग समस्त आकाश में व्याप्त नहीं रहता; इसी भावना से आकाश के साथ 'प्रदेश'-पद का प्रयोग कर दिया-जाता है। यह पद का मुख्य प्रयोग न होकर गौण प्रयोग है। कार्यद्रव्यों में 'प्रदेश'-पद का मुख्य अथवा प्रधान प्रयोग है। क्योंकि वहाँ वास्तविक रूप से कार्यद्रव्य के 'प्रदेश अर्थात् उसके कारणद्रव्य अवयव विद्यमान रहते हैं।

'शब्द'-आकाशगुण अव्याप्यवृत्ति—संयोग के समान आकाश का शब्दगुण भी अव्याप्यवृत्ति होता है। आकाश में एक जगह जो शब्द किन्हीं निमित्तों से उत्पन्न होता है, वह समस्त आकाश में व्याप्त नहीं रहता। जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ अपने निमित्तों की क्षमता के अनुसार जहाँतक संभव होता है, सजातीय शब्दों की उत्पत्तिपरम्परा चलती है, वहाँ तक वह शब्द सुनाई देता है। इससे स्पष्ट होजाता है—तीव्रता व मन्दता शब्द के धर्म हैं, जो शब्द की वैसी उत्पत्ति को प्रकट कर उसकी अनित्यता को सिद्ध करते हैं।

यद्यपि सूत्रकार ने ऐसा पूर्वपक्ष स्वयं स्थापित नहीं किया कि शब्द में तीव्रता-मन्दता औपचारिक धर्म हैं; और न उसके परिहार के लिये स्वयं उत्तरपक्ष की व्यवस्था की है कि इन कारणों से तीव्रता-मन्दता शब्द के अपने धर्म हैं। तथापि सूत्रकार द्वारा अकथित वास्तविक तथ्य का शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार निश्चय करलियाजाता है। ऐसा निश्चय करने के साधन प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं। दूरस्थित निमित्त से उत्पन्न शब्द का श्रोत्र से गृहीत होना, शब्द-सन्तान का अनुमान कराता है, यह बात गत पंक्तियों में कहीजाचुकी है। दूर रहने पर शब्द का सुनाजाना, और न सुनाजाना शब्द के तीव्र-मन्द

होने को प्रमाणित करता है। सूत्र में 'इति' पद इस प्रसंग की समाप्ति का द्योतक है ॥ १७ ॥

शब्द के अनित्यत्व में अन्य हेतु—सूत्रकार अन्य प्रकार से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करता है। प्रश्न है–कोई वस्तु है, या नहीं है, इसको कैसे जानना चाहिये ? उत्तर होगा–प्रमाण से जानना चाहिये। यदि ऐसा है, तो उच्चारण से पहले शब्द अविद्यमान रहता है; यह निश्चितरूप से कहाजासकता है। इसी वास्तविकता को सूत्रकार ने बताया—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १८ ॥ (१४७)

[प्राक्] पहले [उच्चारणात्] उच्चारण से [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होनेसे (शब्द की), [आवरणाद्यनुपलब्धेः] आवरण आदि के उपलब्ध न होने से [च] तथा; (शब्द का 'न होना' मानना चाहिये)।

उच्चारण से पहले शब्द का अस्तित्व नहीं है; यदि रहता, तो अवश्य उपलब्ध होता। यह कहना ठीक नहीं कि शब्द है तो सही, पर बीच में किसी आवरण–रुकावट के कारण सुनाई नहीं देरहा। श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के बीच में कोई व्यवधान आजाने से शब्द का सन्निकर्ष श्रोत्र के साथ नहीं होपाता, इसलिये विद्यमान शब्द सुनाई नहीं देता। इस बात को मानलियाजाता, यदि कोई ऐसा आवरण उपलब्ध होजाता, जिसने शब्द के इन्द्रियसन्निकृष्ट होने में बाधा डाली है। उच्चारण से पहले न शब्द है, और न उसकी अनुपलब्धि का कोई कारण आवरण आदि गृहीत होता है, जो विद्यमान शब्द को सुनाई देने से रोक दे। इससे स्पष्ट है, संयोग आदि निमित्तों से शब्द उत्पन्न होता है।

जब व्यक्ति कुछ बोलना या कहना चाहता है, तब आत्मप्रयत्न से प्रेरित आन्तर वायु मुख में पहुँचकर कण्ठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि स्थानों से टक्कर खाता हुआ विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति में कारण होता है। यह वायु का कण्ठ आदि स्थानों में प्रतिघात [टक्कर] एक संयोगविशेष है, जो वर्णों की उत्पत्ति में निमित्त होता है। इस बात का प्रथम विवेचन करदियागया है कि संयोग शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं है। इसलिये यह नहीं कहाजासकता कि शब्द तो उच्चारण से पहले विद्यमान है, पर अभिव्यञ्जक के न होने से सुनाई नहीं देता। इसलिये यही तथ्य है कि उच्चारण से पहले शब्द के सुनाई न देने में उसका अभाव कारण है। सीधी बात है, शब्द नहीं है, इसलिये सुनाई नहीं देता। फलतः उच्चारण के रूप में उत्पन्न हुआ शब्द सुनाई देता है; इससे अनुमान कियाजाता है, उच्चारण से पहले शब्द नहीं था, उच्चारण के रूप में उत्पन्न हुआ है। उच्चारण के अनन्तर जब सुनाई नहीं देता, तब नष्ट होजाता है। अपने अभाव के कारण ही सुनाई नहीं देता। इसलिये शब्द को उत्पत्ति-विनाश-शील होने के कारण अनित्य मानना युक्त है ॥ १८ ॥

शब्द के आवरण का विवेचन—इस सचाई को धूल से ढाँपने का विचार रखते हुए मानो वादी की भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ १९ ॥ (१४८)

[तदनुपलब्धेः] उस (आवरण की) अनुपलब्धि के [अनुपलम्भात्] उपलब्ध न होने से [आवरणोपपत्तिः] आवरण का होना उपपन्न (सिद्ध) होता है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम-पद आवरण का बोधक है। कहागया—विद्यमान शब्द के सुनाई न देने में कोई आवरण उपलब्ध नहीं होता, इसलिये उच्चारण से पूर्व शब्द को अविद्यमान मानना चाहिये। इसपर वादी कह उठा—आवरण की अनुपलब्धि भी तो कहीं दिखाई नहीं देती, तब आवरण की अनुपलब्धि के अभाव में आवरण का होना स्वीकार करना चाहिये। उसी कारण उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द सुनाई नहीं देता। तब शब्द की अनित्यता असिद्ध रह-जाती है, तथा शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है।

इस विषय में वादी से पूछना चाहिये—यह आपने कैसे जाना कि आवरणा-नुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती? वादी कहसकता है—इसमें ज्ञातव्य क्या है? प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है। यह सर्वजनप्रसिद्ध है कि शब्द के आवरण की अनुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती। इससे आवरण की उपलब्धि सिद्ध होजाती है, जो विद्यमान शब्द के सुनेजाने में बाधक है। इससे शब्द का नित्यत्व सिद्ध होजाता है।

वादी के इस कथन पर शब्द को अनित्य माननेवाले व्यक्ति का प्रतिबन्दी उत्तर सामने आता है—यदि यही बात है कि आवरणानुपलब्धि की अनुपलब्धि को प्रत्येक व्यक्ति जानता है, तो ठीक उसीके समान यह कहाजासकता है—आवरण को उपलब्ध न करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति आवरणानुपलब्धि को जानता है—मैं आवरण को उपलब्ध नहीं कररहा। जैसे भीत से ढके पदार्थों के इस भीत-आवरण को प्रत्येक व्यक्ति उपलब्ध करता है; इस आवरण की उपलब्धि के समान—यदि शब्द का कोई आवरण होता तो उसे अवश्य उपलब्ध कियाजाता; पर वह उपलब्ध नहीं होता, इसप्रकार—आवरणानुपलब्धि को प्रत्येक व्यक्ति जानता है। इसप्रकार वादी का प्रतिपाद्य विषय—आवरणानुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती, अतः आवरण सिद्ध है—जड़ से उखड़जाता है ॥ १९ ॥

यद्यपि गतसूत्र द्वारा 'अनुपलम्भ'-हेतु से आवरण की सिद्धि को शब्द-नित्यत्ववादी ने प्रकट करदिया है, फिर भी हठपूर्वक जातिप्रयोग द्वारा पुनः प्रस्तुत करता है। आचार्य सूत्रकार ने उसी भाव को सूत्रित किया—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणा-नुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २० ॥ (१४९)

[अनुपलम्भात्] उपलब्ध न होने से [अपि] भी [अनुपलब्धिसद्भाववत्] अनुपलब्धि के सद्भाव के समान [न] नहीं [आवरणानुपपत्तिः] आवरण की असिद्धि [अनुपलम्भात्] अनुपलम्भ से–उपलब्ध न होने से।

यदि उपलब्ध न होती हुई आवरणानुपलब्धि है, तो उपलब्ध न होते हुए आवरण का अस्तित्व भी मानना चाहिये। अनुपलब्धि-हेतु दोनों के लिए समान है। शब्दनित्यत्ववादी अनित्यत्ववादी से कहता है–यदि आप यह स्वीकार करते हैं, कि आवरणानुपलब्धि अनुपलब्ध होती हुई नहीं है-- यह स्वीकार करके फिर आपका कहना है कि आवरण नहीं है, अनुपलब्ध होने से। आपका ऐसा स्वीकृत कथन नियमपूर्वक व व्यवस्थित नहीं है। कारण यह है–यदि आवरणानुपलब्धि अनुपलब्धि के कारण नहीं है, तो आवरणोपलब्धि होने से आवरण का सद्भाव सिद्ध होजाता है। यदि आवरणानुपलब्धि–अनुपलभ्यमान होती हुई भी है, तो आवरणानुपलब्धि के समान अनुपलभ्यमान भी आवरण का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये। इसप्रकार आवरण के सिद्ध होने से विद्यमान शब्द उच्चारण से पूर्व सुनाई नहीं देता। फलतः शब्द नित्य है, अनित्य नहीं।

वादी के द्वारा यह अनुपलब्धिसम जाति का प्रयोग सूत्रकार ने बताया है। इसकेलिए सूत्र [५। १। २९-३१] द्रष्टव्य हैं॥ २०॥

गत दो सूत्रों द्वारा प्रदर्शित वाक्पाटव का सूत्रकार समाधान करता है—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः॥ २१॥ (१५०)

[अनुपलम्भात्मकत्वात्] अनुपलम्भ-स्वरूप होने से [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के, [अहेतुः] हेतुरहित है (पूर्वकथन)।

वादी ने अपने कथन के फलस्वरूप जो यह बताया कि आवरणानुपलब्धि और आवरणानुपपत्ति दोनों के न होने में समान हेतु है–अनुपलम्भ। इससे आवरण का अस्तित्व सिद्ध होजाता है; यह सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है। क्योंकि जो पदार्थ प्रमाणों से उपलब्ध होता है, उसका अस्तित्व स्वीकार कियाजाता है। जो प्रमाणों से उपलब्ध नहीं होता, उसे असत् अविद्यमान–अभावरूप समझना चाहिये। इसका तात्पर्य हुआ–जो अनुपलम्भात्मक है, उपलब्ध नहीं होरहा, वह असत् है। अनुपलम्भ अथवा अनुपलब्धि उपलब्धि का अभाव है; अभाव होने से उसकी भावरूप में उपलब्धि नहीं होसकती। परन्तु आवरण अभावरूप न होकर सद्रूप है, भावरूप है; उसकी उपलब्धि भावरूप में होनी चाहिये, यदि वह विद्यमान है। परन्तु उसकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए यह सर्वथा निश्चित है कि वह अविद्यमान है। इसप्रकार आवरण के असिद्ध होने पर यदि शब्द को नित्य मानकर उच्चारण से पूर्व विद्यमान कहाजाता है, तो वह अवश्य सुनाई देना चाहिये। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। फलतः उच्चारण शब्द का उत्पन्न

होना है, इसलिए अपनी उत्पत्ति (–उच्चारण) से पूर्व न होने के कारण शब्द सुनाई नहीं देता। यह स्थिति शब्द के अनित्य होने को सिद्ध करती है ॥ २१ ॥

शब्दनित्यत्व में हेतु—जो वादी शब्द को नित्य मानता है, पूछना चाहिये, वह किस हेतु से ऐसा स्वीकार करता है? वादी के द्वारा प्रस्तुत हेतु को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अस्पर्शत्वात् ॥ २२ ॥ (१५१)

[अस्पर्शत्वात्] स्पर्शरहित होने से (शब्द नित्य है)।

शब्द नित्य है; यहाँ शब्द-पक्ष में नित्यत्व साध्य है। इसकी सिद्धि के लिए हेतु दिया–'अस्पर्शत्वात्'–स्पर्शरहित होने से। जो स्पर्शरहित होता है, वह नित्य होता है। इसमें दृष्टान्त आकाश है। आकाश स्पर्शरहित है, और नित्य है। इसीप्रकार शब्द स्पर्शरहित है। शब्द गुण है, स्पर्श भी गुण है; गुण में गुण समवेत नहीं रहता, यह नियम है। इसलिए स्पर्शरहित होने से आकाश के समान शब्द नित्य है ॥ २२ ॥

शब्दनित्यत्व-हेतु का प्रत्याख्यान—सूत्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से उक्त हेतु में व्यभिचार-दोष प्रस्तुत करता है। पहले साध्यसाधर्म्य अर्थात् अन्वय के अनुसार हेतु को अनैकान्तिक बताया—

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २३ ॥ (१५२)

[न] नहीं (संगत उक्त हेतु) [कर्मानित्यत्वात्] कर्म के अनित्य होने से (अस्पर्श रहते हुए भी)।

हेतु का साध्य के साथ साधर्म्य के अनुसार उदाहरण है–'कर्म'। जैसे गुण में गुण समवेत नहीं रहता, वैसे कर्म में गुण समवेत नहीं रहता। फलतः उत्क्षेपण आदि प्रत्येक क्रिया (कर्म) का गुणरहित होना निश्चित है। स्पर्श गुण है, वह कर्म में न रहने से कर्म अस्पर्श–स्पर्शरहित है। यह 'अस्पर्शत्व'-हेतु–साध्याधिकरण के अतिरिक्त साध्याभाव (अनित्यत्व) के अधिकरण–कर्म में विद्यमान रहने से अनैकान्तिक है। अतः साध्य (शब्द के नित्यत्व) को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ २३ ॥

साध्यवैधर्म्य (व्यतिरेक) से सूत्रकार हेतु की अनैकान्तिकता बताता है—

नाणुनित्यत्वात् ॥ २४ ॥ (१५३)

[न] नहीं (संगत उक्त हेतु) [अणुनित्यत्वात्] अणुओं के नित्य होने से (स्पर्शवाला होते हुए भी)।

पृथिवी आदि के परमाणु स्पर्शगुणवाले होते हैं, स्पर्शरहित नहीं; फिर भी नित्य होते हैं। अस्पर्शत्व-हेतु से शब्द का नित्य सिद्ध होना सम्भव नहीं;

क्योंकि अस्पर्शत्वरहित (स्पर्शसमवेत) भी परमाणु नित्य होता है। 'जो नित्य है वह अस्पर्श है' इस अन्वयव्याप्ति की व्यतिरेकव्याप्ति इसप्रकार होगी–'जो अस्पर्श नहीं है, वह नित्य नहीं है' इस व्याप्ति का परमाणु में व्यभिचार है। परमाणु अस्पर्श नहीं है, पर नित्य है। फलतः शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक उभयव्याप्ति के अनुसार अनैकान्तिक होने से 'अस्पर्शत्व'-हेतु साध्य को सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है ॥ २४ ॥

शब्दनित्यत्व में अन्य हेतु—वादी के द्वारा प्रस्तुत इस विषय के अन्य एक हेतु को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सम्प्रदानात् ॥ २५ ॥ (१५४)

[सम्प्रदानात्] सम्प्रदान से (शब्द नित्य सिद्ध होता है)।

वादी कहता है, यदि शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए 'अस्पर्शत्व'-हेतु अनैकान्तिक है, तो यह अन्य हेतु है–'सम्प्रदानात्'। जो पदार्थ एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे को दियाजाता है, वह स्थिर होता है; कतिपय क्षणों में उसका नाश नहीं होता। शब्द आचार्य के द्वारा छात्र को दियाजाता है। आचार्य शब्दों का उच्चारण करता है, छात्र उसको ग्रहण करता है। अतः शब्द को स्थिर मानना चाहिये–'शब्दः नित्यः, सम्प्रदानात्, गवादिवत्'। जैसे गौ, घट, वस्त्र आदि पदार्थ सम्प्रदान का कर्म-विषय हैं, और स्थिर रहते हैं; दो या तीन, क्षण में नष्ट नहीं होजाते; इसीप्रकार शब्द सम्प्रदान का कर्म होने से स्थिर–नित्य मानना चाहिये ॥ २५ ॥

शब्दनित्यत्व में 'सम्प्रदान' हेतु दूषित—आचार्य सूत्रकार ने शब्द के नित्यत्व में उक्त हेतु का प्रतिषेध किया—

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २६ ॥ (१५५)

[तदन्तरालानुपलब्धेः—तद्-अन्तराल-अनुपलब्धेः] आचार्य और छात्र उन दोनों के मध्य में उपलब्ध न होने से (शब्द के) [अहेतुः] उक्त हेतु युक्त नहीं है।

जो पदार्थ किसी व्यक्ति के द्वारा दूसरे को सम्प्रदान कियाजाता है, वह देनेवाले और लेनेवाले दोनों के बीच बराबर देखाजाता है, प्रत्येक आँखवाला वहाँ उपस्थित व्यक्ति उसे उपलब्ध करता है। परन्तु आचार्य और छात्र के अन्तराल में शब्द विद्यमान रहता है, इसमें क्या प्रमाण है? वह कौन-सा हेतु है, जिससे आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द का–आचार्य और छात्र के अन्तराल में–स्थिर होना स्वीकार कियाजाय? स्थिर वस्तु के विषय में यह निश्चित बात है कि प्रदाता के द्वारा जो वस्तु दीजाती है, आदाता उसी वस्तु को ग्रहण करता है। यह स्थिति शब्द के विषय में मानने के लिए कोई हेतु नहीं है ॥ २६ ॥

'सम्प्रदान' का पोषक अध्यापन—वादी के द्वारा इस विषय में प्रस्तुत हेतु को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २७ ॥ (१५६)

[अध्यापनात्] अध्यापन से (अन्तराल में शब्द का विद्यमान होना स्पष्ट होता है, अतः) [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध करना असंगत है ('सम्प्रदान' हेतु का)।

आचार्य द्वारा उच्चरित शब्दों को कुछ दूर बैठा छात्र सुनता है, और उससे अभिमत अर्थ का ग्रहण करता है। यही 'अध्यापन' का स्वरूप है। यदि दोनों के अन्तराल में शब्द को विद्यमान न मानाजाय, तो अध्यापन असम्भव होगा। इसको झुठलाया नहीं जासकता। आचार्य के सन्मुख छात्रों की बड़ी संख्या आगे-पीछे दूरतक बैठी रहती है। आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द सबसे अन्तिम छात्र तक यथावत् सुनाई देता है। इससे आचार्य और छात्रों के मध्यगत अवकाश में शब्द की स्थिति निश्चित होती है। फलतः 'अध्यापन'-हेतु शब्द की स्थिरता को स्पष्ट करता हुआ शब्द की नित्यता को सिद्ध करता है। आचार्य और छात्र के अन्तराल में शब्द की अनुपलब्धि तो वहाँ कण्ठ-तालु आदि के साथ वायु के अभिघातरूप व्यञ्जक के न होने से है। यदि वहाँ शब्द का अभिव्यञ्जक रहेगा, तो शब्द अवश्य उपलब्ध होगा ॥ २७ ॥

'अध्यापन' शब्दसम्प्रदान का साधन नहीं—आचार्य सूत्रकार ने कहा—शब्द को नित्य अथवा अनित्य कैसा भी मानकर 'अध्यापन' दोनों अवस्थाओं में समानरूप से होसकता है। इसी भाव को सूत्रित किया—

उभयोःपक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २८ (१५७)

[उभयोः] दोनों [पक्षयोः] पक्षों में (अध्यापन के समानरूप से सम्भव होने के कारण) [अन्यतरस्य] दोनों पक्षों में से किसी एक का [अध्यापनात्] अध्यापन-हेतु से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होसकता।

शब्द को चाहे नित्य मानाजाय अथवा अनित्य, दोनों पक्षों में अध्यापन-कार्य सम्भव है। अनित्य पक्ष में आचार्य के मुख से उच्चरित शब्द सन्ततिक्रम द्वारा छात्र के श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है। आचार्य-छात्रों के अन्तराल में आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द स्थिर रहता हुआ, अर्थात् वही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है, ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत उच्चरित शब्द का सन्ततिक्रम से उत्पन्न होता हुआ सजातीय शब्द श्रोत्र तक पहुँचता है। इससे अर्थग्रहण में कोई बाधा नहीं आती; अध्यापन सम्पन्न होजाता है। अतः अध्यापन इन दोनों [शब्द का नित्यत्व-अनित्यत्व] पक्षों में से किसी एक का निश्चायक न होने के कारण संशय [नित्यानित्यविषयक] को निवृत्त नहीं करपाता।

'अध्यापन' का स्वरूप—इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि वस्तुतः 'अध्यापन' का स्वरूप क्या है ? क्या आचार्य के मुख से उच्चरित शब्द छात्र को साक्षात् प्राप्त होजाता है,—यह अध्यापन है ? अथवा जैसे गुरु नृत्य का उपदेश करता है-विशिष्ट अङ्गसंचालन क्रिया का अभिनय करता है, और छात्र उसको समझकर उस क्रिया का अनुकरण करता है,—यह अध्यापन है ? पहले पक्ष में आचार्यस्थित शब्द छात्र को प्राप्त होता है। दूसरे विकल्प में क्रिया के समान आचार्य—उच्चरित शब्द का—छात्र केवल—अनुकरण करता है। जैसे दोनों की नृत्यक्रिया भिन्न हैं, पर समानजातीय हैं। ऐसे गुरु से उच्चरित शब्दों का शिष्य द्वारा उच्चारण कियेजाने में साजात्य होने पर भी दोनों के शब्द भिन्न हैं। अङ्गचालन-क्रिया जैसे अनित्य है; चालन के अनन्तर नष्ट होजाती है; ऐसे उच्चारण के अनन्तर शब्द नष्ट होजाता है। शब्द का उच्चारण शब्द का उत्पन्न होना है। उत्पत्ति और विनाश होने से शब्द अनित्य है। फलतः 'अध्यापन' नित्य और अनित्य दोनों पक्षों में समान होने से 'सम्प्रदान' का साधक नहीं होसकता। अतः 'सम्प्रदान'-हेतु शब्द की नित्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ २८ ॥

'अभ्यास'-हेतु शब्दनित्यत्व में—शब्दनित्यत्ववादी ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया, सूत्रकार उसे सूत्रित करता है—

अभ्यासात् ॥ २९ ॥ (१५८)

[अभ्यासात्] अभ्यास से (शब्द को नित्य मानाजाना चाहिये)।

किसी कार्य को दुहराया-तिहरायाजाना, बार-बार करना 'अभ्यास' कहाजाता है। ऐसे अभ्यास का विषय स्थिर देखागया है। यदि वह स्थिर न हो, तो बार-बार होनेवाली क्रिया का वह विषय नहीं होसकता। जैसे कोई कहता है—मैंने इस रूप अथवा घटादि पदार्थ को पाँच बार देखा है; उसने दस वार देखा था। इस दर्शनक्रिया का विषय यदि स्थिर न हो, तो उसका अनेक वार देखाजाना सम्भव नहीं। यह देखने का अभ्यास दर्शन-विषय को स्थिर सिद्ध करता है। ऐसा अभ्यास शब्द के विषय में सर्वविदित है। छात्र आचार्य से कहता है—मैंने इस अनुवाक का दस वार अध्ययन या पाठ किया है; और मेरे उस साथी ने बीस वार। आये दिन शिक्षा-केन्द्रों में अध्यापक छात्रों से उन्हीं पाठों की अनेक वार आवृत्ति करवाते रहते हैं। ये अनुवाक और पाठ सब शब्दरूप हैं; इनका अभ्यास बराबर कियाजाता है। फलतः अभ्यास का विषय वही सम्भव है, जो स्थिर हो। शब्द अभ्यास का विषय होने से स्थिर [अक्षणिक-नित्य] मानाजाना चाहिये ॥ २९ ॥

'अभ्यास' शब्दनित्यत्व का साधक नहीं—गत हेतु के उत्तर के समान आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत हेतु के विषय में बताया—

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३० ॥ (१५९)

[न] नहीं (उक्त हेतु ठीक), [अन्यत्वे] अन्य-अस्थिर में [अपि] भी [अभ्यासस्य] अभ्यास का [उपचारात्] व्यवहार होने से ।

वादी ने कहा–अभ्यास स्थिर में देखाजाता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया–स्थिर से अन्य–अस्थिर में भी अभ्यास का व्यवहार देखाजाता है। तात्पर्य है, अभ्यास स्थिर में ही होता हो, ऐसा नहीं है; वह अस्थिर में भी सम्भव है। जैसे किसी क्रिया के स्थिर विषय के लिए अभ्यास का प्रयोग होता है, वैसे साक्षात् क्रिया के लिए अभ्यास का प्रयोग होता है, क्रिया के अनित्य व अस्थिर होने के विषय में किसीका विरोध नहीं है। क्रिया सर्वसम्मति से अस्थिर है; पर उसके लिए अभ्यास का प्रयोग होता है। दो बार नाचता है, तीन बार नाचता है; दो बार हवन करता है; अथवा दो बार खाता है; इन व्यवहारों में नाचना–हवन करना–खाना आदि सब क्रिया हैं; इनके लिए दो बार, चार बार, दस बार, आदि अभ्यास का प्रयोग लोकसिद्ध तथ्य है। फलतः स्थिर और अस्थिर दोनों में अभ्यास-व्यवहार समान है। दोनों में से किसी एक का निश्चायक न होने से यह अभ्यास हेतु संशय को निवृत्त नहीं करता कि अभ्यास स्थिर में होता है या अस्थिर में ? अतः यह शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ ३० ॥

अनैकान्तिक दोष से उक्त हेतु के प्रतिषिद्ध होजाने पर शब्दनित्यत्ववादी झल्लाकर 'अन्य' शब्द पर टूट पड़ता है, और उसीका प्रतिषेध करने लगता है। सूत्रकार ने उसके भाव को सूत्रित किया—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥ ३१ ॥ (१६०)

[अन्यत्] अन्य [अन्यस्मात्] अन्य से [अनन्यत्वात्] अनन्य होने के कारण [अनन्यत्] अनन्य है, [इति] इस कारण [अन्यताऽभावः] अन्य होने का अभाव है।

शब्द–अनित्यत्ववादी ने कहा–शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत 'अभ्यास' हेतु का स्थिर वस्तु से अन्य अस्थिर में भी व्यवहार देखाजाता है, अतः 'अभ्यास' हेतु ऐकान्तिकरूप से शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं करता। इस कथन में 'अन्य' शब्द के प्रयोग को लक्ष्यकर शब्दनित्यत्ववादी का कहना है कि 'अन्य' कोई नहीं; क्योंकि 'अन्य' स्वयं अपनी अपेक्षा से 'अनन्य' होता है। 'अन्य' अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, इसप्रकार 'अन्य' अपने से अन्य न होने के कारण 'अनन्य' है। जब 'अन्य' कोई अस्तित्व नहीं रखता, तो यह कहना असंगत है कि अन्य में 'अभ्यास' का व्यवहार होता है।

यही बात शब्द के विषय में देखनी चाहिये, शब्द स्वरूप से भिन्न न होने के कारण अभेदरूप है। तब विभिन्न काल में तथा विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित शब्द के अभिन्न होने के कारण उसका 'स्थिर होना' सिद्ध होता है। शब्द की यह स्थिति शब्द के नित्य होने में साधक है ॥ ३१ ॥

वादी ने 'अन्य' पद के प्रयोग का प्रतिषेध कर 'अनन्य' की स्थापना की। आचार्य सूत्रकार कहता है—यदि 'अन्य' का प्रतिषेध करते हो, तो 'अनन्य' का स्वतः प्रतिषेध होजाता है। सूत्रकार ने बताया—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३२ ॥ (१६१)

[तदभावे] अन्य के अभाव में [न] नहीं [अस्ति] सम्भव है [अनन्यता] अनन्य का होना, [तयोः] उन दोनों (अन्य और अनन्य) में [इतरेतरापेक्ष-सिद्धेः] इतर (—एक अनन्य) के इतर (—दूसरे—अन्य) की अपेक्षा से सिद्धि होने के कारण।

'अन्यदन्यस्मात्' इन गत सूत्र के पदों द्वारा वादी ने स्वयं 'अन्य' का उपपादन करदिया है; फिर भी वह 'अन्य' का प्रत्याख्यान करता है, तथा 'अनन्य' पद के प्रयोग को स्वीकार करता है। स्पष्ट है, कि 'अनन्य' समासयुक्त पद है। 'नञ्' के साथ 'अन्य' पद का समास हुआ है—'न अन्यः—अनन्यः'। यदि इन दो [न—अन्यः] पदों में उत्तरपद 'अन्य' नहीं है, तो नञ् का समास किसके साथ होता है? इसका कोई उत्तर नहीं है। फलतः 'अन्य' पद के प्रयोग और उसके अर्थ की उपेक्षा नहीं कीजासकती; क्योंकि 'अनन्य' पद 'अन्य' की अपेक्षा से सिद्ध होसकता है। इसलिए 'अन्य' के व्यवस्थित रहने पर—स्थिर से अन्य अर्थात् अस्थिर में 'अभ्यास' हेतु के देखेजाने से हेतु की अनैकान्तिकता स्पष्ट होजाती है, जिससे उक्त हेतु शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने में असमर्थ रहता है ॥ ३२ ॥

शब्दनित्यत्व में हेतु-'विनाशकारणानुपलब्धि'—ऐसी स्थिति में शब्द-नित्यत्ववादी अन्य हेतु प्रस्तुत करता है। सूत्रकार ने हेतु को सूत्रित किया—

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३३ ॥ (१६२)

[विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाश के कारण उपलब्ध न होने से (शब्द को अविनाशी—नित्य मानना चाहिये)।

किसी अनित्य पदार्थ का विनाश उसके कारणों से होता है। घट-पट आदि अनित्य द्रव्यों का विनाश—उनके कारण द्रव्यों का विभाग होजाने पर—होजाता है। यदि शब्द अनित्य है, तो उसका विनाश जिन कारणों से होता है,

वे कारण उपलब्ध होने चाहियें; परन्तु ऐसा कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः शब्द को नित्य मानना उपयुक्त है ॥ ३३ ॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का उसी रीति पर उत्तर दिया—

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३४ ॥ (१६३)

[अश्रवणकारणानुपलब्धेः] न सुनने के कारणों की अनुपलब्धि से शब्द का [सततश्रवणप्रसङ्गः] निरन्तर सुनाजाना प्राप्त होना चाहिये।

यदि कहाजाता है-शब्द के विनाश-कारणों की उपलब्धि न होने से शब्द अविनाशी-नित्य है, तो शब्द के न सुनेजाने के कारणों की उपलब्धि न होने से शब्द निरन्तर सुनाजाना चाहिये।

यदि कहाजाय-व्यञ्जक के न होने से शब्द सुनाई नहीं देरहा। जैसे ही व्यञ्जक उपस्थित होता है, शब्द सुनाई देनेलगता है। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम इस बात का सप्रमाण प्रतिषेध कियाजाचुका है कि अभिघात आदि संयोग शब्द के अभिव्यञ्जक नहीं हैं। यदि विद्यमान शब्द का अश्रवण विना निमित्त के मानाजाता है, तो विद्यमान शब्द का विनाश भी विना निमित्त क्यों न मानाजाय? विना निमित्त के कोई कार्य होताहुआ देखा नहीं जाता; यह कथन शब्द के विनाश और अश्रवण दोनों में समान है। इस निराधार कथन के लिए कोई एक पक्ष दूसरे पर आपत्ति नहीं करसकता ॥ ३४ ॥

'विनाशकारणानुपलब्धि' हेतु शब्दनित्यत्व का असाधक—अपने प्रतिबन्दी उत्तर से असन्तुष्ट सूत्रकार 'विनाशकारणानुपलब्धेः' हेतु का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है—

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३५ ॥ (१६४)

[उपलभ्यमाने] उपलब्ध होजाने पर (शब्दविनाशकारण के) [च] तथा [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के (शब्दविनाशकारण की) [असत्त्वात्] न रहने से [अनपदेशः] उक्त-हेतु-कथन (विनाशकारणानुपलब्धेः) असंगत है।

शब्द की उत्पत्ति का कारण अभिघात आदि संयोग है। उत्पत्तिकारण संयोग का नाश होजाना शब्द के विनाश का कारण है। यह प्रतिपादित कियाजाचुका है कि संयोग शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं है, प्रत्युत उत्पादक है। क्योंकि व्यञ्जक की अनुपस्थिति में व्यंग्य का ग्रहण नहीं होता; परन्तु शब्द के उत्पादक संयोग के न रहने पर भी शब्द का ग्रहण होजाता है। यह स्थिति इस तथ्य का अनुमान कराती है कि शब्द के कारण-संयोग के न रहने पर शब्द के ग्रहण होने या सुनेजाने का आधार 'शब्दसन्तान' है। संयोग या विभाग किसी भी निमित्त से उत्पन्न होकर शब्द आगे अपने सजातीय अन्य शब्द को

उत्पन्न करता है, वह आगे अन्य शब्द को। इसीप्रकार पहले शब्द से अगला सजातीय शब्द उत्पन्न होता चलाजाता है।

यह शब्दसन्तान तबतक चालू रहता है, जबतक शब्दसन्तान का निरोध करनेवाली कोई बाधा सामने न आजाय। बाधा न आने पर भी शब्दोत्पत्ति के इस क्रम का अन्त, आद्य शब्द के उत्पादक संयोग आदि की क्षमता पर निर्भर रहता है। जितनी अधिक तीव्रता से अभिघातरूप संयोग होकर शब्द की उत्पत्ति होगी, उसके अनुसार शब्दसन्तति का क्रम समीप या दूरतक चलताजायगा। क्षमता समाप्त होने पर अन्तिम शब्द आपस में टकराकर नष्ट होजायेंगे।

शब्दसन्तति का क्रम बाधा आजाने पर अवरुद्ध होजाता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। दो व्यक्तियों के परस्पर वार्त्तालाप करने पर अथवा एक व्यक्ति के द्वारा कुछ कथन कियेजाने पर जिस दिशा में खुला वातावरण रहता है—कोई दीवार आदि की बाधा नहीं रहती, उस ओर शब्द दूरतक सुनाई देता रहता है; जिस ओर बाधा हो, उसे लाँघकर या पार कर शब्द दूसरी ओर सुनाई नहीं देता। इससे स्पष्ट होता है—शब्दसन्तति का क्रम बाधा आजाने पर रुद्ध व नष्ट होजाता है।

कभी-कभी शब्दसन्तति का प्रत्यक्ष से अनुभव होता है। घण्टा बजायेजाने पर अतिसमीप, समीप, दूर, अधिकदूर स्थित व्यक्तियों के द्वारा शब्द तारतर, तार, मन्द, मन्दतर आदि विभिन्न रूपों में सुनाई देता है। यह शब्दभेद शब्द-सन्तान को सिद्ध करता है। अन्यथा शब्द के नित्य व एक होने पर वह सबको समानरूप में सुनाई देना चाहिये। उस दशा में शब्द के तार मन्द आदि भेदों का होना सम्भव नहीं है। शब्दभेद से शब्दसन्तति का होना सिद्ध होता है, उससे शब्द का विनाशी होना निश्चित है। ऐसी दशा में शब्द के विनाशकारणों को अनुपलब्ध बताना असंगत है।

यदि फिर भी शब्द को नित्य मानाजाता है, तो उसके तार, तारतर, मन्द, मन्दतर आदि भेदों की अभिव्यक्ति के कारण बताने चाहियें। क्या वे कारण घण्टा में अवस्थित रहते हैं? अथवा अन्यत्र श्रोत्र आदि में? जहाँ से शब्द होरहा है, या जहाँ सुनाई देरहा है, वहीं शब्दभेद के कारणों की सम्भावना होसकती है। फिर इसका भी समाधान होना चाहिये कि वह कारण अवस्थित है? अर्थात् एकरूप में विद्यमान रहता है? अथवा सन्तानवृत्ति है? अर्थात् सन्तान के समान-भिन्नरूप में सुनाई देनेवाले शब्द के समान अनवस्थित है? फिर यह भी विचारणीय है कि वह तार, मन्द आदि शब्द का अभिव्यञ्जक कारण अवस्थित मानेजाने पर नित्य है? अथवा शब्दसन्तान के समान वह व्यञ्जक भी तार, मन्द आदि रूप में उपस्थित होता है? शब्दभेद प्रत्यक्ष से गृहीत होता है, उसका अपलाप नहीं कियाजासकता। शब्दनित्यत्ववादी के द्वारा

उक्त परिस्थितियों में शब्द की नित्यता व एकता को मानकर तार-मन्द आदिरूप में श्रुतिभेद का उपपादन करना सम्भव नहीं है।

शब्द को अनित्य एवं उत्पन्न होनेवाला मानने पर श्रुतिभेद का समाधान अनायास मिलजाता है। शब्द की उत्पत्ति के लिए घण्टा में मुग्दर आदि अन्य निमित्त का अभिघात तीव्र या मन्द जैसा होगा, उसके अनुसार घण्टा में शब्दोत्पत्ति के साथ वेगाख्य संस्कार उत्पन्न होजाता है। वेग-सन्तान के अनुरूप शब्दसन्तान होने से तार-मन्द आदि शब्दभेद उपपन्न होजाता है। वेग का आश्रय वहाँ स्थानीय वातावरण को समझना चाहिये। शब्दोत्पत्ति में यह निमित्तकारण रहता है। वेग की पटुता-तीव्रता शब्द के तार-मन्द श्रुतिभेद में निमित्त है। अतः शब्द को अनित्य मानना निर्दोष है ॥ ३५ ॥

शब्दसन्तान में 'वेग' संस्कार निमित्त--शिष्य जिज्ञासा करता है, वेगाख्य संस्कार की पटुता-मन्दता से शब्द तार या मन्द सुनाई देता है; परन्तु निमित्त के विना संस्कार आ कहाँ से जायगा? वहाँ संस्कार की उपलब्धि–विद्यमानता को स्पष्ट करना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ ३६ ॥ (१६५)

[पाणिनिमित्तप्रश्लेषात्] हाथ का शब्द-निमित्त के साथ सम्पर्क होने से [शब्दाभावे] शब्द के न रहने पर [न] नहीं है [अनुपलब्धिः] अनुपलब्धि (वेग-संस्कार की)।

जब घण्टे पर मुग्दर की चोट पड़ती है, तब कुछ देर तक झनझनाहट के साथ ध्वनियाँ प्रवाहित होती रहती हैं। यदि एक वार चोट देकर छोड़दियाजाय, तो ध्वनि का प्रवाह तीव्रता से मन्दता की ओर बहता अनुभव होता है। यदि चोट देते ही घण्टे को हाथ से छू लियाजाय, तो वह प्रकम्पन-जैसा ध्वनिप्रवाह तत्काल बन्द होजाता है। तब वह शब्दसन्तान उपलब्ध नहीं होता, न शब्द सुनाई देता है। इससे अनुमान होता है, घण्टे से हाथ का संस्पर्श शब्द के निमित्तविशेष वेग-संस्कार को रोकदेता है। उसके रुकजाने से शब्दसन्तान उत्पन्न नहीं होता, अतः शब्द का सुनाई देना बन्द होजाता है। शब्द जब उत्पन्न न होगा, तो सुनाई कैसे देगा? यह ऐसा है, जैसे धनुष से छोड़े बाण की गति–आगे दीवार या लक्ष्य आदि के साथ बाण के टकराजाने पर–रुकजाती है।

वेग-संस्कार सन्तति के रूप में प्रवाहित होता है, इसे समझने के लिए एक साधारण प्रकार और है। प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव करसकता है। एक कांसे की थाली को कुछ अधर में टिकाकर उसे साधारण झटके के साथ हिला दीजिये। उसमें एक कम्पन पैदा होजायगा। बहुत धीरे से थाली के साथ हाथ का स्पर्श होनेपर उस कम्पन का अनुभव कियाजासकता है। यदि थाली को

कम्पन के समय किसी स्तर पर बलपूर्वक रोकदियाजाय, तो कम्पसन्तान समाप्त होजायगा। इसीप्रकार शब्द के निमित्त घण्टा आदि के साथ हाथ का सम्पर्क होनेपर वेग-संस्कार का प्रवाह रुकजाता है, जिसको घण्टे पर मुग्दर आदि के अभिघात ने उत्पन्न किया था। फलतः हाथ के संपर्क से वेग के प्रवाह का रुक-जाना, वेग-संस्कार के अस्तित्व का बोधक है। तब शब्दसन्तान के उत्पादक संस्कार की अनुपलब्धि कहना असंगत है ॥ ३६ ॥

पीछे कहेगये 'विनाशकारणानुपलब्धेः' हेतु का उक्त प्रकार से प्रतिषेध कर, उसकी पुष्टि के लिए प्रतिबन्दी उत्तर सूत्रकार ने दिया—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व-प्रसङ्गः ॥ ३७ ॥ (१६६)

[विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाशकारण की उपलब्धि न होने से [च] तथा शब्द के [अवस्थाने] नित्य होनेपर [तन्नित्यत्वप्रसङ्गः] शब्दश्रवण का नित्य होना प्राप्त होता है।

शब्दनित्यत्ववादी का कहना है–शब्द के विनाश का कारण उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है। परन्तु शब्दनित्यत्ववादी ने शब्दश्रवण के विनाशकारण का उपपादन नहीं किया। उसके अनुसार शब्दश्रवण के विनाशकारण की उपलब्धि न होने पर भी नित्यत्ववादी शब्दश्रवण को नित्य नहीं मानता, अनित्य कहता है; अन्यथा शब्द निरन्तर सुनाई देता। तब उसीप्रकार शब्द के विनाश-कारण की उपलब्धि न होने पर भी शब्दश्रवण के समान शब्द को भी अनित्य क्यों न मानाजाय ? विनाशकारणानुपलब्धि शब्दश्रवण और शब्द, दोनों में समान है। उभयत्र हेतु समान होने पर या तो दोनों को अनित्य कहाजाय, तब शब्द का नित्यत्व दूरापेत होजाता है; अथवा दोनों को नित्य कहाजाय। इस दशा में शब्दश्रवण के नित्य होने से वह सतत सुनाई देता रहना चाहिये, जो सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है।

चौंतीसवें सूत्र से इसका इतना भेद है–वहाँ शब्द के सतत श्रवण की आपत्ति दीगई है। यहाँ शब्द के अनित्यत्व का आपादन कियागया है ॥ ३७ ॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, घण्टे में मुग्दर के अभिघात से जैसे कम्पन उत्पन्न होता है, ऐसे शब्द उत्पन्न होता है। ध्वनि का प्रवाह कम्पन के प्रवाह का अनुगमन करता है। तात्पर्य है–कम्पनसन्तान से ध्वनिसन्तान उत्पन्न होती जाती है। इस बीच यदि घण्टे से हाथ आदि का संपर्क होजाता है, तो वेग-संस्कार के अवरुद्ध होजाने से कम्पन समाप्त होजाता है, और उसकी समाप्ति से ध्वनिसन्तान का उपरम होजाता है। इससे यह परिणाम सामने आता है कि कम्पन का जो आश्रय है, वही ध्वनि का आश्रय होजाना चाहिये। यदि ध्वनि

कम्पसमानाश्रय न हो, तो कम्प के आश्रय घण्टा के साथ हाथ का सम्पर्क होने पर कम्प समाप्त होजाने पर भी ध्वनि की समाप्ति न होनीचाहिये; क्योंकि ध्वनि का अधिकरण कम्प के अधिकरण से भिन्न है; उसके साथ हाथ का सम्पर्क नहीं है। ऐसी स्थिति में कम्प और ध्वनि का आश्रय एक होना चाहिये। कम्प का आश्रय घण्टा है, यह स्पष्ट है। ध्वनि का भी वही आश्रय मानने पर ध्वनि अथवा शब्द का आश्रय आकाश है, यह शास्त्र का सिद्धान्त अमान्य होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३८ ॥ (१६७)

[अस्पर्शत्वात्] स्पर्शवाला द्रव्य (शब्द का) आश्रय न होने के कारण [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध संगत नहीं है (शब्द के आकाशाश्रय होने का)।

ध्वनि का आश्रय आकाश—पूर्वोक्त जिज्ञासा में–'शब्द का आश्रय आकाश है' इस तथ्य का जो प्रतिषेध कियागया, वह अप्रामाणिक है; किसी प्रमाण से उसे सिद्ध नहीं कियाजासकता। क्योंकि शब्द का आश्रय स्पर्शरहित मानागया है। पृथिवी, जल, तेज, वायु,चारों द्रव्य स्पर्शवाले हैं, इसलिए इनसे अतिरिक्त स्पर्शरहित आकाश द्रव्य शब्द का आश्रय सम्भव है। यदि शब्द को स्पर्शसमान-देश मानाजाता है, तो शब्द का ग्रहण होना असम्भव होगा। घण्टादेश में उत्पन्न शब्द श्रोत्रप्रदेश में सुना नहीं जासकता। घण्टादेश को छोड़कर श्रोत्र तक पहुँचने के लिए शब्दसन्तति जिस व्यापी द्रव्य के आश्रय से प्रवाहित होती है, वही व्यापी आकाश द्रव्य शब्द का आश्रय है। शब्द कम्पसमानाश्रय नहीं होता ॥ ३८ ॥

स्पर्श अथवा रूप आदि के समान-अधिकरण में शब्द अभिव्यक्त होता है; अतः रूपादि के साथ वह उन्हीं द्रव्यों में सन्निविष्ट माननाचाहिये, जिनमें रूपादि सन्निविष्ट हैं। इस विचार को अयुक्त बताते हुए सूत्रकार ने प्रकारान्तर से उसका समाधान प्रस्तुत किया—

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३९ ॥ (१६८)

[विभक्त्यन्तरोपपत्तेः] भिन्न विभागों की उपपत्ति-सिद्धि से, जो [च] तथा [समासे] समुदाय में (रूप आदि के साथ शब्द के सामानाधिकरण्य में सम्भव नहीं)।

घण्टा एवं अन्य पार्थिवादि द्रव्यों में जैसे रूपादि का सन्निवेश है, ऐसे यदि शब्द का सन्निवेश उन्हीं द्रव्यों में मानाजाता है, तो तीव्र-मन्द आदि विभागों के साथ शब्द का जो ग्रहण होता है, वह न होना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में रूप-गन्ध आदि जिस एक स्थिति में सन्निविष्ट रहते हैं, ठीक उसी स्थिति में वे गृहीत होते हैं। यदि रूपादि के समान शब्द का सन्निवेश

उन्हीं द्रव्यों में होता, तो रूप आदि के समान शब्द एक स्थिति में सन्निविष्ट रहता, तथा उसीके अनुसार गृहीत होता; उसमें तीव्र, तीव्रतर अथवा मन्द, मन्दतर आदि विभागों का गृहीत होना सम्भव न रहता।

देखते हैं—वीणा आदि एक द्रव्य से अभिव्यक्त होता-नानारूप षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि विभिन्न विभागों के साथ—शब्द सुनाजाता है। ये शब्द परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। यह सब रूपादि की स्थिति से विलक्षण है। इससे स्पष्ट होता है—शब्द रूपादि के साथ पार्थिवादि प्रत्येक द्रव्य में समुदित नहीं रहता। उसका आश्रय रूपादि के आश्रय से भिन्न है।

इसके अतिरिक्त न केवल षड्ज, गान्धार आदि भेद से शब्दों का विभाग है; अपितु जो शब्द षड्ज-रूप में होते हुए समान हैं, समान सुनाई देरहे हैं, समानधर्मा हैं, वे भी तीव्रता-मन्दता आदि के कारण भिन्न सुनाईदेते हैं, इसलिए वस्तुतः वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ समानश्रुति में तीव्रता-मन्दता नहीं है, वहाँ भी कालभेद से शब्दों का भेद रहता है। यह सब स्थिति उसी पदार्थ में सम्भव है, जो नानारूप में उत्पन्न होता है। एक अवस्थित पदार्थ की अभिव्यक्ति में यह सब सम्भव नहीं। क्योंकि शब्द में यह सब विभाग आदि देखाजाता है; अतः यह कहना सर्वथा असंगत एवं अमान्य है कि—शब्द रूपादि के साथ प्रत्येक पार्थिवादि द्रव्य में सन्निविष्ट हुआ अवस्थित है, तथा प्रकाश से रूपादि के समान उपयुक्त निमित्तों की उपस्थिति में अभिव्यक्त होजाता है।

सूत्र में पठित 'च' पद से पूर्वोक्त 'सन्तानोपपत्तेः' हेतु का यहाँ पुनः स्मरण कराया है। यदि शब्द का आश्रय वही मानाजाता है, जो रूपादि का आश्रय है, तो जैसे रूपसन्तति नहीं होती, ऐसे शब्दसन्तति न होने से शब्द का अभिव्यक्ति-देश से श्रोत्रदेश के साथ सम्बन्ध न होने के कारण उसका ग्रहण कभी न होपायेगा। इस हेतु का व्याख्यान प्रथम करदियागया है।

शब्द के अनित्यत्व का निगमन—आचार्य सूत्रकार ने तेरहवें सूत्र से यहाँतक पूरे सत्ताईस सूत्रों द्वारा शब्द की अनित्यता का विविध प्रकार से विवरण प्रस्तुत किया है। तेरहवें सूत्र की अवतरणिका में भाष्यकार वात्स्यायन ने शब्दविषयक कतिपय विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख किया है। वे चार मान्यता इसप्रकार हैं—

१. शब्द आकाश का गुण है, विभु है, नित्य है, अभिव्यक्तिधर्मक है। यह मान्यता वृद्ध मीमांसक आचार्यों की है।[1]

---

१. 'विप्रतिपत्तिं दर्शयन् जरन्मीमांसकानां मतमाह'। तात्पर्यटीका। वात्स्यायन-भाष्य के आधुनिक व्याख्याकार सुदर्शनाचार्य ने इस मत को प्रभाकर का लिखा है। सूत्रकार अथवा भाष्यकार के काल में प्रभाकर नाम से प्रचलित मान्यता रही हो; यह नितान्त चिन्त्य है।

२. जहाँ गन्ध, रूप आदि रहते हैं, उन्हीं पृथिवी आदि में शब्द रहता है। गन्ध आदि के समान अवस्थित है; अभिव्यक्तिधर्मक है। तात्पर्यटीका में इसे सांख्य का मत बताया है।

३. शब्द आकाश का गुण है; उत्पत्ति-विनाशधर्मक है। ज्ञान जैसे उत्पन्न होता और नष्ट होता रहता है, वैसा ही शब्द है। यह मान्यता वैशेषिक-की बताईगई है।

४. पार्थिव आदि भौतिक पदार्थों के परस्पर प्रतिघात से उत्पन्न होता है। यह किसीके आश्रित नहीं रहता; अर्थात् किसी द्रव्य का गुण नहीं है। उत्पत्तिविनाशधर्मक है शब्द। तात्पर्यटीका में इसे बौद्धमत बताया है।

इन सभी मान्यताओं का विवेचन दो बातों में आजाता है–शब्द अनित्य है, तथा आकाश का गुण है। इन सत्ताईस सूत्रों में इन्हीं बातों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर सूत्रकार ने सभी मान्यताओं में जो यथार्थ है, उसका उपपादन करदिया है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत कीगई मान्यताओं को वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में जिन विशिष्ट नामों के साथ निर्दिष्ट किया है, उस रूप में वे सब मान्यता सूत्रकार के काल में विचारणीय होने पर भी भाष्यकार के काल में सम्भव हैं। इस प्रकरण में तथा अन्य प्रकरणों में भी सूत्रकार ने अनेक प्रसग शिष्यों को तर्क करने के–तथा कियेगये तर्क का उत्तर देने के–दावपेंच सिखाने की भावना से प्रस्तुत किये हों, ऐसा सम्भव है ॥ ३९ ॥

वर्णात्मक शब्द-विचार—शब्द की अनित्यता का निर्णय कर सूत्रकार वर्ण के स्वरूप के विषय में विवेचन करने की भावना से प्रकरण प्रारम्भ करता है। लोक में शब्द का स्वरूप दो प्रकार का अनुभव में आता है–एक ध्वनिरूप, दूसरा वर्णरूप। ध्वनिरूप अव्यक्त शब्द है। वर्णात्मक वह है, जिसे संस्कृत मानव-समाज पारस्परिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त करता है। वर्णात्मक शब्द को लक्ष्यकर जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत संशय को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

विकारादेशोपदेशात् संशयः ॥ ४० ॥ (१६६)

[विकारादेशोपदेशात्] विकार और आदेश दोनों के कथन से (वर्ण में) [संशय] संशय है–(वर्ण में विकार मानाजाय अथवा आदेश ?)।

वर्णों में विकार है या आदेश ?—व्याकरणशास्त्र में व्यवहार्य पदों की सिद्धि की भावना से उनमें आये वर्णों की उलट-फेर के लिए अनेक नियमों की व्यवस्था कीगई है। जैसे–'दध्यत्र' पद है। यह 'दधि+अत्र' इन दो पदों की सन्धि करके सिद्धहोता है। सन्धिके नियम के अनुसार 'दधि' पद के 'इकार' की जगह 'यकार' आजाता है। यहाँ संशय होता है–एक वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण के प्रयोग को वर्ण का विकार मानाजाय, अथवा आदेश ?

विकार वह है–जहाँ एक वस्तु विनष्ट होती हुई, अथवा विनष्ट न होती हुई ही दूसरी वस्तु के रूप में परिणत होजाती है। जैसे–दूध का विकार दही, बीज का विकार अंकुर, सुवर्ण का विकार कुण्डल रुचक आदि, मृत्तिका का विकार घट, दो धातुकपालों का विकार कलश। इन विकार के उदाहरणों में दूध व बीज का नाश होकर वह अन्य द्रव्य के रूप में परिणत होजाता है। सुवर्ण व मृत्तिका का भी प्रथमपिण्डरूप कुट-पिट कर नष्ट होजाता है, वह अन्य द्रव्य के रूप में अथवा अन्य आकार में चलाजाता है। दो धातुकपाल स्वरूप से नष्ट न होते हुए भी जोड़ेजाकर कलश के आकार को प्राप्त कर-लेते हैं।

आदेश का स्वरूप यह है कि एक की जगह दूसरा आजाता है, पहला हटजाता है। जैसे पूर्वोक्त 'दध्यत्र' उदाहरण में 'इ' के स्थान पर 'य' आजाना है, 'इ' हटजाता है, जब दोनों पदों का सन्धि करके प्रयोग करना अपेक्षित हो। यहाँ संशय यह है कि वर्णों के इस परिवर्त्तन को दूध-दही और बीज-अंकुर के समान विकार मानाजाना चाहिये; अथवा आदेश? आदेश ऐसा होता है, जैसे देवदत्त पहरेदार के स्थान पर समयानुसार यज्ञदत्त आजाता है; और यज्ञदत्त के स्थान पर विष्णुमित्र; अथवा पुनः देवदत्त आजाता है। विकार और आदेश इन दोनों प्रकार के परिवर्त्तनों में से वर्णों के विषय में कौन-सा परिवर्त्तन यथार्थ है, इसका निश्चय कियाजाना चाहिये।

वर्णों में विकार नहीं—इस विषय में आचार्य सूत्रकार का अभिमत है–वर्णों में विकार नहीं मानाजाना चाहिये, आदेश मानना यथार्थ है। पहली बात यह है कि पूर्वोक्त विकार प्रायः द्रव्य पदार्थों में देखाजाता है। इसके अतिरिक्त विकारों में सर्वत्र कोई अन्वयी धर्म विद्यमान रहता है। अन्वयी धर्म का तात्पर्य है, कारण से कार्य-विकार में आनेवाला अनुगत धर्म; जो कारण-कार्य दोनों में प्राप्त रहता है। विकारस्थल में कुछ धर्म निवृत्त होजाते हैं, कुछ नये उत्पन्न होजाते हैं, कुछ अवस्थित रहते हैं। जो अवस्थित रहता है, वह अन्वयी धर्म है। वर्णों के परिवर्त्तन में ऐसा अन्वयी धर्म विकारगत कोई नहीं जानाजाता; अतः वर्णों में विकार नहीं होता, यह समझना चाहिये।

'इ' और 'य' के उच्चारण में प्रयत्न का भेद रहता है। व्याकरण में 'इ' के उच्चारण के लिए 'विवृतप्रयत्न' और 'य' के उच्चारण के लिए 'ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न' बताया है। इनमें एक ('इ') का प्रयोग न होने पर दूसरे ('य') का प्रयोग होपाता है। जिसका प्रयोग नहीं होता, वह निवृत्त होगया। निवृत्त हुआ वर्ण आनेवाले का प्रकृति (–उपादानकारण) नहीं है। इसलिए वर्णों में प्रकृति-विकारभाव कहना असंगत है। यदि इनमें प्रकृति-विकारभाव मानाजाय, तब पहले प्रयुक्त वर्ण की निवृत्ति नहीं होसकती; जैसे कटक-कुण्डल आदि विकारों

में सुवर्ण की, तथा घट-मटका आदि विकारों में मृत्तिका की निवृत्ति नहीं होती। परन्तु वर्णों में 'इ' की निवृत्ति होजाने पर 'य' का प्रयोग सम्भव होता है। वर्णों की यह स्थिति इनके परस्पर-विरोध को प्रकट करती है। विरोधी अर्थों में प्रकृति-विकारभाव नहीं होता, सजातीय में हुआ करता है। इसलिए वर्णों में विकार मानना संगत नहीं।

इसके अतिरिक्त वर्णों के आदेशपक्ष में यह एक अनुकूल बात है कि जिन प्रयोगों में 'इ' और 'य' विकारभूत नहीं हैं, अर्थात् परिवर्त्तित होकर प्रयोग में नहीं आते, जैसे—'यतते, यच्छति, प्रायंस्त' इत्यादि में 'य'; तथा 'इकारः, इदम्' इत्यादि में 'इ'; और जहाँ विकारभूत हैं, अर्थात् परिवर्त्तित होकर प्रयोग में आये है, जैसे—'इष्ट्या' पद में 'इ' और 'य' दोनों, तथा 'दध्याहर' पद में 'य'; इन दोनों प्रकार के (अपरिवर्त्तित और परिवर्त्तित) प्रयोगों में 'इ' और 'य' का उच्चारण सर्वथा समान होता है। परिवर्त्तित या अपरिवर्त्तित 'इ' तथा 'य' के उच्चारण में किसीप्रकार का कोई अन्तर नहीं रहता। वर्ण का उच्चारण वर्ण का स्वरूप है। जिन पदार्थों का परस्पर प्रकृति-विकारभाव होता है, वहाँ प्रकृति और विकार के स्वरूप में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होजाता है। यह सर्वथा असम्भव है कि प्रकृति और विकार पूर्णरूप से समान हों। परन्तु परिवर्त्तित, अपरिवर्त्तित, दोनों अवस्थाओं के 'इ' में तथा दोनों अवस्थाओं के 'य' में कोई अन्तर नहीं होता। प्रयोक्ता के द्वारा दोनों 'इ' और दोनों 'य' के उच्चारण में पूर्णरूप से समानता रहती है, तथा श्रोता के द्वारा सुनने में। अतः वर्णों में आदेश का मानना युक्त है, विकार का नहीं।

वर्णों में आदेश मानेजाने का पक्ष इससे भी पुष्ट होता है—वर्णों के प्रयोगों के समय ऐसा कभी नहीं जानाजाता कि 'इ' यकार के आकार में अथवा 'य' इकार के आकार में परिवर्त्तित होरहा है। तात्पर्य है—जब 'इ' के स्थान पर 'य' का प्रयोग, अथवा 'य' के स्थान पर 'इ' का प्रयोग अपेक्षित होता है, तब 'इ' का 'य' तथा 'य' का 'इ' बनतेजाना किसीको गृहीत नहीं होता। प्रत्युत एक के प्रयोग के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करदियाजाता है। विकार में ऐसा नहीं है। वहाँ प्रकृति को विकार के रूप में परिणत व परिवर्त्तित होते हुए अनुभव कियाजासकता है।

वर्णों में विकार न मानने पर यदि यह कहाजाय कि इस अवस्था में व्याकरणशास्त्र व्यर्थ होजायगा, क्योंकि वहाँ वर्णों के विकार का विवरण प्रस्तुत कियाजाता है; वस्तुतः यह कहना संगत नहीं है। व्याकरणशास्त्र के द्वारा शब्दों के विषय में जो विवरण प्रस्तुत कियाजाता है, वह वर्णों में विकार को सिद्ध नहीं करता। एक वर्ण किसी अन्य वर्ण का कार्य है, यह उससे कदापि सिद्ध नहीं होता। 'य' से 'इ' उत्पन्न होता है, अथवा 'इ' से 'य', इसका उपपादन

व्याकरण नहीं करता । व्याकरण का विषय केवल यह बताना है कि अपने विभिन्न स्थान–प्रयत्नों से वर्ण उत्पन्न होकर उनमें से किस वर्ण का अन्य के स्थान पर प्रयोग सम्भव है, तथा उसकी व्यवस्था का प्रकार क्या है । वर्णों के इस परिवर्त्तन को न विकार कहाजासकता है, और न यह वर्णों का परस्पर कार्यकारणभाव है ।

व्याकरण की यह व्यवस्था न केवल वर्णों के लिए है, प्रत्युत वर्णसमुदायों के लिए भी है । धातुरूप वर्णसमुदाय के स्थान पर अन्य वर्णसमुदाय के प्रयोग का विधान व्याकरण में उपलब्ध होता है । जैसे–'अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचिः' यहाँ 'अस्' के स्थान पर 'भू' के, तथा 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' के प्रयोग का–किसी विशेष विषय की विवक्षा होने पर–विधान है । यह न शब्दों का विकार या कार्य है, न परिणाम । यह केवल एक वर्णसमुदाय के स्थान पर अन्य वर्णसमुदाय का प्रयोग है । यही व्यवस्था एक-एक वर्ण के विषय में कही-जासकती है । व्याकरण में इस व्यवस्था को 'आदेश' नाम से कहागया है । प्रयोग में वर्णों के परिवर्त्तन को लक्ष्यकर जो संशय प्रस्तुत कियागया–वर्णों के परिवर्त्तन को विकार मानाजाय या आदेश ?–उसमें निर्णय कियागया—इसे विकार न मानकर 'आदेश' मानना चाहिये ॥ ४० ॥

वर्णों में विकार न होने का अन्य हेतु—वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४१ ॥ (१७०)

[प्रकृतिविवृद्धौ] प्रकृति की विशेष वृद्धि पर [विकारविवृद्धेः] विकार में विशेष बढ़ोतरी से (वर्णों में विकार सम्भव नहीं) ।

जहाँ पर अर्थों में प्रकृतिविकारभाव होता है, वहाँ प्रकृति अर्थात् उपादान-तत्त्वों की वृद्धि के अनुसार विकार में बढ़ोतरी देखीजाती है । जितने तन्तु होंगे, उन्हींके अनुसार वस्त्र का विस्तार होगा । सेरभर तन्तुओं से जितना कपड़ा बनेगा, सवासेर से उसकी अपेक्षा अधिक बनेगा, आधा सेर से कम । प्रकृति-विकारभाव स्थलों में प्रकृति के अनुसार विकार का होना देखाजाता है । परन्तु यह व्यवस्था वर्णों में नहीं है । 'ग्रामणी' पद का कर्त्ताकारक बहुवचन में 'ग्रामण्यः' रूप होता है । यहाँ 'ग्रामणी' पद के अन्तिम 'ई' वर्ण के स्थान में 'य' का प्रयोग हुआ है । यदि इनमें प्रकृतिविकारभाव मानाजाय, तो प्रकृति 'ई' दीर्घवर्ण के स्थान में प्रयुक्त होनेवाला 'य' वर्ण दीर्घ होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है । इसके अतिरिक्त 'दध्यत्र' प्रयोग में 'दधि' के ह्रस्व इकारस्थानीय 'य' में दीर्घ ईकारस्थानीय 'य' से कोई भेद नहीं है । इसलिए यहाँ तथाकथित विकार में प्रकृतिवृद्धि की अनुकूलता न होने से वर्णों में प्रकृतिविकारभाव अमान्य है ॥ ४१ ॥

विकारों में न्यूनाधिकभाव—शिष्य आशंका करता है–विकार भी न्यूनाधिक होते देखेजाते हैं, यही स्थिति वर्णों में सम्भव रहे; सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४२ ॥ (१७१)

[न्यूनसमाधिकोपलब्धेः] न्यून, सम, अधिक उपलब्धि से [विकाराणाम्] विकारों की, [अहेतुः] हेतु उपयुक्त प्रतीत नहीं होता (पूर्वसूत्रगत)।

यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र विकार प्रकृति के अनुकूल हों, द्रव्यों में न्यून, सम, अधिक तीनों प्रकार के विकार देखेजाते हैं। रुई से जब धागा बनायाजाता है, तो उसमें से कुछ अंश छीज जाने के कारण रुई के भार की अपेक्षा धागे कम (न्यून) बनते हैं। सुवर्ण से आभूषण बनाने पर दोनों का भार बराबर (सम) देखाजाता है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है; यहाँ विकार प्रकृति से बहुत अधिक होजाता है। इसप्रकार द्रव्यविकारों में प्रकृति से न्यून, सम, अधिक विकार देखाजाता है। वर्णों में भी ऐसा सम्भव है। अतः गतसूत्र में वर्णविकार के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु साध्य का असाधक है। एकमात्रिक 'इ' या द्विमात्रिक 'ई' का विकार अर्धमात्रिक 'य्' न्यून विकार होसकता है।

यह आशंका युक्त नहीं है। केवल द्रव्यों के न्यून, सम, अधिक विकार का दृष्टान्त देकर विचार को प्रस्तुत किया है। हेतु की व्याप्ति के बिना केवल दृष्टान्त अर्थ का साधक नहीं होता। पर यहाँ न अन्वयव्याप्ति बनती है, न व्यतिरेक। न्यून, सम, अधिक के साथ विकार का साहचर्यनियम नहीं है। 'जो विकार है वह न्यून होता है', ऐसी अन्वयव्याप्ति नहीं बनती; इसका सम, अधिक विकार के साथ व्यभिचार होगा। ऐसे ही सम के साथ विकार की व्याप्ति कहने में न्यून-अधिक के साथ; तथा अधिक के साथ कहने में न्यून-सम के साथ व्यभिचार होगा। इसप्रकार अन्वयव्याप्ति नहीं बनसकती। व्यतिरेकव्याप्ति भी नहीं बनती, क्योंकि–'जहाँ विकारत्व नहीं है, वहाँ न्यूनत्व आदि भी नहीं है' ऐसा नियम नहीं है। हाथी और घोड़ा एकदूसरे का विकार नहीं है, पर न्यूनता–अधिकता यहाँ रहती है। इसको उलटकर भी व्यतिरेकव्याप्ति नहीं कहीजासकती–'जहाँ न्यूनता आदि नहीं है, वहाँ विकारता नहीं है'। सम आदि द्रव्यों में इसका व्यभिचार होगा।

इसके अतिरिक्त जैसे वर्णविकार की सिद्धि के लिए दृष्टान्त दिया, ऐसे वर्णविकार के अभाव की सिद्धि के लिए प्रतिदृष्टान्त दियाजासकता है। यदि बैल के स्थान पर भार ढोने के लिए गाड़ी में घोड़े को जोत दियाजाय, तो घोड़े को बैल का विकार नहीं कहाजासकता, वर्णों में ऐसा ही होता है–'इ' के स्थान

पर 'य्' का प्रयोग करदियाजाता है। तब दृष्टान्त को स्वीकार कियाजाय, प्रतिदृष्टान्त (मुक़ाबले के दृष्टान्त) को न कियाजाय, ऐसा कोई नियामक हेतु नहीं है। अतः वर्णों में विकार का मानाजाना असंगत है ॥ ४२ ॥

विकार वर्णों में नहीं—सूत्रकार ने उक्त आशंका का स्वयं समाधान प्रस्तुत किया—

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४३ ॥ (१७२)

[न] नहीं, [अतुल्यप्रकृतीनाम्] भिन्न प्रकृतिवाले [विकारविकल्पात्] विकारों का विकल्प–भेद देखेजाने से।

किसी भी कार्य के उपादान कारणों में भेद होने पर उसके विकार में भेद अवश्य होता है। तात्पर्य है–विकार अपने उपादान कारण के अनुसार हुआ करता है। यदि किन्हीं विकारभूत कार्यों की प्रकृति [उपादानकारण] भिन्न हैं, तो उनके विकार भिन्न होंगे। परन्तु वर्णों में ऐसा नहीं देखाजाता। ह्रस्व इकार के स्थान में जो 'य्' का प्रयोग होता है, और दीर्घ ईकार के स्थान में जो 'य्' प्रयुक्त होता है, वे दोनों 'य्' अर्द्धमात्रिक एक-समान हैं। यदि वर्णों में विकार होता, तो ह्रस्व और दीर्घ 'इ' वर्ण के विकार 'य्' में अवश्य भेद होता। क्योंकि विकार अपनी प्रकृति की अनुकूलता को छोड़ नहीं सकता। इसलिए द्रव्यविकार का उदाहरण देकर वर्णों में विकार बताना असंगत है ॥ ४३ ॥

आशंकावादी पुनः कहता है—

द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः ॥ ४४ ॥ (१७३)

[द्रव्यविकारे] द्रव्य के विकार में [वैषम्यवत्] वैषम्य-वैलक्षण्य होने के समान (उपादान द्रव्य से), [वर्णविकारविकल्पः] वर्णों के विकार में विकल्प-वैलक्षण्य सम्भव है।

यह जो कहागया–विकार अपनी प्रकृति के अनुरूप होता है, युक्त नहीं है। बीज प्रकृति है, और वृक्ष विकार; बीज अत्यन्त छोटा और वृक्ष महान् होता है। यहाँ प्रकृति की अनुरूपता विकार में नहीं देखीजाती। फलतः यह आवश्यक नहीं कि विकार सदा अपनी प्रकृति के अनुरूप हो। इसप्रकार ह्रस्व या दीर्घ वर्ण का विकार अर्द्धमात्रिक रूप में अपनी प्रकृति से विलक्षण होना सम्भव है। यदि इस बात का आग्रह हो कि विकार अपनी प्रकृति की अनुरूपता को नहीं छोड़सकता, तो बीज और वृक्ष दोनों द्रव्यत्व सामान्य से तुल्य हैं। तात्पर्य है–जैसे द्रव्यत्व सामान्य से वृक्ष बीज के अनुरूप है, वैसे वर्णत्व सामान्य से 'य्' वर्ण 'इ, ई' वर्णों के अनुरूप है। फलतः वर्णों में विकार का मानाजाना कोई आपत्तिजनक नहीं है ॥ ४४ ॥

विकार-धर्म वर्णों में असिद्ध—आचार्य सूत्रकार ने आशंकावादी के उक्त कथन का समाधान किया—

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥ (१७४)

[न] नहीं (युक्त, आशंकावादी का कथन) [विकारधर्मानुपपत्तेः] विकार-धर्म की अनुपपत्ति–असिद्धि से (वर्णों में)।

विकार का यह निश्चित धर्म है कि वह अपनी प्रकृति [उपादान कारण] के अनुरूप हो। द्रव्यविकार के विषय में यह देखाजाता है कि उपादान द्रव्य सोना या मिट्टी जैसा हो, उसका विकार तद्रूप होता है। विकारमात्र में उपादान के अन्वयी धर्म का होना आवश्यक है। उपादान द्रव्य वही रहता है, विकार होने पर केवल आकृति अथवा अवयव-सन्निवेश परिवर्त्तित होजाता है। यही विकार का स्वरूप है। मृत्तिका व सुवर्णभाव उनके विकारों में बराबर बनारहता है। परन्तु वर्णों के विषय में कोई ऐसा अन्वयी धर्म प्रतीत नहीं होता, जिसको लक्ष्यकर अथवा आधार मानकर यह कहाजासके कि इसने इकार-पने को छोड़-कर यकार-पना प्राप्त करलिया है, जैसे द्रव्यविकार में कहाजाता है–मिट्टी या सोने ने अपना पिण्डभाव छोड़कर घटभाव अथवा कुण्डल–रुचक आदि भाव को ग्रहण करलिया है।

बीज और वृक्ष में अन्वयीधर्म रहता है। वह उसकी जातिविशेष है। आम-बीज आम-विकार को उत्पन्न कर सकता है। वह आम-पना बीज-भाव को छोड़-कर अंकुर-वृक्षभाव को प्राप्त करलेता है; आम-पना प्रत्येक अवस्था में वहाँ पूर्णरूप से विद्यमान है। यदि इनमें यह अन्वयीधर्म न मानाजाय, तो आम के बीज से बबूल और जामुन के बीज से कैथ होजाने चाहियें। तात्पर्य है–तब किसी बीज से कोई भी वृक्ष होजाया करे। वर्णों में वर्णत्व सामान्य होने पर भी कोई शब्दात्मा अन्वयी धर्म ऐसा नहीं है, जो प्रकृति से विकार में अनुवृत्त होता हुआ इकार-पने को छोड़कर यकार-पने को प्राप्त करता हो। यदि वर्णत्व सामान्य को ऐसा धर्म कहाजाय, तो द्रव्यविकार में द्रव्यत्व सामान्य को लेकर बैल के स्थान में घोड़ा जोतेजाने पर क्या घोड़ा बैल का विकार मानाजायगा? वस्तुतः विकार के प्रसंग में इसे अन्वयीधर्म नहीं मानाजासकता। फलतः 'य्' वर्ण 'इ' अथवा 'ई' वर्ण का विकार नहीं है; क्योंकि प्रकृति से विकार में अनुवृत्त होने-वाला अन्वयी धर्म यहाँ किसी प्रमाण से उपपन्न नहीं है॥ ४५॥

विकार पुनः पूर्वरूप में नहीं आता—वर्णों में विकार नहीं होता; इसके लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ४६ ॥ (१७५)

[विकारप्राप्तानाम्] विकार को प्राप्त होजानेवालों के [अपुनरापत्तेः] पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त न होने से (वर्णों में विकार अमान्य है)।

जो प्रकृति-द्रव्य विकार को प्राप्त होजाता है, वह पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं करता, यह व्यवस्था प्रकृतिविकारभाव में देखीजाती है। दूध का दही विकार होजाने पर वह पुनः दूध नहीं होसकता। कपास का फोला धागा व कपड़ा बनजाने पर पुनः कपास का फोला नहीं बनपाता। परन्तु वर्णों में यह व्यवस्था नहीं है। 'इ' अथवा 'ई' को 'य्' होजाने पर वह पुनः 'इ' भाव को प्राप्त करलेता है। 'दधि+अत्र' के स्थान पर 'दध्यत्र' प्रयोग होने पर पुनः 'दधि+अत्र' के प्रयोग में कोई बाधा नहीं रहती। सन्धि के अवसर पर 'इ' के स्थान पर 'य्' होजाता है; ऐसा 'य्' सम्प्रसारण के समय 'इ' बोलाजाता है। तात्पर्य है–वर्णों में 'इ' का 'य्' और 'य्' का 'इ' परिवर्त्तन होता रहता है। यह एक के स्थान में दूसरे का आदेश है, विकार नहीं। क्योंकि विकार पुनः अपने प्रकृतिभाव में वापस नहीं आसकता। परन्तु वर्णों में ऐसा होजाना, वर्णों में विकार न होने का साधक है॥ ४६॥

विकार का पुनः प्रकृतिभाव—इसके विपरीत आशंकावादी विकार के पुनः प्रकृतिभाव में आने का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः॥ ४७॥ (१७६)

[सुवर्णादीनाम्] सुवर्ण आदि के विकारों के [पुनरापत्तेः] पुनः प्रकृतिभाव में प्राप्त होजाने से [अहेतुः] पूर्वोक्त हेतु संगत नहीं है।

विकार को प्राप्त होकर पदार्थ पुनः अपने प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं होता, यह जो हेतु [अपुनरापत्तेः] वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए गतसूत्र में प्रस्तुत कियागया, वह असंगत है; क्योंकि सुवर्णपिण्ड के रुचक-कुण्डल आदि रूप में विकार को प्राप्त होजाने पर वह पुनः रुचक आदि विकारभाव को छोड़कर सुवर्णपिण्ड के रूप में प्राप्त होजाता है। फलतः जहाँ पदार्थों में प्रकृति-विकारभाव है, वहाँ विकार जैसे पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त करलेता है; ऐसे ही वर्णों में मानेजाने से वर्णों में विकार सम्भव है॥ ४७॥

विकार का पुनः प्रकृतिभाव अयुक्त—सूत्रकार समाधान करता है—

न तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात्॥ ४८॥ (१७७)

[न] नहीं है (युक्त-सुवर्ण का उदाहरण इस विषय में), [तद्विकाराणाम्] सुवर्ण-विकारों का [सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात्] सुवर्णस्वरूप से व्यतिरेक-भेद न होने के कारण है।

इस प्रसंग में सुवर्ण के उदाहरण की उपयोगिता सम्भव नहीं है। कारण यह है–कुण्डल, रुचक आदि विकार की अवस्था में रुचक आदि का सुवर्णभाव

बराबर उसी रूप में बनारहता है। तात्पर्य है–सुवर्ण अवस्थित है, रुचक आदि विकार-दशा होने या न होने की दोनों अवस्थाओं में सुवर्णभाव समानरूप से विद्यमान रहता है। वह पिण्डभाव को छोड़कर रुचक-अवस्था को प्राप्त करलेता है; रुचक को गलाकर कुण्डल बनालियाजाता है, तथा कुण्डल फिर पिघला-कर पिण्ड बनजाता है। इन सभी अवस्थाओं में परिवर्त्तन रहते भी सुवर्णात्मा अन्वयी एक-धर्मी बराबर बना रहता है। परन्तु वर्णों के प्रसंग में कोई शब्दात्मा अन्वयी धर्मी ऐसा नहीं रहता, जो इ-भाव को छोड़कर य्-भाव को प्राप्त करता हो। इसलिए वर्णों के प्रसंग में सुवर्णादि द्रव्य का उदाहरण उपयुक्त नहीं है।

यदि कहाजाय, जैसे सुवर्णविकारों में सुवर्णत्व [सुवर्णभाव] अनुवृत्त रहता है, ऐसे वर्णविकारोंमें वर्णत्व [वर्णरूप बनारहना] अनुवृत्त रहता है। सुवर्णपिण्ड में सुवर्णत्व है, उसके विकार रुचक में सुवर्णत्व है, ऐसे ही 'इ'-कार में वर्णत्व है, उसके विकार 'य्' में वर्णत्व है। इसप्रकार वर्णविकारों में 'वर्णत्व' अन्वयी धर्मी अनुवृत्त रहता है, अतः वर्णों में विकार मानना आपत्तिजनक नहीं होना चाहिये।

यह कथन वर्णों में विकार सिद्ध करनेकेलिए कोई सहायता नहीं देता। क्योंकि सुवर्णत्व-सामान्य के अधिकरण का धर्म के साथ योग-सम्बन्ध रहता है, सीधे सामान्य का नहीं। रुचक, कुण्डल आदि विकाररूप धर्म सुवर्ण-धर्मी के हैं, सुवर्णत्व-सामान्य के नहीं। जैसे कुण्डल, रुचक आदि सुवर्णात्मा धर्मी के धर्म हैं, ऐसे इकार-यकार आदि विकार किस वर्णात्मा के धर्म हैं? यह देखना है। 'वर्णत्व' सामान्य है, वह स्वयं वर्णगत धर्म है, इकार-यकार उसके धर्म नहीं हो-सकते। 'वर्णत्व'-सामान्यवाला कोई धर्मी इकार से यकार में अथवा यकार से इकार में अनुवृत्त हुआ प्रमाणित नहीं होता। कोई निवर्त्तमान धर्म उत्पन्न होने-वाले धर्म का प्रकृति नहीं होता। कुण्डल को गलाकर जब रुचक बनायाजाता है, वहाँ रुचक का प्रकृति कुण्डल नहीं है, प्रत्युत कुण्डल के रूप में विद्यमान सुवर्ण-प्रकृति है। यहाँ सुवर्णात्मा धर्मी का कुण्डलधर्म निवृत्त होकर रुचक-धर्म उभर आता है; ऐसा वह कौन-सा वर्णात्मा धर्मी है, जिसका 'इ'-धर्म निवृत्त होकर 'य्'-धर्म उभर आता हो। यह स्थिति क्योंकि वर्णों में असम्भव है, अतः वर्णों में विकार मानाजाना सर्वथा अप्रामाणिक है॥ ४८॥

वर्णों में अविकार का अन्य हेतु—वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात्॥ ४६॥ (१७८)

[नित्यत्वे] नित्य होने पर (वर्णों के) [अविकारात्] विकार न होने से, [अनित्यत्वे] अनित्य होने पर (वर्णों के) [च] तथा [अनवस्थानात्] अवस्थित न रहने से (वर्णों में विकार की सम्भावना नहीं)।

वर्णों को नित्य मानाजाय, अथवा अनित्य, दोनों अवस्थाओं में वर्णों में विकार होना सम्भव नहीं। यदि वर्ण नित्य हैं, तो 'इ' और 'य्' दोनों वर्ण होने से नित्य होंगे; नित्य में विकार होना असम्भव है। कारण यह है कि नित्य पदार्थ अविनाशी होता है; जो अविनाशी हैं, उनमें कौन किसका विकार होगा ?

यदि वर्णों को अनित्य मानाजाता है, तो वर्णों के अवस्थित न रहने के कारण उनमें परस्पर एक-दूसरे का विकार होने की सम्भावना नहीं रहती। वर्णों के अवस्थित न रहने का तात्पर्य है–उत्पन्न होकर नष्ट होजाना। इकार उत्पन्न होकर जब नष्ट होजाता है, तब यकार उत्पन्न होता है। ऐसे ही यकार के उत्पन्न होकर नष्ट होजाने पर इकार उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में इकार यकार का, अथवा यकार इकार का विकार हो, यह कैसे मानाजासकता है ? दोनों वर्णों की उत्पत्ति एक-दूसरे के अभाव में होपाती है, तो कौन किसका विकार हो ? अविद्यमान वस्तु किसीको उत्पन्न नहीं करसकती। वर्ण द्विक्षणावस्थायी मानाजाता है। एक क्षण उत्पत्ति का, दूसरा स्थिति का; अगले तीसरे क्षण में वह नष्ट होजाता है। अपने प्रथम उत्पत्ति-क्षण में अन्य किसी को उत्पन्न करने का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे स्थिति-क्षण में यदि 'इ' 'य्' के रूप में विकृत हो-जाय, तो 'इ' का श्रवण ही न होना चाहिए। वह इन्द्रिय का विषय अपने द्वितीय क्षण में होसकता है, उसी क्षण में विकृत होजाने से वह रहा नहीं, तो सुनाई कहाँ से देगा ? तीसरे क्षण में वह स्वयं नहीं रहता, तब उसके विकृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसका अस्तित्व नहीं, वह विकृत होरहा है, यह कथन निराधार है। विकृत होने के लिए वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए।

इकार-यकार की उत्पत्ति व निरोध (नाश) का प्रसंग उस समय स्पष्ट होजाता है, जब पृथक् दो पदों की सन्धि कीजाती है, अथवा सन्धि करने के अनन्तर पुनः उन दो पदों का अवग्रह (सन्धिच्छेद) कियाजाता है॥ ४९ ॥

विकारोपपत्ति नित्य वर्ण में—वर्णविकारवादी वर्णों के नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में वर्णविकार की उपपत्ति प्रस्तुत करता है। सूत्रकार ने वादी की भावना को दो सूत्रों में सूत्रित किया। नित्य पक्ष को लेकर पहला सूत्र है—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणा-मप्रतिषेधः ॥ ५० ॥ (१७९)

[नित्यानाम्] नित्यों के [अतीन्द्रियत्वात्] अतीन्द्रिय होने से [तद्धर्म-विकल्पात्] उनमें (नित्यों में) धर्मों का विकल्प-वैविध्य होने से [च] और [वर्णविकाराणाम्] वर्णों में विकार होने का [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असङ्गत है।

वर्णों के नित्य मानेजानेपर वर्णों में विकार का प्रतिषेध अयुक्त है। क्योंकि नित्य पदार्थों में विविध प्रकार के धर्म देखेजाते हैं। आकाश आदि नित्य पदार्थ

अतीन्द्रिय हैं; पर दूसरे गोत्व, अश्वत्व आदि 'सामान्य' नामक पदार्थ नित्य होते हुए इन्द्रियग्राह्य हैं। इससे स्पष्ट हुआ–नित्य पदार्थों में धर्म की विविधता है। एक अतीन्द्रिय है, दूसरा इन्द्रियग्राह्य है। ऐसी दशा में यह सम्भव है–किन्हीं नित्य पदार्थों में विकार न हो; पर नित्य वर्णों में विकार होजाय। वर्ण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं; यह आकाश आदि से वर्णों में वैषम्य है; तब विकारलक्षण वैषम्य वर्णों में सम्भव है। अतः वर्णों के नित्य मानेजाने पर भी वर्णों में विकार का प्रतिषेध अयुक्त है।

वस्तुतः विकारवादी का इस प्रसङ्ग में 'धर्मविकल्प'-हेतु सद्धेतु न होकर 'विरुद्ध हेत्वाभास' है, यह अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ है। क्योंकि जो नित्य पदार्थ है, वह न उत्पन्न होता है न नष्ट। उत्पत्ति-विनाश वाला पदार्थ आवश्यकरूप से अनित्य होता है। उत्पत्ति-विनाश हुए बिना किसी पदार्थ में विकार होना सम्भव नहीं। यदि वर्णों में विकार मानाजाता है, तो उनका नित्य होना असम्भव है। यदि वर्णों को नित्य मानाजाता है, तो उनमें विकार माना-जाना समाप्त होजाता है। इसप्रकार 'धर्मविकल्प' हेतु न होकर स्पष्ट विरुद्ध हेत्वाभास है। वर्णों में विकार को सिद्धकर वर्णों की नित्यता को उखाड़देता है, जिसे स्वीकार कर हेतु प्रस्तुत कियागया॥ ५०॥

विकारोपपत्ति अनित्य वर्ण में—अनित्य पक्ष में वर्णविकारवादी की भावना को सूत्रकार ने द्वितीय सूत्र में सूत्रित किया—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारो-पपत्तिः॥ ५१॥ (१८०)

[अनवस्थायित्वे] अनवस्थायी–अनित्य होने पर (वर्णों के) [च] तथा, [वर्णोपलब्धिवत्] वर्णों की उपलब्धि के समान [तद्विकारोपपत्तिः] उनमें (वर्णों में) विकार उपपन्न-सिद्ध हो जाता है।

वर्णों के द्विक्षणावस्थायी मानेजाने पर जैसे वर्णों की उपलब्धि–उनका ग्रहण-श्रवण होता है, उसीप्रकार उनमें विकार होना सम्भव है। अनित्य मानने पर यदि सुनाई देने के लिए वर्णों को अवसर मिलजाता है, तो उनमें विकार के लिए अवसर मिलने में क्या बाधा है? उच्चरित 'इ' वर्ण को प्रत्यक्ष से सुना-जाता है। विद्यमान पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय होता है। विद्यमान पदार्थ में ही विकार सम्भव है। तब विद्यमान इकार अपने सुनेजाने के समान यकार को उत्पन्न कर विकार का लक्ष्य होसकता है। इस प्रकार अनित्य पक्ष में भी वर्णों में विकार का होना उपपन्न होता है।

वस्तुस्थिति यह है कि वर्णों की उपलब्धि अर्थात् वर्णों के ग्रहण या श्रवण का वर्णविकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वर्णों की उपलब्धि से

वर्णों में विकार को सिद्ध करने का प्रयास निराधार है। सम्बद्ध पदार्थ अन्य सम्बन्धी का साधक होता है। शब्द के सुनेजाने का प्रयोजन है—अर्थविशेष का बोध होना। यदि वर्णविकार के विना यह प्रयोजन सिद्ध न होसके,–वर्णों की उपलब्धि वर्णविकार के विना अर्थबोध कराने में असमर्थ हो, तो शब्दश्रवण (वर्णोपलब्धि) विकार का अनुमापक होसकता है। पर शब्दश्रवण से अर्थबोध में वर्णविकार कोई सहयोग नहीं देता। फलतः वर्णों की उपलब्धि से वर्णों में विकार को सिद्ध करने का प्रयास ऐसा ही है, जैसे कोई कहे–पृथिवी गन्ध-गुण-वाली है, तो शब्द या सुख आदि गुणवाली भी होनी चाहिये; जबकि गन्ध का शब्द, सुख आदि से ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि एक के विना दूसरा न रहसकता हो।

कहा जा सकता है, वर्णोपलब्धि का वर्णविकार से सीधा सम्बन्ध न हो; पर विकार आदेश का विरोधी है; यदि आदेश कहीं प्राप्त नहीं है, अथवा उसकी निवृत्ति होगई है, तो आदेश के अभाव में उसका विरोधी होने से विकार वहाँ उपस्थित होजायगा। इसप्रकार प्रकृत में विकार की सिद्धि सम्भव है।

वस्तुतः यह कथन भी युक्त नहीं। कारण यह है कि वर्णोपलब्धि–पहले वर्णों के निवृत्त होजाने पर वर्णान्तर के प्रयोग की उत्पादिका नहीं है। यदि ऐसी होती, तो वर्णविकार का अनुमान करासकती थी। प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुसार 'इ' वर्ण की निवृत्ति होजाने पर 'य्'- वर्ण का प्रयोग होता है। यदि 'इ'-वर्ण की उपलब्धि से 'य्' वर्ण उत्पन्न कियाजाता होता, तो उपलब्धि के समान वह विकार अवश्य गृहीत होता। तात्पर्य है, 'इ' से विकृत होता हुआ 'य्' गृहीत होता। ऐसा किसी प्रकार प्रमाणित न होने से वर्णविकार में वर्णोपलब्धि को हेतु नहीं कहाजासकता ॥ ५१ ॥

वर्णों में विकारोपपत्ति निराधार—गत दो सूत्रों से वर्णविकार के पक्ष में प्रस्तुत कीगई उपपत्ति का सूत्रकार प्रत्याख्यान करता है—

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चा-प्रतिषेधः ॥ ५२ ॥ (१८१)

[विकारधर्मित्वे] विकारधर्मी होने पर [नित्यत्वाभावात्] नित्यत्व के अभाव से [कालान्तरे] अन्य काल में [विकारोपपत्तेः] विकार की उपपत्ति-सिद्धि से [च] और [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध युक्त नहीं है।

शब्द को नित्य अथवा अनित्य मानते हुए, नित्य पक्ष में गतसूत्र [५०] से 'तद्धर्मविकल्प' हेतु के द्वारा वर्णों में विकार को सिद्धकर जो न्यायसिद्धान्त (वर्णों में विकार नहीं होता) का प्रतिषेध कियागया है, वह असंगत है। क्योंकि वर्ण (शब्द) को नित्य मानकर उसमें विकार बताना सर्वथा अप्रामाणिक

है । जो विकारधर्मक है, वह नित्य नहीं होसकता । जो नित्य है, उसमें विकार असम्भव है ।

शब्द के अनित्य-पक्ष में वर्ण की उपलब्धि के समान वर्ण में विकार होने का जो गतसूत्र [५१] द्वारा कथन कियागया, वह भी ठीक नहीं है । कारण यह है—जब पदों को 'दधि + अत्र' इसप्रकार अलग-अलग कहने की इच्छा रहती है, तब ऐसा प्रयोग कर देने के अनन्तर 'दध्यत्र' का सन्धियुक्त प्रयोग कियाजाता है । वर्ण के अनित्य होने से 'दधि' का उच्चारण कर देने पर 'इ'-वर्ण नष्ट होगया । कालान्तर में जब सन्धियुक्त उच्चारण किया, उससे अव्यवहित पूर्व-काल में 'इ' वर्ण के न रहने से 'दध्यत्र' में उच्चरित 'य्' किसका विकार होगा ? विकारपक्ष में 'य्' का कारण 'इ' तो तब रहा नहीं, फिर कारण के अभाव में कार्य का होना कैसे सम्भव है ? फलतः वर्णों में विकार का होना प्रमाणसिद्ध नहीं है ।। ५२ ।।

वर्णों में विकार असिद्ध—वर्णविकार की असिद्धि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् ।। ५३ ।। (१८२)

[प्रकृत्यनियमात्] प्रकृति का नियम न होने से [वर्णविकाराणाम्] वर्णों के विकारों का, (वर्णों में विकार का बाधक है) ।

वर्णों में प्रकृति-विकारभाव का नियम नहीं—जिन पदार्थों में परस्पर प्रकृति-विकारभाव होता है, वहाँ किसी विशिष्ट विकार के लिए प्रकृति का नियम होता है; अमुक विकार अमुक प्रकृति [उपादान-तत्त्व] से होसकता है; जैसे दही दूध का विकार, मृद्घट मिट्टी का विकार । ऐसा नियम वर्णों में नहीं देखा-जाता । कभी इकार के स्थान में यकार बोलाजाता है; फिर कभी (सम्प्रसारण-स्थल में) यकार के स्थान पर इकार का उच्चारण कियाजाता है । अतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव मानाजाना युक्त नहीं है । क्योंकि दूध दही का प्रकृति है, विकार नहीं । तथा दही दूध का विकार है, प्रकृति नहीं । पर वर्णों में 'इ' का 'य्' और 'य्' का 'इ' होता हुआ देखाजाता है । यह स्थिति वर्णों में प्रकृति-विकारभाव की बाधक है ।। ५३ ।।

अनियम, नियम है—वर्णविकारवादी छल का आश्रय लेकर यथार्थ की उपेक्षा करता हुआ उक्त हेतु का उत्तर देता है—

अनियमे नियमान्नानियमः ।। ५४ ।। (१८३)

[अनियमे] अनियम में [नियमात्] नियम से [न] नहीं है [अनियमः] अनियम ।

यह जो गत सूत्र में वर्णविषयक प्रकृति का अनियम कहागया है, वस्तुतः उसको अपने क्षेत्र में, अपनी सीमा में नियत समझना चाहिए। तात्पर्य है–अनियम की जो स्थिति है, वह उसमें नियत है, व्यवस्थित है; अपनी सीमा, अपने क्षेत्र को छोड़कर वह इधर-उधर नहीं हटता; इस आधार पर उसे नियत होने से नियम कहना ठीक है। तब अनियम के लिए कोई ठिकाना, कोई अवकाश नहीं रहता। अतः 'प्रकृति के अनियम से' (प्रकृत्यनियमात्) हेतु का निर्देश निरवकाश होने के कारण वर्णों में विकार को नहीं रोक सकता ॥ ५४ ॥

नियम-अनियम परस्पर-विरोधी—आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का प्रत्याख्यान करते हुए कहा—

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चा-प्रतिषेधः ॥ ५५ ॥ (१८४)

[नियमानियमविरोधात्] नियम और अनियम के परस्पर-विरोध से [अनियमे] अनियम में [नियमात्] नियत होने से (अनियम के) [च] तथा [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है।

नियम और अनियम का परस्पर भिन्न अस्तित्व है। नियम है–किसी पदार्थ के व्यवस्थित अस्तित्व को स्वीकार करना। अनियम है–उसके अस्तित्व का प्रतिषेध करना। स्वीकार और प्रतिषेध परस्पर-विरोधी हैं; इनकी एकात्मता होना सम्भव नहीं है। अतः जो अनियम है, वह नियम नहीं होसकता। फिर इस कथन पर ध्यान देना चाहिये–वर्णविकारवादी पूर्वपक्षी अनियम को स्व-रूप में व्यवस्थित–नियत होने से नियम बताता है, यह उसका 'वदतो व्याघात' है। अर्थात् बात को ठीक कहकर साथ ही उसे उलटरहा है। सोचिये–अनियम जबतक स्व-रूप में अर्थात् अनियम में व्यवस्थित है, तभी तक वह अनियम रहसकता है, नियम कदापि नहीं होसकता। उसके नियम होने की तभी संभावना की जासकती है, जब वह स्व-रूप को छोड़ दे। जब अनियम न रहे, तभी वह नियम होगा। जब वादी कहता है–अनियम अपने रूप में अवस्थित है, तब उसका तात्पर्य है–अनियम अनियम ही है, नियम नहीं; फिर भी अनियम को नियम कहे, तो यह अपने ही कथन का विरोधी है। इसलिए वादी के द्वारा कियागया–वर्णों में प्रकृति के अनियम का–प्रतिषेध अयुक्त है।

वर्णों में विकार न माननेवाला सिद्धान्ती वर्णों में प्रकृति के अनियम को व्यवस्थित मानेजाने का प्रतिषेध नहीं कररहा; वह उस अनियम को व्यवस्थित–नियत–निश्चित स्वीकार करता है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर अनियम का अस्तित्व सम्भव है। सिद्धान्ती के कथन का केवल इतना तात्पर्य है कि 'नियम'-पद से प्रतिपाद्य अर्थ का–प्रकृति-विकारभाव स्थलों में अव्यभिचरित रूप से–

निश्चय रहता है, जो वर्णों में नहीं देखाजाता। उस नियम से वर्णों में प्रकृति-अनियम-विषयक प्रतिषेध अयुक्त है। वर्णविकारवादी को–यदि वर्णों में प्रकृति-विकारभाव है, तो–वर्णों में प्रकृति-नियम को दिखलाना चाहिये था। दूध दही का केवल प्रकृति है, यह नियम वर्णों में नहीं। वहाँ 'इ' के स्थान में 'य्' तथा 'य्' के स्थान में 'इ' का प्रयोग होतारहता है। अतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव अमान्य है ॥ ५५ ॥

वर्णों में व्यवहार्य विकार का स्वरूप—वर्णों में विकार न होने की उपपत्ति के इस लम्बे प्रसंग से केवल यह स्पष्ट कियागया है कि वर्णों में परिणामरूप अथवा कार्य-कारणभावरूप विकार नहीं होता। न कोई वर्ण अन्य वर्ण का परिणाम, और न ऐसा कार्य है, जैसा मट्टी का घड़ा। वर्णों में एक के स्थान पर जो अन्य का प्रयोग कियाजाता है, वर्णों में उसीको 'विकार'-पद से कहदियाजाता है। आचार्य सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया—

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्ण-विकाराः ॥ ५६ ॥ (१८५)

[गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यः] गुणान्तर-अन्य गुण की प्राप्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश, श्लेष आदि विशेषताओं से [तु] तो [विकारोपपत्तेः] विकार की उपपत्ति-सिद्धि होने से (वर्णों में), [वर्णविकाराः] वर्णों में विकार होते हैं, (ऐसा समझना चाहिये)।

वर्णों में परिणाममूलक विकार नहीं होता; फिर भी वर्णों में विकार होने का व्यवहार गुणान्तरापत्ति आदि विशेषताओं के आधार पर होता है। इनका विवरण इसप्रकार है—

गुणान्तरापत्ति—एक गुण के हटजाने पर उसकी जगह अन्य गुण का आजाना। जैसे–उदात्त के स्थान पर अनुदात्त अथवा स्वरित होजाना; अथवा अनुदात्त के स्थान पर उदात्त आदि का होजाना।

उपमर्द— एक का नाश, दूसरे का उपजन (प्रादुर्भाव); जैसे–'दध्यत्र' प्रयोग में मूल पद 'दधि+अत्र' हैं। यहाँ दोनों पदों की सन्धिविवक्षा में 'दधि' पद के 'इ'-वर्ण को हटा दियाजाता है, उसका उपमर्द होजाता है; उसके स्थान पर 'य' का उपजन-प्रादुर्भाव होजाता है।

ह्रास—क्षीण होजाने को कहते हैं; अपनी मात्रा से कम होजाना, अर्थात् दीर्घ वर्ण के स्थान पर ह्रस्व का प्रयोग होना। जैसे–'चित्र' और 'गो' पद पृथक् हैं। जब इनका बहुव्रीहि समास कियाजाता है–'चित्रा गावो यस्य'; तब 'गो' पद के दीर्घ वर्ण 'ओ' के स्थान में ह्रस्व वर्ण 'उ' होजाता है, 'गोस्त्रियोरुप-सर्जनस्य' [१। २। ४८] पाणिनीय नियम के अनुसार। इसके फलस्वरूप 'चित्र+गो' पदों के स्थान पर 'चित्रगुः' पद का प्रयोग होता है।

वृद्धि—का अर्थ बढ़ना है। जब ह्रस्व वर्ण को दीर्घ अथवा इन दोनों के स्थान पर यथायथ प्लुत होजाता है; यह वर्ण का वृद्धि नामक विकार कहाजाता है। जैसे–'गर्ग' पद से गोत्रापत्य अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' [४। १। १०५] सूत्रानुसार 'यञ्' प्रत्यय होकर 'गर्ग' पद के आदि ह्रस्व अकार के स्थान में 'तद्धितेष्वचामादेः' [७। २। ११७] सूत्र से दीर्घ 'आ' के रूप में वृद्धि होजाती है। ऐसे ही ह्रस्व-दीर्घ के स्थान में प्लुत होजाता है। जैसे–'देवदत्त३' यहाँ पर अन्तिम ह्रस्व अकार के स्थान में 'दूराद्धूते च' [८। २। ८४] सूत्र से प्लुत अकार का प्रयोग होता है। इसीप्रकार 'हे ३ देवदत्त' इस प्रयोग में 'हे' पद के दीर्घ 'ए' को 'हैहेप्रयोगे हैहयोः' [८। २। ८५] सूत्र से प्लुत 'ए३' होजाता है।

लेश—लाघव को कहते हैं। पद का छोटा होजाना। वर्ण के लोप होकर प्रयोग में न आने से पद लघु होजाता है। जैसे–'अस्' धातु के वर्त्तमानकाल द्विवचन-बहुवचन में 'स्तः, सन्ति' आदि प्रयोग होते हैं। यहाँ धातु के प्रथम वर्ण 'अ' का 'श्नसोरल्लोपः' [६। ४। १११] सूत्र से लोप होजाता है; 'अस्' केवल 'स्' रहजाता है।

श्लेष—पद में किसी वर्ण के अधिक आजाने से पद का बढ़जाना 'श्लेष' है। यह प्रकृति अथवा प्रत्यय के साथ 'आगम' आजाने से होता है। जैसे–'स्कुन्दते' प्रयोग में 'स्कुदि' इदित् धातु प्रकृति है। यहाँ 'इदितो नुम् धातोः' [७। १। ५८] सूत्र से 'स्कुद' प्रकृति को 'नुम्' आगम होकर 'स्कुद्' का 'स्कुन्द' होजाने से पद में–अन्य वर्ण का श्लेष–आलिङ्गन–जुड़जाना होने से बढ़ोतरी होगई। इसीप्रकार 'राम' पद के षष्ठी बहुवचन में 'राम+आम्' इस स्थिति पर प्रत्यय 'आम्' को 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' [७। १। ५४] सूत्र से 'नुट्' आगम होगया। इससे 'राम-आम्' के स्थान पर 'रामाणाम्' प्रयोग होता है। यह 'नुट्' के श्लेष का फल है।

वर्णों में जो विकार का व्यवहार होता है, वह इन्हीं गुणान्तरापत्ति आदि विशेषताओं पर आधारित है। न्यायवादी आचार्य वर्णों में इसप्रकार के विकार को स्वीकार करते हैं॥ ५६॥

वर्णों की 'पद' संज्ञा—कोई अर्थ किसी पूरे पद का होता है, पद के अंश वर्ण का नहीं। अतः पदार्थ-विवेचन के प्रसंग में पद के स्वरूप को स्पष्ट करना आवश्यक है। इसी भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

ते विभक्त्यन्ताः पदम्॥ ५७॥ (१८६)

[ते] वे वर्ण (अपनी अभिमत आनुपूर्वी के साथ प्रस्तुत होकर) [विभक्त्यन्ताः] जब उनके अन्त में विभक्ति लगजाती है, तब [पदम्] 'पद' कहलाते हैं।

शब्दशास्त्र के विधानानुसार जब अभिमत आनुपूर्वीयुक्त वर्णसमुदाय के अन्त में विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय लगजाता है, तब वह वर्णसमुदाय 'पद' कहाजाता है।

व्याकरणशास्त्र में विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय दो प्रकार के बतायेगये हैं। एक– नामिक प्रत्यय; दूसरे–आख्यातिक प्रत्यय। जो नाम-पद के अन्त में लगते हैं वे नामिक प्रत्यय, तथा जो आख्यात-धातु के अन्त में लगते हैं वे आख्यातिक कहेजाते हैं। सु-औ-जस् आदि विभक्ति-प्रत्यय नामिक, तथा तिप्-तस्-झि आदि विभक्ति-प्रत्यय आख्यातिक हैं। इनके उदाहरण यथाक्रम 'वृक्षः, ब्राह्मणः' आदि; तथा 'पठति, पचति' आदि हैं।

ऐसी व्यवस्था के अनुसार 'उपसर्ग' और 'निपात' संज्ञक वर्णसमुदायों की 'पद' संज्ञा प्राप्त नहीं होती; क्योंकि उनके अन्त में विभक्ति लगी दिखाई नहीं देती। जैसे–'प्र, परा, वि, अव' आदि उपसर्ग; तथा 'च, वा, ह, अह' आदि निपात हैं। ये भी पद कहेजाते हैं। तब इनको पद की श्रेणी में लाने के लिए कोई अन्य पद का लक्षण बताना चाहिये।

वस्तुतः इसके लिए अन्य पद-लक्षण की आवश्यकता नहीं है। व्याकरणशास्त्र में निपात की विशेष संज्ञा 'अव्यय' बताईगई है [१। १। ३७]। उपसर्ग भी निपात के अन्तर्गत हैं। निपात के आगे नामिकी विभक्ति लगने का विधान है। पर विशेष नियम [अव्ययादाप्सुपः (२। ४। ८२)] के अनुसार निपात के अन्त में लगी विभक्ति का लोप होजाने से वह दिखाई नहीं देती; परन्तु इसके अनुसार निपातों की पद संज्ञा के लिए अन्य लक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। उक्त लक्षण में इनका समावेश होजाता है। इसप्रकार समस्त विभक्त्यन्त वर्णसमुदाय 'पद' कहलाता है। पद के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। वर्णसमुदाय के 'पद' संज्ञाविधान का यही प्रयोजन है॥ ५७॥

पद के अर्थ का विवेचन—पद का निरूपण करने के अनन्तर पदबोध्य अर्थ का निरूपण करना प्रसंगप्राप्त है। तदनुसार नाम-पद को लक्ष्यकर परीक्षा करना अपेक्षित है, कि 'गो' नाम-पद से किस अर्थ का बोध होता है? परीक्षा के आधार को संशय के रूप में सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्
संशयः॥ ५८॥ (१८७)

[तदर्थे] पद के अर्थ में [व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधौ] व्यक्ति, आकृति और जाति इन तीनों के सान्निध्य-अनिवार्य उपस्थिति में [उपचारात्] पद का व्यवहार-प्रयोग होने से [संशयः] सन्देह होता है (कि इन तीनों में से कौन-सा अर्थ प्रयुक्त-पद का समझाजाय?)।

'गो' पद का प्रयोग करने पर एक प्राणिविशेष का बोध होता है। परन्तु उस प्राणिविशेष में अनिवार्य रूप से तीन अर्थ उपस्थित रहते हैं–व्यक्ति, आकृति और जाति। संशय होता है–इन तीनों में से 'गो' पद का कौन-सा अर्थ समझना चाहिये ? अथवा तीनों 'गो' पद का अर्थ हैं ? प्रसंग में विवेचनपूर्वक इसका निर्णय करना परीक्षा का विषय है ॥ ५८ ॥

'व्यक्ति' पद का अर्थ—शब्द के प्रयोग-सामर्थ्य से पदार्थ का निश्चय कियाजाना चाहिये। 'सामर्थ्य' का तात्पर्य है–सफलता। शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में सफल होता दीखे, वही उसका अर्थ उपयुक्त है। इस भावना से सूत्रकार ने कहा—

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासाऽनुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ॥ ५९ ॥ (१८८)

[याशब्दसमूह०...समासाऽनुबन्धानाम्] याशब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास और अनुबन्ध का [व्यक्तौ] व्यक्ति में [उपचारात्] उपचार–प्रयोग–व्यवहार से [व्यक्तिः] व्यक्ति (अर्थ है, गो पद का; जाति आकृति नहीं)।

गो-पद के साथ 'या शब्द' आदि का प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि गो पद का अर्थ व्यक्ति है, जाति आदि नहीं।

याशब्द—याशब्द का प्रयोग गो-पद के साथ है–'या गौस्तिष्ठति, या गौर्गच्छति' इत्यादि। जो गाय बैठी है, उसे यह रोटी खिला देना। यह गो पद का प्रयोग व्यक्ति के लिए सम्भव है। द्रव्यरूप गाय बैठती या जाती है; जाति आदि में बैठना-चलना असम्भव है।

समूह—झुण्ड या गिरोह को कहते हैं। 'गवां समूहः' गायों का झुण्ड कहने से गाय व्यक्तियों का झुण्ड कहना अभिमत होता है। जाति आदि में ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं।

त्याग—का अर्थ है–छोड़ना, देना। वैद्य के लिए अथवा ब्राह्मण के लिए गाय देता है–'वैद्याय विप्राय वा गां ददाति'। यहाँ देना–त्याग करना गाय व्यक्ति का होता है। अतः वही 'गो' पद का अर्थ है।

परिग्रह—ग्रहण करना, अथवा अपने अधिकृत पदार्थ का प्रकट करना। 'चैत्रस्य गौः, मैत्रस्य गौः' यह गाय चैत्र की है, और यह मैत्र की। यहाँ द्रव्यरूप व्यक्ति पर अधिकार प्रकट कियाजारहा है; क्योंकि भेद द्रव्य का है; जाति उभयत्र एक है।

संख्या—गिनती करना। दस गाय, बीस गाय आदि कथन व्यक्ति में सम्भव है। जाति गोमात्र में एक ही रहती है।

वृद्धि—बढ़ना। 'गौर्वर्द्धते' गाय बढ़रही है, अथवा 'अवर्द्धत गौः' गाय बड़ी हो चुकी है, अवयवों का उपचय होना वृद्धि है; वह द्रव्यात्मक व्यक्ति में सम्भव है। जाति आदि में नहीं।

अपचय—ह्रास अथवा अवयवों के क्षय होने को कहते हैं। यह द्रव्य का धर्म है, द्रव्यरूप व्यक्ति में सम्भव है।

वर्ण—का अर्थ रूप है। 'शुक्ला गौः, कपिला गौः' धौली गाय, गोरी गाय, आदि वर्णमूलक प्रयोग व्यक्तिरूप द्रव्यात्मक देह में सम्भव है; अतः व्यक्ति गो पद का अर्थ उपयुक्त है।

समास—दो पदों का योग है। 'गोहितम्, गोसुखम्' इस समासयुक्त पद से गाय देह के लिए हितकारी या सुखकारी साधन का कथन कियाजाता है। अतः गो पद का वही व्यक्तिरूप अर्थ समझना चाहिये।

अनुबन्ध—साजात्य-प्रजनन को कहते हैं। समानजातीय सन्तान का उत्पन्न करना। 'गौर्गां जनयति'–गाय गाय को पैदा करती है। यहाँ एक द्रव्यात्मक गाय-देह से अन्य गाय उत्पन्न होती है। यह उत्पत्ति व्यक्ति की सम्भव है; जाति आदि की नहीं।

फलतः 'याशब्द' आदि का 'गो' पद के साथ प्रयोग व व्यवहार से यह स्पष्ट होजाता है कि गो पद का अभिधेय व्यक्ति है; अतः व्यक्ति को पद का अर्थ मानना चाहिये, जाति आदि को नहीं ॥ ५९ ॥

पद के अर्थ में जाति का होना आवश्यक—आचार्य सूत्रकार उक्त कथन में दोष बताकर उसका प्रतिषेध करता है—

न तदनवस्थानात् ॥ ६० ॥ (१८९)

[न] नहीं (पद का अर्थ व्यक्ति), [तदनवस्थानात्] उस व्यक्ति के अनवस्थान-व्यभिचार-अनैकान्तिक दोष से।

गतसूत्र में पद का अर्थ व्यक्ति बतायागया है, वह युक्त नहीं है; क्योंकि व्यक्ति का अवस्थान जाति को छोड़कर केवल व्यक्ति के रूप में उपलब्ध होना सम्भव नहीं। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ केवल व्यक्तिमात्र अवस्थित हो, और वहाँ जातिरूप धर्म का अस्तित्व न हो। तात्पर्य है–पद का अर्थ में शक्तिग्रह जाति के विना केवल व्यक्ति में होना यदि स्वीकार कियाजाय, तो गो पद का जिस व्यक्ति-विशेष के साथ प्रथम शक्तिग्रह हुआ है, उसीका बोध गो पद से होसकेगा, अन्य व्यक्ति का नहीं। क्योंकि वाच्य-वाचकरूप से जिस अर्थ में जिस पद का शक्तिग्रह होता है, वह पद उसी अर्थ का शाब्दबोध करासकता है, अन्य का नहीं। इसलिए केवल व्यक्ति को पद का वाच्य मानने की दशा में उस पद से यदि वाच्य व्यक्तिविशेष से अतिरिक्त का बोध होता है, तो यह अनैकान्तिक दोष है, क्योंकि जो पद का वाच्य नहीं है, उसका भी वह बोध करारहा है।

इस विषय में यह समझना चाहिये कि जाति के बिना समस्त व्यक्तियों का शक्तिग्रह कराने के लिए व्यवस्था का होना सर्वथा असम्भव है। अतः यह मानना आवश्यक है कि पद का अर्थ में शक्तिग्रह जातिविशिष्ट व्यक्ति में होता है। इसीकारण एक जगह व्यक्तिरूप अर्थ में पद का शक्तिग्रह होने पर दृष्ट-अदृष्ट समस्त उन व्यक्तियों का उस पद से बोध होना सम्भव होता है, जो उस जातिधर्म से युक्त हैं; अथवा जहाँ वह जातिधर्म समवेत रहता है। इसलिए पद के अर्थविवेचन में जाति को छोड़ा नहीं जासकता ॥ ६० ॥

व्यक्ति में 'याशब्द' आदि व्यवहार गौण—शङ्का होती है, यदि केवल व्यक्ति पद का वाच्य अर्थ नहीं है, तो गतसूत्रद्वारा 'याशब्द' आदि से पद-सम्बन्धी समस्त व्यवहार जो व्यक्ति में सम्भव होना कहा है, उसका क्या समाधान होगा? सूत्रकार ने बताया, वह औपचारिक अर्थात् गौण व्यवहार है। ऐसा व्यवहार निमित्तविशेष के कारण उन पदार्थों में होजाता है, जो वस्तुतः वैसे नहीं हैं। आचार्य सूत्रकार ने इसप्रकार उपचार (गौणव्यवहार) के कतिपय उदाहरणस्थल प्रस्तुत किये—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽऽधि-पत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाकटान्नपुरुषेष्व-तद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६१ ॥ (१६०)

[सहचरणस्थान०···साधनाऽऽधिपत्येभ्यः] सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन, आधिपत्य इन निमित्तों से [ब्राह्मण-मञ्च०···शाकटान्नपुरुषेषु] ब्राह्मण, मञ्च, कट, राजा, सक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न, पुरुष इनमें [अतद्भावे] वैसा न होने पर [अपि] भी [तदुप-चारः] वैसा व्यवहार-शब्दप्रयोग होता है।

जो अर्थ जिस पद या शब्द का वाच्य नहीं है, उस अर्थ के लिए भी उस पद का प्रयोग विशेष कारण से होजाता है। सूत्र के पहले आधे भाग में 'सहचरण' आदि निमित्तों का निर्देश है; अगले सूत्रभाग में 'ब्राह्मण' आदि अर्थ निर्दिष्ट हैं, जिनका कथन निमित्तविशेष से व्यवहार में ऐसे पदों के द्वारा होता है, जो उस अर्थ के वाचक नहीं हैं। उनको यथाक्रम प्रस्तुत कियाजाता है।

सहचरण—सहचारी होना, आवश्यक रूप से साथ में रखना, या रहना। कोई ब्राह्मण नियमितरूप से यष्टिका (लाठी) अपने साथ रखता है, उन दोनों का सहचार इतना व्यवस्थित है कि उसमें कभी विपर्यय नहीं आता। ऐसी स्थिति में लोग उस व्यक्ति का वही नाम पुकारने लगते हैं। यह उदाहरण ऐसा ही है। किसी ने कहा–'यष्टिकां भोजय' लाठी को जिमा दो, यहाँ 'यष्टिका' पद

सहचरण-निमित्त से उस ब्राह्मण का बोधक है, जो यष्टिका साथ रखता है। यष्टिका का वाच्य अर्थ ब्राह्मण नहीं है; फिर भी उसके लिए उक्त पद का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रयोग गौण मानाजाता है। इसीप्रकार 'गो' पद का मुख्य वाच्य-अर्थ केवल व्यक्ति न होने पर भी व्यक्ति-अर्थ में उसका प्रयोग गौणरूप से होना सम्भव है। वह नितान्त असमञ्जस नहीं है।

स्थान—यह पद किसी जगह को कहता है। सूत्र में उसके लिए विशेष पद 'मञ्च' दिया है, इसका अर्थ मचान या टांड है। यह खेतों में फ़सल की रखवाली के लिए चार ऊँची मज़बूत लकड़ियाँ गाड़कर उन पर बैठने आदि की जगह बनालीजाती है। रखवाले व्यक्ति उसपर बैठकर जोर से आवाज देते हुए पक्षियों आदि को हटाकर फ़सल की रखवाली करते हैं। उसीको लक्ष्यकर किसीने कहा—'मञ्चाः क्रोशन्ति'—मचान चिल्लारहे हैं। यहाँ 'मञ्च' शब्द मञ्च पर बैठे पुरुषों के लिए प्रयुक्त कियागया है। मञ्च उन पुरुषों का 'स्थान' है, इस निमित्त से 'मञ्च'-पद का प्रयोग वहाँ बैठे पुरुषों के लिए हुआ है। यद्यपि 'मञ्च'-पद का वाच्य-अर्थ पुरुष नहीं है।

तादर्थ्य—किसी निर्माण के लिए कारणभूत अवयवों की विद्यमानता। कट (चटाई) के निर्माण के लिए वीरण [पटेरे] एकत्रित हैं। उनको व्यवस्थित-रूप में फैलाकर चटाई का बुनाजाना प्रारम्भ करदिया है, परन्तु अभी कारण-सामग्री अपने-पटेरे के रूप में है; कट (चटाई) का अस्तित्व नहीं है। फिर भी कहाजाता है—'कटं करोति'—कट को बनाता है। वस्तुतः निर्माण के लिए जो क्रिया होरही है, उसका विषय या कर्म वीरण हैं; पर वीरण क्योंकि कट के निर्माण के लिए हैं, इसलिए वीरण में 'कट' पद का प्रयोग होरहा है।

वृत्त—व्यवहार व आचरण को कहते हैं। जो राजा व कोई व्यक्ति यम के समान अति कठोर क्रूर व्यवहार व आचरण करनेवाला होता है; उसके लिए 'यम' पद का प्रयोग करदियाजाता है—'यमो राजा' यह राजा क्या है, पूरा यम है। यम मृत्यु का देवता मानाजाता है, जो उदार दानी राजा है, उसे कुबेर कहदियाजाता है—'कुबेर राजा'। लोक में इस प्रकार के अनेक प्रयोग बराबर होतेरहते हैं।

मान—परिमाण, नाप-तोल का नाम है। एक सेर बाट से तुले धान को—एक सेर धान कहाजाता है, जबकि धान स्वयं सेर-परिमाण नहीं हैं। 'आढकं सक्तवः'-ढाई सेर सत्तू। सत्तू स्वयं आढक नहीं हैं; ढाई सेर के बाट से परिमित हैं। परिमाणवाचक पद का प्रयोग द्रव्य के लिए होजाता है। यह गौण प्रयोग है।

धारण—रखाजाना, तुला में जो चन्दन रखा है, उसे 'तुलाचन्दनम्' कहदेते हैं। यहाँ 'तुला'-पद का चन्दन में प्रयोग करदियागया है।

सामीप्य—समीप में अवस्थित होना। प्रयोग होता है–'गङ्गायां गावश्चरन्ति'–गङ्गा में गायें चररही हैं। 'गङ्गा'-पद बहती हुई विशिष्ट जलधारा अथवा जलप्रवाह का नाम है। पर यहाँ गङ्गा-पद का प्रयोग जलप्रवाह के समीपवर्ती प्रदेश के लिए हुआ है; जबकि मुख्यतः गङ्गा-पद प्रदेश का वाचक नहीं है।

योग—सम्बद्ध होना। काले रंग से सम्बद्ध कपड़ा, 'काला कपड़ा' कहा-जाता है–'कृष्णेन रागेण युक्तः शाकटः[1] कृष्ण-इत्युच्यते'–काली जाकट। यहाँ कृष्ण-रूपवाचक पद का प्रयोग योग-निमित्त से शाकट (जाकट) द्रव्य के लिए कियागया है।

साधन—सिद्ध किये रखना, बनाये रखना। अन्न प्राणों को–जीवन को बनाये रखता है, जीवन का साधन है। प्राणों का साधन होने से अन्न को प्राण कहदियाजाता है—'अन्नं वै प्राणाः'।

आधिपत्य—मिल्कियत, हुकूमत, शासन-निमित्त से प्रशास्य-वाचक पद का प्रयोग प्रशासक, मालिक या हाकिम व्यक्ति के लिए होजाता है। अपने कुल-खानदान-परिवार का मालिक प्रशासक संचालक देवदत्त व्यक्ति के लिए 'कुल' पद का प्रयोग होजाता है–'देवदत्तः कुलम्'। इसीप्रकार ग्राम, प्रदेश, राष्ट्र तथा विशिष्ट संस्थाओं के वाचक पदों का प्रयोग उनके प्रधान व्यक्तियों, नेताओं तथा संचालकों के लिए लोक में बराबर होता रहता है।

ये सब प्रयोग औपचारिक गौण होते हैं; मुख्य अभिधावृत्ति के अनुसार नहीं। 'याशब्द' आदि के आधार पर उदाहरणरूप से 'गो' पद का व्यक्ति अर्थ में जो प्रयोग व व्यवहार गतसूत्र द्वारा प्रस्तुत कियागया है, वह सब इसीप्रकार गौण समझना चाहिये। उन स्थलों में ऐसे प्रयोग का निमित्त 'सहचरण' अथवा 'योग' होसकता है। व्यक्ति के साथ जाति का नियत साहचर्य है एवं जाति व्यक्ति में आश्रित-समवेत रहती है, अतः उनका आश्रयाश्रित सम्बन्ध-योग है। अतः पद का अर्थ केवल व्यक्ति है, ऐसा समझना ठीक नहीं॥ ६१॥

'आकृति' पद का अर्थ रहे—यदि पद का अर्थ व्यक्ति नहीं है, तो आकृति अर्थ मानलेना चाहिये; जिज्ञासु ने कहा। आचार्य सूत्रकार ने उसकी भावना को सूत्रित किया—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः॥ ६२॥ (१६१)

[आकृतिः] आकृति पदार्थ है [तदपेक्षत्वात्] उस-आकृति की अपेक्षा होने से [सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः] प्राणी की व्यवस्था के सिद्ध होने के कारण।

---

१. कतिपय संस्करणों में 'शाटक' पद के स्थान पर उपलब्ध 'शाकट' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है।

प्राणि-शरीर के अवयव तथा उनके अन्य अवान्तर अवयवों का विशेष सन्निवेश–अथवा रचनाविशेष–का नाम आकृति है। आकृति को पदार्थ मानना अधिक उचित है; क्योंकि प्राणी की व्यवस्था अर्थात् विभिन्न प्राणि-विषयक व्यवहार प्राणी की विशिष्ट आकृति पर निर्भर करता है। आकृतिविशेष के आधार पर लोक में किसी प्राणी को गाय तथा अन्य को घोड़ा, कुत्ता, हाथी, ऊँट आदि कहाजाता है। आकृति के ग्रहण होने पर 'यह अमुक प्राणी है–गाय या घोड़ा आदि' ऐसा निश्चय कियाजाता है। यदि आकृति स्पष्ट दिखाई नहीं देती, तो 'यह अमुक प्राणी है' ऐसा निश्चित ज्ञान नहीं होसकता। पद के उच्चारण करने पर प्राणि-सम्बन्धी यह व्यवहार जिसके ग्रहण होने से सम्पन्न होपाता है, उसीको पद का अर्थ मानना चाहिये। फलतः 'आकृति' को पदार्थ मानना युक्त है।

विचारने पर ज्ञात होता है, केवल आकृति को पद का अर्थ मानाजाना प्रामाणिक नहीं है। कारण यह है–इन्द्रिय के द्वारा सामने जिस अर्थ को देखा व ग्रहण कियाजाता है, वह व्यक्तिविशेष पद द्वारा जातिविशिष्ट ही कहाजाता है। अवयवसन्निवेश साधारणरूप से प्रत्येक प्राणिदेह में समान है। कोई देह ऐसा नहीं, जहाँ अवयवसन्निवेश न हो। नियत-अवयवसन्निवेश, जिसके आधार पर व्यक्ति को पहचानने की बात कहीगई है, वह जाति से रहित उपलब्ध होना असम्भव है। तात्पर्य है, नियत-अवयवसन्निवेश जाति-सम्बन्ध के विना सम्भव नहीं। अतः केवल आकृति को पदार्थ मानाजाना प्रामाणिक नहीं कहा-जासकता ॥ ६२ ॥

'जाति' को क्यों न पदार्थ मानाजाय—जिज्ञासु कहता है, तब जाति को पदार्थ मान लेना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ६३ ॥ (१६२)

[व्यक्त्याकृतियुक्ते] व्यक्ति और आकृति से युक्त होने पर [अपि] भी [अप्रसंगात्] प्रसंग-प्राप्ति न होने से [प्रोक्षणादीनाम्] प्रोक्षण आदि की [मृद्गवके] मिट्टी से बनी गाय में, [जातिः] जाति (पदार्थ मान्य होना चाहिये)।

मिट्टी से बनी गाय की मूर्ति में आकृति और व्यक्ति दोनों गाय-प्राणी के समान विद्यमान हैं; फिर भी उसमें–'गां प्रोक्षय, गामानय, गां दोग्धि' आदि व्यवहार नहीं होता। गाय को स्नान कराओ, गाय को यहाँ लेआओ, एवं गाय को दुहता है; इत्यादि व्यवहार मिट्टी की गाय में सम्भव नहीं होता, यद्यपि वहाँ व्यक्ति और आकृति विद्यमान हैं। वहाँ जाति के न रहने से यह स्थिति है, अतः जाति को पदार्थ मानना अधिक युक्त है ॥ ६३ ॥

जाति की अभिव्यक्ति व्यक्ति-आकृति के बिना नहीं—उक्त कथन में आपत्ति प्रस्तुत करनेवाले जिज्ञासु के भाव को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६४ ॥ (१९३)

[न] नहीं (केवल जाति पदार्थ), [आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात्] आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से [जात्यभिव्यक्तेः] जाति की अभिव्यक्ति होने के कारण।

जाति का ग्रहण आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से होता है। यदि व्यक्ति एवं आकृति का ग्रहण न हो, तो जाति की प्रतीति होना सम्भव नहीं। क्योंकि जाति की अभिव्यक्ति व्यक्ति और आकृति के ग्रहण पर निर्भर है, अतः केवल शुद्ध जाति को पद का अर्थ मानाजाना प्रामाणिक नहीं ॥ ६४ ॥

व्यक्ति-आकृति-जाति तीनों पद के अर्थ—ऐसा तो सम्भव नहीं कि पद का कोई अर्थ न हो; तब पदार्थ क्या है?- स्पष्ट होना चाहिये। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६५ ॥ (१४६)

[व्यक्त्याकृतिजातयः] व्यक्ति, आकृति और जाति, ये सब [तु] तो [पदार्थः] पद के अर्थ होते हैं।

सूत्र में पठित 'तु' पद एक विशेषता का बोध कराता है। वह विशेषता है–जाति, व्यक्ति, आकृति का परस्पर प्रधान-गौणभाव। व्यवहार के अनुसार जहाँ जैसा सम्भव हो, इनमें से एक पदबोध्य-अर्थ प्रधान होता है, शेष दोनों गौण रहते हैं। ऐसा नियम नहीं है कि सर्वत्र इनमें से कोई एक प्रधान रहे, और शेष दो गौण रहे। जैसे प्रथम जहाँ 'याशब्द' आदि का प्रयोग बतायागया है, जिसमें भेद की विवक्षा व विशेष स्थिति का बोध कराना अपेक्षित रहता है; वहाँ पद का प्रधान अर्थ व्यक्ति है; जाति, आकृति गौण हैं। जब भेद की विवक्षा न हो, और सामान्य स्थिति का बोध कराना अपेक्षित हो, वहाँ पद का प्रधान अर्थ जाति रहता है; व्यक्ति, आकृति गौण। जैसे–गौ बड़ा सीधा जानवर है, गाय का दूध सर्वोत्तम होता है; यहाँ 'गो' पद का मुख्य अर्थ जाति, शेष गौण हैं। जब गाय के क्रय आदि का अवसर होता है, तब उसके देह और देहावयवों पर विशेष दृष्टि रहती है, जो आकृतिरूप है। यहाँ आकृति की प्रधानता है; जाति, व्यक्ति गौण। इसप्रकार पद के अर्थ तीनों हैं; यथावसर उनमें केवल प्रधान-गौणभाव रहता है ॥ ६५ ॥

व्यक्ति का लक्षण—शिष्य जिज्ञासा करता है, जाति-व्यक्ति-आकृति को अनेक क्यों मानाजाता है? इनको एकरूप स्वीकार कर उसीको पदार्थ मान-लियाजाय? सूत्रकार ने समाधान किया, इन सबके लक्षण-स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, इसी कारण इन्हें अनेक मानाजाता है। इसके अनुसार सूत्रकार व्यक्ति-आकृति-जाति के लक्षण यथाक्रम प्रस्तुत करता है–

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः ॥ ६६ ॥ (१६५)

[व्यक्तिः] व्यक्ति है [गुणविशेषाश्रयः] गुण-विशेषों का आश्रय [मूर्त्तिः] मूर्त्ति–संघटित अवयवों वाला द्रव्य।

व्यक्ति पद का अर्थ है, व्यक्त(प्रकट) हुआ द्रव्य; अर्थात् इन्द्रियग्राह्य द्रव्य। प्रत्येक द्रव्य को 'व्यक्ति' नहीं कहाजाता। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व, वेग एवं स्थितिस्थापक संस्कार, अव्यापी परिमाण आदि गुणों का आश्रय यथासम्भव ऐसा द्रव्य–जो उपचित-संघटित अवयवों वाला हो–'व्यक्ति' पद से व्यवहृत होता है। ऐसी स्थिति प्रायः मध्यमपरिमाण द्रव्यों की सम्भव होती है। यह स्वरूप जाति-आकृति में घटित नहीं होता; अतः व्यक्ति को उनसे भिन्न मानाजाता है ॥ ६६ ॥

आकृति का लक्षण—क्रमप्राप्त आकृति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ६७ ॥ (१६६)

[आकृतिः] आकृति है (वह, जो) [जातिलिङ्गाख्या] जाति के लिङ्गों-चिह्नों को प्रख्यापित-प्रकट करती है।

जिसके द्वारा जाति एवं जाति के चिह्नों को प्रकट कियाजाता है, वह आकृति है। किसी कार्य-द्रव्य के अवयवों की एवं अवान्तर अवयवों की एक नियत रचनाविशेष के अतिरिक्त आकृति और कुछ नहीं है। प्राणिदेह के अवयवों की नियत रचना जाति का चिह्न होती है। सिर, पैर (खुर आदि), सींग, पूँछ आदि से गाय, भैंस, कुत्ता आदि का पता लगजाता है। प्राणि-देह के अवयवों एवं अवान्तर अवयवों की नियत रचना-विशेष होनेपर उससे गोत्व, अश्वत्व आदि जाति का स्पष्ट बोध होजाता है। द्रव्य की जिस अवस्था में विशेष आकृति अभिव्यक्त नहीं होपाती, जैसे–मिट्टी, सोना, चाँदी आदि की साधारण द्रव्यस्थिति, उस अवस्था में मृत्, सुवर्ण एवं रजत पद के प्रयोग से द्रव्य में जाति व व्यक्ति का बोध होता है, आकृति का नहीं। ऐसी दशा में आकृति पदार्थ नहीं रहता ॥ ६७ ॥

जाति का लक्षण—अन्त में जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ६८ ॥ (१६७)

[समानप्रसवात्मिका] समान ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली [जातिः] जाति होती है।

अनेक अधिकरणों में समानबुद्धि को उत्पन्न करनेवाला धर्म 'जाति' कहलाता है। इसको शास्त्रीय परिभाषा में 'सामान्य' पद से कहा है। इस नामकरण का आधार–अनेक व्यक्तियों में समान ज्ञान का जनक–होना है। इस सामान्य धर्म के द्वारा अनेक अर्थ एक-दूसरे से व्यावृत्त न होकर एक वर्ग–एक

श्रेणी में आजाते हैं। अनेक अधिकरणों में इससे एक-समान ज्ञान का अनुवर्त्तन होता रहता है। एक गाय को देख-समझकर संसार में जितनी गाय दृश्य-अदृश्य एवं अतीत-वर्त्तमान-अनागत में सम्भव हैं, सबका ज्ञान–'यह गौ है, यह गौ है' इसप्रकार अनुवृत्तिपूर्वक–होजाता है। ऐसे ज्ञान का कारण 'गोत्व' सामान्य धर्म है।

यह धर्म केवल गो प्राणी में रहता है; उससे अतिरिक्त कहीं नहीं। इस कारण गोमात्र से अतिरिक्त जो कुछ है, उस सबसे गोवर्ग को यह धर्म व्यावृत्त रखता है; अथवा गोवर्ग से अन्य समस्त विश्व को हटाकर रखता है। इसप्रकार यह धर्म प्रत्येक समान व्यक्तियों में रहता है। जैसे–गोमात्र में 'गोत्व' धर्म है, ऐसे अश्वमात्र में 'अश्वत्व', घटमात्र में 'घटत्व' द्रव्यमात्र में 'द्रव्यत्व', मनुष्यमात्र में 'मनुष्यत्व' आदि धर्म समझने चाहियें।

यह जाति दो प्रकार की है–परा और अपरा। 'परा' जाति केवल एक है–'सत्ता' जाति, जो समस्त द्रव्य, गुण और कर्मों में समवेत रहती है। 'अपरा' जाति अनेक हैं। इनको 'सामान्यविशेष जाति' भी कहाजाता है। सत्ता जाति का सबकी अपेक्षा अधिक क्षेत्र होने से वह केवल 'सामान्य' अथवा 'परजाति' मानीजाती है। यह जातिवाले पदार्थों में किसी के भेद का जनक नहीं है। अन्य जातिधर्म जो सीमित अथवा अल्प क्षेत्र में रहते हैं, वे अपने वर्ग में समान बुद्धि के जनक, तथा भिन्न वर्गमें व्यावृत्त-भेद बुद्धि के जनक होने से 'सामान्य-विशेष' कहेजाते हैं, जैसे–'द्रव्यत्व'-धर्म द्रव्यमात्र में समान बुद्धि का जनक है, द्रव्य से अतिरिक्त गुणादि में व्यावृत्त बुद्धि का जनक होता है। 'द्रव्यत्व' गुणादि में नहीं रहता; वह द्रव्यमात्र को गुणादि से भिन्न रखता है। सामान्य और भेदक दोनों रूप होने से 'सामान्य-विशेष' कहाजाता है। एकमात्र सत्ता-जाति को छोड़कर शेष समस्त जाति-धर्म 'सामान्य-विशेष' की कोटि में आते हैं।

प्राणिजगत् के प्रत्येक वर्ग में साजात्यप्रजनन की विशेषता देखीजाती है। यह साजात्य-प्रजनन जाति-धर्म का नियामक है। विजातीय सांकर्य होनेपर प्रजनन की क्षमता क्षीण होजाती है। इसका विस्तृत विवेचन 'विकासवाद'-प्रसंग से 'सांख्यसिद्धान्त' [३१६-३५] में कियागया है॥ ६८॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता' वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन,
बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत 'बनैल' ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना–**उदयवीर-शास्त्रिणा** समुन्नीते
गौतमीयन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये द्वितीया-
ध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

सम्पूर्णश्चायं द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रमेय परीक्षा—गत अध्याय में प्रमाणों की परीक्षा कीगई। प्रस्तुत तृतीय अध्याय में प्रमेय-परीक्षा का प्रारम्भ कियाजाता है। ये प्रमेय 'आत्मा' आदि पदार्थ हैं, जिनका निर्देश सूत्र [१। १। ९] में कियागया है। उनमें सर्वप्रथम आत्मा प्रमेय है, उसका विवेचन प्रस्तुत कियाजाता है।

विचार्य है, क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वेदना आदि का संघातमात्र आत्मा है; अथवा इनसे कोई व्यतिरिक्त तत्त्व है–आत्मा? ऐसे संशय का कारण यह है कि लोक में आत्म-सम्बन्धी व्यवहार दोनों प्रकार का देखाजाता है। व्यवहार से तात्पर्य है कर्त्ता के साथ कार्य एवं कारण के सम्बन्ध का कथन करना। कथन के दो प्रकारों में पहला है–अवयव से समुदाय का कथन। जैसे कहाजाता है–'मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति'–जड़ों के सहारे से पेड़ खड़ा है। अथवा–'स्तम्भैः प्रासादो ध्रियते'–खम्भों के द्वारा महल टिका हुआ है। इस प्रयोग में जड़ पेड़ के और खम्भे महल के अवयव हैं; जो वृक्ष और महल से अलग नहीं। अवयवों के आधार पर समुदाय के खड़े रहने एवं टिकने का यहाँ निर्देश है।

दूसरे प्रकार में अन्य से अन्य का कथन कियाजाता है। जैसे–'परशुना वृश्चति'–कुल्हाड़े से काटता है; अथवा–'प्रदीपेन पश्यति'–प्रदीप से देखता है। इन प्रयोगों में काटने या देखनेवाला कर्त्ता, काटने या देखने के साधन (करण) परशु और प्रदीप, तथा काटीजानेवाली और देखीजानेवाली वस्तु, ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। कर्त्ता, करण और कार्य परस्पर भिन्न पदार्थ हैं।

इसीके समान लोक में यह व्यवहार देखाजाता है–'चक्षुषा पश्यति'–चक्षु से देखता है; अथवा 'मनसा विजानाति'–मन से जानता है; तथा 'बुद्ध्या विचारयति'–बुद्धि से विचारता है। ऐसे ही–'शरीरेण सुखदुःखमनुभवति'–शरीर से सुख-दुःख का अनुभव करता है। यहाँ निश्चय कियाजाना चाहिए कि यह कथन अवयव से–देहादिसंघातरूप-समुदाय का समझाजाय, अथवा अन्य से अन्य का?

आत्मा, देह आदि से भिन्न है—आचार्य सूत्रकार बताता है, यह अन्य से अन्य का कथन समझना चाहिए। इसमें हेतु प्रस्तुत किया—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ।। १ ।। (१९८)

[दर्शनस्पर्शनाभ्याम्] दर्शन-चक्षु तथा स्पर्शन-त्वक् इन्द्रियों के द्वारा [एकार्थग्रहणात्] एक अर्थ के ग्रहण से (इन्द्रियादिसंघात से अतिरिक्त है—आत्मा)।

लोक में यह स्पष्ट व्यवहार देखाजाता है कि एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत अर्थ अन्य इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है। एक व्यक्ति अनुभव करता है—जिस आम (फल) को मैंने चक्षु से देखा, उसीको हाथ में लेकर त्वक् से छूरहा हूँ। तथा जिसको त्वक् से छुआ, उसीको रसन-इन्द्रिय से चखरहा हूँ। यहाँ देखने, छूने और चखने का विषय एक है, तथा इनका कर्त्ता भी एक है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञान का प्रतिसन्धान करता है। प्रतिसन्धान अथवा प्रत्यभिज्ञान उसको कहते हैं, जहाँ एक कर्त्ता के द्वारा विभिन्न ज्ञानों का एकत्र व्यपदेश हो। देहादि संघात को कर्त्ता आत्मा मानने की भावना से यहाँ इन्द्रिय को एक-कर्त्ता मानाजाना संभव नहीं। क्योंकि चक्षु के द्वारा स्पर्श का, तथा त्वक् के द्वारा रूप का ग्रहण नहीं होसकता; और इन दोनों के द्वारा रस का ग्रहण अशक्य है। यदि कोई एक इन्द्रिय कर्त्ता हो, तो विभिन्न ज्ञानों का एकत्र प्रतिसन्धान होना असम्भव है। इसलिए विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा गृहीत एक विषय के विभिन्न ज्ञानों का प्रतिसन्धान करनेवाला कर्त्ता इन्द्रियों से अतिरिक्त होना चाहिए; वह आत्मा है।

इन्द्रिय को कर्त्ता इसलिए नहीं मानाजासकता; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण व प्रतिसन्धान करसकती है; अन्य इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का नहीं। चक्षु रूप का ग्रहण व प्रतिसन्धान करसके; स्पर्श व रस का नहीं। त्वक् स्पर्श का करसके, न रूप का न रस का।

एक इन्द्रिय को कर्त्ता न मानकर संघात को कर्त्ता मानाजाय, तो उसमें सभी इन्द्रियों का समावेश होने से प्रतिसन्धान सम्भव होसकेगा; यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि देह, इन्द्रिय, मन आदि का संघात देहादि से अतिरिक्त नहीं है; प्रत्युत वह देह, इन्द्रियादिरूप है। उस अवस्था में चक्षु और त्वक् आदि भिन्न इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञानों का प्रतिसन्धान किसको होगा? चक्षु द्वारा हुए ज्ञान का त्वक् को, एवं त्वक् द्वारा हुए ज्ञान का चक्षु को प्रतिसन्धान होना असम्भव है। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा स्वग्राह्य विषय का ज्ञान और उसका प्रतिसन्धान होसकता है, इन्द्रियान्तर के विषय का नहीं। परन्तु यहाँ उन ज्ञानों का प्रतिसन्धान करनेवाला कर्त्ता एक है, जो विभिन्न ज्ञान-साधनों (इन्द्रियादि) से अतिरिक्त होसकता है, वही भिन्ननिमित्तक ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। यह स्थिति संघात में सम्भव नहीं।

यदि संघात को देह, इन्द्रिय, मन आदि से अतिरिक्त मानाजाता है; तो आत्म-तत्त्व को देहादि से अतिरिक्त मानने में क्या बाधा है ? फलतः देह, इन्द्रिय आदि जड़ तत्त्वों—एवं जड़भूत उनके संघात—से अतिरिक्त चेतन आत्म-तत्त्व सिद्ध होता है, जो ज्ञान—और विभिन्न ज्ञानों के प्रतिसन्धान—का कर्त्ता है ॥ १ ॥

इन्द्रियाँ चेतन आत्मा हैं—अनात्मवादी अथवा इन्द्रियचैतन्यवादी द्वारा उक्त कथन में प्रस्तुत आपत्ति को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥ (१९९)

[न] नहीं (उक्त कथन ठीक), [विषयव्यवस्थानात्] विषय के व्यवस्थान-निर्धारण से ।

देहादि संघात से अन्य कोई चेतन आत्म-तत्त्व नहीं है । देहादि संघात में प्रधानरूप से यहाँ विभिन्न इन्द्रियाँ ग्राह्य हैं, यह हेतुनिर्देश से स्पष्ट होता है । देह में ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ हैं; उनका ग्राह्य विषय व्यवस्थित है । चक्षु इन्द्रिय न हो, तो रूप का एवं रूपी द्रव्य का ग्रहण नहीं होता; चक्षु के होने पर होता है । यह एक नियम है कि जो जिसके होने पर हो, न होने पर न हो; वह उसका अपना (आत्मीय) समझना चाहिए । इसके अनुसार रूपज्ञान चक्षु का अपना है, क्योंकि चक्षु रूप को देखती है । इसीप्रकार गन्ध घ्राण का, रस रसन का, स्पर्श त्वक् का, शब्द श्रोत्र का अपना विषय है । ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं; वे उस ज्ञान की कर्त्ता हैं, इसलिए वे चेतन हैं । क्योंकि इन्द्रियों के होने पर विषय का ग्रहण होता है, न होने पर नहीं होता । अतः इन्द्रियों से अतिरिक्त किसी अन्य चेतन का मानना व्यर्थ है ।

इन्द्रियचैतन्यवादी का—अपने पक्ष की पुष्टि के लिए प्रस्तुत—'विषयव्यवस्था-नात्' हेतु वस्तुतः सन्दिग्ध है । इन्द्रियों के होने-न-होने पर विषयग्रहण का होना-न-होना जो बतलायागया है, वह क्या इन्द्रियों के चेतन होने से ऐसा है ? अथवा अन्य चेतन आत्म-तत्त्व का—इन्द्रियों के उपकरण-साधन होने से ऐसा है ? इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय की व्यवस्था का निमित्त यह होसकता है कि इन्द्रियाँ—चेतन आत्मा को होनेवाले—विभिन्न ज्ञानों के लिए साधनमात्र हैं । वे आत्मा को ज्ञान कराने में ज्ञानोत्पत्ति के लिए साधनरूप से उपस्थित होती हैं । उनका ग्राह्यविषय एक-दूसरे से भिन्न रहता है । अतः इन्द्रियों के साधनरूप में मानेजाने पर विषय की व्यवस्था अबाधित रहने के कारण उक्त हेतु सन्दिग्ध होने से इन्द्रियों को चेतन-कर्त्ता सिद्ध करने में अक्षम होजाता है ॥ २ ॥

इन्द्रियाँ चेतन आत्मा नहीं—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समा-धान किया—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥ (२००)

[तद्व्यवस्थानात्] इन्द्रियों के विषय की व्यवस्था से [एव] ही [आत्म-सद्भावात्] आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होने के कारण [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध (आत्मविषयक) असंगत है।

विभिन्न इन्द्रियों के अलग-अलग ग्राह्य विषय की व्यवस्था के कारण सब विषयों का ज्ञान करनेवाले एक चेतन आत्म-तत्त्व का सद्भाव सिद्ध होता है। यदि कोई एक इन्द्रिय विषयव्यवस्था से अलग रहकर सब विषयों का ग्रहण करनेवाला होता, तो उससे अतिरिक्त अन्य चेतन आत्मा का अनुमान करना अशक्य एवं व्यर्थ होता। क्योंकि विभिन्न इन्द्रियों का अलग-अलग एक-एक ग्राह्य विषय निर्धारित है, इसलिए कोई एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। इसीकारण इन्द्रियों से अतिरिक्त सब विषयों को ग्रहण करनेवाले ऐसे एक चेतन का अनुमान कियाजाता है, जो विषय की व्यवस्था को लाँघकर उससे ऊपर उठाहुआ है।

उसके सद्भाव को प्रमाणित करने में प्रत्यभिज्ञान एक ऐसा चेतनोपयोगी व्यवहार है, जो सब प्रकार अबाध्य है। जिस व्यक्ति ने आम-फल को पहले देखा, सूंघा और चखा है, वह पुनः आम को देखनेमात्र से उसके पूर्वगृहीत गन्ध और रस को समझलेता है। इसीप्रकार गन्ध का ज्ञान होनेपर-पूर्व-अनुभव किए हुआ व्यक्ति फल के रस और रूप को जानलेता है। एक वह ज्ञाता रूप को देखकर गन्ध को पहचान लेता है; गन्ध को सूँघकर रूप को समझ लेता है; रूप-गन्ध को देख-सूँघकर रस को जान लेता है। इसप्रकार के ज्ञान होने में कोई क्रम निर्धारित नहीं होता। सब विषयों का ज्ञान एक चेतन ज्ञाता को होता रहता है; वही विभिन्न ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द-प्रमाणों से होनेवाले विविध ज्ञानों का तथा संशय आदि के रूप में होनेवाले ज्ञानों का वही एकमात्र आत्मा कर्त्ता एवं प्रतिसन्धाता है, प्रतिसन्धान कर विषय की यथार्थता को जानता है। सब विषयों का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र को वह आत्मा समझता है।

श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय केवल शब्द का ग्रहण करना है; शब्द का अर्थ श्रोत्र का विषय नहीं। परन्तु क्रम से उच्चरित वर्णों को सुनकर उनसे पदों और वाक्यों का प्रतिसन्धानपूर्वक यथायथ संयोजन करके शब्दों से अर्थ की व्यवस्था को जानता हुआ वह चेतन ज्ञाता ऐसे उन समस्त अनेक विषयों को ग्रहण करता है, जिनका ग्रहण किसी एक-एक इन्द्रिय के द्वारा होना असम्भव है। सब विषयों को ग्रहण करनेवाले उस ज्ञाता की—ज्ञेय-विषयक इस अव्यवस्था को एक झटके में तोड़ा या लाँघा नहीं जासकता। तात्पर्य है—इन्द्रियाँ व्यवस्थित विषय हैं, परन्तु इन्द्रियादिव्यतिरिक्त सर्वविषयग्राही चेतन आत्मा अव्यवस्थितविषय है। यह स्थिति

सर्वानुभवसिद्ध है। फलतः यह कहना सर्वथा अयुक्त है कि इन्द्रियों को चेतन मानलेने पर उनसे अतिरिक्त चेतन का मानना व्यर्थ है ॥ ३ ॥

देहादि संघात आत्मा नहीं—देहादि से अतिरिक्त है आत्मा, केवल देहादि संघात आत्मा नहीं; इसके लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥ (२०१)

[शरीरदाहे] शरीर के जलाये जाने पर [पातकाभावात्] पातक–पाप के अभाव की प्रसक्ति से।

यदि भौतिक देहादि संघात को आत्मा मानाजाता है, तो जीवित देह को जला देने पर जलानेवाले को पाप न होने की आपत्ति आती है। सूत्र में 'शरीर' पद का तात्पर्य–शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का संघात समुदाय है, जो जीवित प्राणी के रूप में मानाजाता है। जीवित शरीर के जलानेवाले व्यक्ति को प्राणी की हिंसा से जो पाप लगता है, वह केवल देहादि संघात को आत्मा मानलेने की दशा में प्राप्त नहीं होता; जो कि अवाञ्छनीय है। यहाँ अवाञ्छनीयता यही है कि जो पाप करता है, उसको उस पाप का फल नहीं मिलता; और जिसे पाप का फल भोगना पड़ता है, उसने पाप नहीं किया होता। पाप करनेवाला फलप्राप्ति से बचजाता है; तथा जिसने पाप नहीं किया, वह उसका फल भोगता है।

इसमें रहस्य यह है, देह-इन्द्रिय आदि संघात का जो प्रवाह चलरहा है, वह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता रहता है, दिये की लौ के समान। देह आदि का बनना, बढ़ना, टिकना आदि सब खान-पान आदि आहार पर अवलम्बित है। जो आहार लियाजाता है, वही रस आदि रूप में परिणत होकर शरीर को बनाता, बढ़ाता व स्थिर रखता है। शुक्र-शोणितसम्पर्क के प्रथम क्षण से लेकर आयु के अन्तिम क्षण तक देह में निरन्तर परिवर्त्तन का आधार है–उपयुक्त आहार आदि का रस आदि के रूप में परिणत होना। देह में यह क्रिया प्रतिक्षण चलती है। उसमें शरीर के कुछ अंश नष्ट होते, और कुछ उत्पन्न होते रहते हैं। यह प्रवाह निरन्तर चलते रहने से एक क्षण में देह की जो स्थिति है, वह अनन्तर क्षण में बदलजाती है। इसप्रकार प्रत्येक क्षण में यह शरीर अन्य-अन्य होता रहता है। ऐसी स्थिति में जिस शरीर के द्वारा एक जीवित शरीरादि-संघात को जलादिया-गया है, उस जलानेवाले शरीर ने पाप किया; परन्तु वह देहादि-संघात आनेवाले क्षणों में–परिवर्त्तित होकर–अन्य होजाता है। इसप्रकार पूर्वकृत पाप के फल को अब उस देहादि-संघात के द्वारा भोगाजाता है, जिसने पाप नहीं किया। इसप्रकार देहादि-संघातमात्र को आत्मा मानने पर देहादि प्राणी का प्रतिक्षण भेद होते रहने से कृतहानि और अकृताभ्यागम-दोष प्राप्त होता है।

देहादि-संघात को आत्मा मानने पर एक अन्य दोष यह है—कर्म-कारण के बिना संसार की सृष्टि अथवा देहादि की प्राप्ति होना। इस सब रचना में अनन्त विविधता देखीजाती हैं। इनका कारण होता है—अनन्त प्राणियों के अपने-अपने विविध कर्म। उन्हींके अनुसार विविध योनियों में देहादि की प्राप्ति, तथा अन्य भोग्य-सामग्री की रचना एवं उपलब्धि होती है। यदि देहादि-संघात को आत्मा मानाजाता है, तो उसके उत्पाद-विनाशशील होने से जीवन समाप्त होजाने पर सब-कुछ यहीं समाप्त होजाता है; फिर मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य आदि का पालन तथा व्रत-उपासना आदि सब व्यर्थ होजाता है। इन दोषों की विद्यमानता में देहादि-संघात को आत्मा न मानकर देहादि से अतिरिक्त नित्य चेतन आत्मतत्त्व को स्वीकार करना प्रामाणिक व निर्दोष है ॥ ४ ॥

आत्मा के नित्य होने से शरीरदाह में पातक नहीं—देहात्मवादी जिज्ञासु नित्य आत्मा मानने पर पातक न होने के दोष की उद्भावना करता है। सूत्रकार ने उसकी भावना को सूत्रित किया—

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥ (२०२)

[तद्-अभावः] उस पातक का अभाव है [सात्मकप्रदाहे] आत्मा के सहित देहादि के जलादेने पर [अपि] भी [तद्-नित्यत्वात्] उस आत्मा के नित्य होने के कारण।

देहादि से अतिरिक्त आत्मा को चेतन व नित्य मानने पर जीवित (–सात्मक—आत्मा-सहित) देह को जलादेने से, जलानेवाले को हिंसाकृत पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि आत्मा के नित्य होने के कारण उसे अग्नि आदि से जलायाजाना असम्भव है। ऐसी दशा में न उसकी हिंसा होती है, और न उससे कोई पातक होने की सम्भावना है। यदि नित्य आत्मा की हिंसा होना सम्भव है, तो वह नित्य नहीं मानाजासकता। जहाँ देहात्मवाद में हिंसा निष्फल है; क्योंकि हिंसा करनेवाले को फल प्राप्त नहीं होसकता, वहाँ नित्यात्मवाद में हिंसा होना सर्वथा अनुपपन्न-अयुक्त है। अतः उक्त हेतु के आधार पर आत्मा का—देहादि से अतिरिक्त—सिद्ध होना सन्दिग्ध रहजाता है ॥ ५ ॥

शरीरदाह से पातक का आधार—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान किया—

न कार्याश्रयकर्त्तृवधात् ॥ ६ ॥ (२०३)

[न] नहीं (नित्य आत्मा का नाश, वध, हिंसा, अपितु) [कार्याश्रयकर्त्तृ-वधात्] कार्य के आश्रय शरीर तथा कार्य के करनेवाली इन्द्रियों के वध-आघात-पीडन से (हिंसा होती है)।

देहादि से अतिरिक्त आत्मा को माननेवाले सिद्धान्तपक्ष का कहना है कि हिंसा नित्य आत्मा के वध से होती हो, ऐसा नहीं है। प्रत्युत नित्य आत्मा के समस्त कार्यों का आश्रय यह शरीर है, और उन कार्यों को साधनरूप से सम्पादन करनेवाली इन्द्रियाँ हैं। किसीके शरीर व इन्द्रियों को पीड़ा पहुँचाना, चोट देना, या काट-पीट देना वध अथवा हिंसा कहाजाता है।

आत्मा का कार्य है–सुख, दुःख आदि का अनुभव करना, उनके साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। इनका आश्रय शरीर है। आत्मा अपने समस्त भोग–एवं भोग तथा मोक्ष के सब साधनों–का सम्पादन शरीरप्राप्ति पर कर-सकता है। शरीर के साथ सम्बद्ध हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों को उपलब्ध करने में समर्थ होती हैं। आत्मा के समस्त भोग एवं मोक्षसाधन, शरीर एवं इन्द्रियों के सहयोग पर निर्भर हैं। इनका वध होना हिंसा है; नित्य आत्मा का वध कभी नहीं होता। आत्मा के इन शरीरादि साधनों को नष्ट करना, पीड़ा पहुँचाना हिंसा है, पाप है। इसलिए गत सूत्र द्वारा जो आपत्ति प्रस्तुत कीगई है–आत्मा को नित्य मानने पर उसका वध सम्भव न होने से हिंसारूप पातक का अभाव होगा–वह सर्वथा अयुक्त है।

यदि देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सबके संघात को आत्मा के कार्यों का आश्रय मानाजाता है, तो 'कार्याश्रय' पद का 'कर्त्तृ' पद के साथ कर्मधारय समास करके कार्याश्रय जो कर्त्ता हैं, उनके वध से हिंसा होती है, नित्य आत्मा के वध से नहीं; ऐसा सूत्रार्थ समझना चाहिये। आत्मा के सुखानुभव आदि का सम्पादन देहादि-संघात पर निर्भर है, उसके बिना नहीं होसकता। अतः आत्मा के भोगादि के साधन देहादिसंघात का वध हिंसारूप पातक है; आत्मा का उच्छेद हिंसा नहीं; क्योंकि वह नित्य है, उसका उच्छेद असम्भव है।

इस विवेचन के अनुसार–यदि केवल देहादिसंघात को आत्मा मानाजाता है, देहादि से अतिरिक्त कोई नित्य चेतन आत्मतत्त्व स्वीकार नहीं कियाजाता, तो देहादि के प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण शरीर के दाह व वध से जो आपत्ति हिंसा एवं पातक के अभाव होने के रूप में चौथे सूत्र से प्रस्तुत कीगई है–वह निर्बाध बनी रहती है; अतः देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा को न मानना सर्वथा अयुक्त है ॥ ६ ॥

आत्मा देहादिसंघात से भिन्न—देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि के लिए आचार्य सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥ (२०४)

[सव्यदृष्टस्य] बाईं आँख से देखे पदार्थ का [इतरेण] अन्य (दाईं) आँख से [प्रत्यभिज्ञानात्] प्रत्यभिज्ञान होने के कारण (स्पष्ट होता है–आत्मा इन्द्रियादि से भिन्न है)।

गत प्रकरण [सूत्र ४–६] में देह से आत्मा का भिन्न होना सिद्ध किया-गया। प्रस्तुत प्रसङ्ग [सूत्र ७–११] में इन्द्रियों से आत्मा का भेद सिद्ध किया गया है।

पहले और अनन्तर होनेवाले दो ज्ञानों का एक विषय में जो मिलाहुआ ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। किसी ने देवदत्त को मथुरा में देखा, उसीको कालान्तर में वह दिल्ली में देखकर कहता है-'यह वही देवदत्त है, जिसको पहले मैंने मथुरा में देखा था।' यह ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' है। इसमें पहले मथुरा में देखे का ज्ञान और इस समय दिल्ली में देखे का ज्ञान दोनों सम्मिलित हैं। इसीप्रकार व्यक्ति बाई आँख से देखे पदार्थ को दाईं आँख से प्रत्यभिज्ञान करता है 'जिस अर्थ को मैंने पहले बाईं आँख से देखा था, उसीको मैं अब दाईं आँख से देख रहा हूँ' व्यवहार में ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता देखाजाता है।

यदि इन्द्रियों को चेतन आत्मा मानाजाता है, तथा उनसे अतिरिक्त द्रष्टा अन्य कोई नहीं है, ऐसा कहाजाता है, तो व्यवहार में उक्त प्रत्यभिज्ञान का होना सर्वथा अनुपपन्न होजायगा; क्योंकि चेतन के विषय में यह एक निर्धारित व्यवस्था है कि एक चेतन को हुए ज्ञान का अन्य चेतन को प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता। अर्थ को देखा चैत्र ने, उसका प्रत्यभिज्ञान मैत्र को होजाय, यह असम्भव है। पर यहाँ बाईं आँख से देखे अर्थ का दाईं आँख से देखने पर प्रत्यभिज्ञान का होना, यह सिद्ध करता है कि आँख स्वयं चेतन द्रष्टा नहीं है; प्रत्युत इन दोनों से अतिरिक्त चेतन द्रष्टा है, जो अकेला स्वयं दोनों साधनों (दाईं-बाईं आँख) से हुए ज्ञान का प्रत्यभिज्ञान करता है। विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा हुए ज्ञान का प्रत्य-भिज्ञान होना व्यवहार में बराबर देखाजाता है-'जिस घट को अन्धेरे में मैंने हाथ से छुआ था, उसीको अब प्रकाश होने पर आँख से देख रहा हूँ'। इन्द्रियों को चेतन आत्मा मानने पर यह सब असम्भव है; क्योंकि एक चेतन के ज्ञान का अन्य चेतन को प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता॥ ७॥

चक्षु एक है—इस हेतु में–इन्द्रियात्मवादी की–आपत्ति को आचार्य सूत्र-कार सूत्रित करता है—

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात्॥ ८॥ (२०५)

[न] नहीं (युक्त उक्त हेतु), [एकस्मिन्] एक [नासास्थिव्यवहिते] नाक की हड्डी से व्यवहित (आँख में) [द्वित्वाभिमानात्] दो का भ्रम होने से।

इन्द्रियों से आत्मा को अतिरिक्त सिद्ध करने के लिए जो हेतु गत सूत्र में दियागया, उसका आधार–आँखों का दो होना है। पर वस्तुतः यह ठीक नहीं; क्योंकि चक्षु-इन्द्रिय एक है। बीच में नाक की हड्डी का व्यवधान आजाने के कारण वह एक चक्षु दो-जैसा दिखाई देता है। यह ऐसा है, जैसे कोई लम्बी

वस्तु बीच में व्यवधान आजाने से–एक होती हुई–दो-जैसी दिखाई देती है। दाएँ-बाएँ केवल ऊपर के दो गोलक हैं; चक्षु उनमें एक होने से प्रत्यभिज्ञान सम्भव है। यह अन्य के ज्ञान का अन्य को प्रत्यभिज्ञान होने का प्रसंग नहीं, प्रत्युत चक्षु को अपने ही पूर्वज्ञान का कालान्तर में प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः इन्द्रिय को चेतन आत्मा मानने में कोई दोष नहीं ॥ ८ ॥

चक्षु इन्द्रिय दो हैं—आचार्य सूत्रकार ने दो नेत्रों के होने में तर्क प्रस्तुत किया—

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥ (२०६)

[एकविनाशे] एक के नष्ट होजाने पर [द्वितीयाऽविनाशात्] दूसरे चक्षु का विनाश न होने से [न] नहीं [एकत्वम्] एक होना (चक्षु का)।

एक चक्षु के फूट जाने पर, न रहने पर दूसरा चक्षु बराबर बना रहता है। क्योंकि उस दशा में रूप अथवा रूपी द्रव्य के ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होती। रूपादि विषय का ग्रहण होना चक्षु के अस्तित्व का प्रमाण है। यदि एक चक्षु होता, तो उसका नाश होजाने पर दूसरा चक्षु उपलब्ध न होता; तथा संसार में काणा कोई व्यक्ति न होता। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः चक्षु दो होने पर एक चक्षु के द्वारा देखे का अन्य के द्वारा देखने पर प्रत्यभिज्ञान का होना यह सिद्ध करता है कि चेतन द्रष्टा आत्मा इन्द्रियों से अतिरिक्त है॥ ९ ॥

काणा, अवयवनाश से—इन्द्रियात्मवादी के द्वारा पुनः प्रस्तुत आपत्ति को सूत्र ने सूत्रित किया—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥ (२०७)

[अवयवनाशे] एक अवयव के नाश होने पर [अपि] भी [अवयव्युपलब्धेः] अवयवी के उपलब्ध रहने-बने रहने से [अहेतुः] उक्त हेतु अयुक्त है।

गत सूत्र में चक्षु को दो बताने के लिए जो हेतु–'एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशात्' एक के नाश होने पर दूसरा बना रहता है–प्रस्तुत कियागया, वह असंगत है। कारण यह है–किसी अवयवी का एक-आध अंश नष्ट होजाने पर अवयवी बनारहता है। एक वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट-फट जाने पर वृक्ष वैसा ही उपलब्ध रहता है। ऐसे ही एक चक्षु का कुछ अंश न रहने पर चक्षु बना रहता है। अतः चक्षु को दो कहना युक्तियुक्त नहीं है ॥ १० ॥

चक्षु दो स्पष्ट देखेजाते हैं—आचार्य सूत्रकार ने इस आपत्ति का समाधान किया—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥ (२०८)

[दृष्टान्तविरोधात्] दृष्टान्त के विरोध से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (उक्त हेतु का)।

अवयव के नाश से अवयवी का नाश आवश्यक है। अवयवी कार्य, और अवयव उसका कारण होता है; कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अवश्यम्भावी है। शाखा का नाश होजाने पर उस वृक्ष का नाश सिद्धान्तपक्ष को स्वीकृत है, जो शाखायुक्त था। अतः प्रस्तुत प्रसंग में यह दृष्टान्त प्रतिपाद्य-अर्थ के विरुद्ध है। इसलिए चक्षु-के अवयव का नाश होने पर अवयवी चक्षु का नाश आवश्यक है। इसलिए दो चक्षु होने का प्रतिषेध करना अयुक्त है।

कारणद्रव्य–अवयव के विच्छिन्न होजाने पर यदि कार्य-द्रव्य को अवस्थित मानाजाता है, तो उसे नित्य मानना होगा; जो अनिष्ट है। एक महान् अवयवी जिन अनेक अवयवों से उत्पन्न होता है, वे अवयव अपने रूप में अवयवी हैं। इस-प्रकार एक बड़े अवयवी के कारणभूत अवयव भी बहुत-से अवयवी हैं। उनमें से जिस अवयवी के कारणभूत अवयव विभक्त होकर बिखरजाते हैं, उसका नाश होजाता है; तथा जिनके कारण–अवयव अपनी यथावस्थिति में बने रहते हैं, वे अवयवी अवस्थित रहते हैं। पर वे जिस बड़े अवयवी के अवयवरूप हैं; किसी एक अवयव का नाश होजाने पर वह अवयवी विद्यमान नहीं रहसकता; अन्यथा कारण का विनाश होजाने पर कार्य को अवस्थित मानने से कार्य को नित्य मानना होगा, जो सर्वथा आपत्तिजनक है। ऐसी स्थिति में चक्षु के अवयव नष्ट होजाने पर काणे व्यक्ति को रूप का ज्ञान नहीं होना चाहिये। परन्तु रूपज्ञान होता है, इससे स्पष्ट है, रूपज्ञान का साधन एक चक्षु विद्यमान है। जो चक्षु नष्ट होगया, वह इससे पृथक् था। अतः दो चक्षुओं का अलग-अलग होना सिद्ध होता है।

सूत्र के 'दृष्टान्तविरोध' पद का एक अन्य अर्थ भी सम्भव है। दृष्टान्त का अभिप्राय देखाहुआ अर्थ। मरे हुए व्यक्ति की खोपड़ी में चक्षुओं के स्थान पर अलग-अलग दो गड्ढे देखेजाते हैं, जिनके बीच में नाक की हड्डी का व्यव-धान रहता है। शरीर के इस अंग की ऐसी प्रत्यक्ष बनावट चक्षु को एक माने-जाने के विरुद्ध है। अतः चक्षु दो हैं, यह स्पष्ट होता है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान रखना चाहिये, यदि चक्षु वस्तुतः एक हो, तो लोकव्यवहार में यह कहाजाता है कि अमुक व्यक्ति की आँख फूटगई, तो उसमें दाएँ-बाएँ का नियम नहीं होना चाहिये और न यह व्यवहार सम्भव है कि एक आँख फूटी या दोनों। एक आँख फूटने पर व्यक्ति 'काणा' कहाजाता है, चाहे दाईं आँख फूटी हो या बाईं। दोनों आँखें फूटने पर 'अन्धा' कहाजाता है। यह सब व्यवहार व स्थिति चक्षुओं का दो होना सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात और है--जब कोई व्यक्ति एक आँख को अंगुली या हाथ से मलता है, तो इन्द्रियसन्निकृष्ट दृश्य--अर्थ दो तरह का दिखाई देता है--एक हिलता हुआ और दूसरा स्थिर। दृश्य विषय सामने रक्खा घड़ा एक है; पर कोई-सी एक आंख मलने पर धट की एक आकृति स्थिर और दूसरी चलती-काँपती-हिलती प्रतीत होती है। इस दशा में मली जाती हुई आँख का दृश्य चल, तथा दूसरी आँख का वही दृश्य स्थिर दिखाई देता है। जब एक आँख का अव-पीडन (मलना) नहीं कियाजाता, तब दोनों आँखों का वह दृश्य एक स्थिररूप में दीखता है। यह प्रयोग चक्षु के दो होने को सिद्ध करता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियान्तरविकार, देहातिरिक्त आत्मा का साधक--चेतन आत्मतत्त्व देहादिसंघात से अतिरिक्त है, इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य प्रमाण प्रस्तुत किया--

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥ (२०६)

[इन्द्रियान्तरविकारात्] अन्य इन्द्रिय में हुए विकार से (इन्द्रियाद्यतिरिक्त है आत्मा)।

किसी व्यक्ति ने एक अम्ल (खट्टे) फल के रस (स्वाद) को चखा; रस-ग्रहण के साथ उसने फल के रूप और गन्ध का अनुभव किया। कालान्तर में वैसे फल को जब वह व्यक्ति दूर से देखता है, अथवा उसके गन्ध का ग्रहण करता है, तब पहले अनुभव किये रस की याद आने पर मुँह में पानी भर आता है। इस समय फल के 'रूप' अथवा 'गन्ध' का उस व्यक्ति ने ग्रहण किया है। रूप को देखकर अथवा गन्ध को सूंघकर पूर्वानुभूत रस के स्मरण से जीभ में पानी भर आता है, या लार टपकने लगती है। फल का रूप चक्षु का तथा गन्ध घ्राण-इन्द्रिय का ग्राह्य विषय है; परन्तु पूर्वानुभूत रस की स्मृति से पानी जीभ में भरता है, जो रसन-इन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। यदि इन्द्रियों को चेतन आत्मतत्त्व मानाजाता है, तो चक्षु द्वारा रूप को देखकर रसन-इन्द्रिय को--रूप और रस के साहचर्य के आधार पर--रस का स्मरण नहीं होसकता। क्योंकि चेतन के विषय में यह व्यवस्था है कि एक के देखे हुए को अन्य स्मरण नहीं करसकता। चक्षु द्वारा रूप को देखकर इन्द्रियान्तर रसन में रस की लालसा से पानी का छूटना-विकार यह सिद्ध करता है--इन इन्द्रियों से भिन्न चेतन है, जो विभिन्न इन्द्रियरूप साधनों द्वारा अकेला सब विषयों को ग्रहण करता है। अपने गृहीत विषय का स्मरण होना उपपन्न है। अतः देहादिसंघात से--आत्मा को--अतिरिक्त मानना प्रामाणिक है ॥ १२ ॥

इन्द्रियान्तरविकार, आत्मा का साधक नहीं--इन्द्रियात्मवादी के द्वारा इस विषय में प्रस्तुत आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया--

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥ (२१०)

[न] नहीं (युक्त, इन्द्रियान्तरविकार हेतु) [स्मृतेः] स्मृति का [स्मर्त्तव्य-विषयत्वात्] स्मर्त्तव्य विषय होने से।

स्मर्त्तव्य वह है–जिसका स्मरण कियाजाय। मुँह में पानी–रस का स्मरण होने से–भर आता है; इसलिए रस स्मृति का विषय है। तात्पर्य है, स्मृति एक धर्म है, रस उसका विषय है। किसी निमित्त से वह उभर आती है। पहले कभी रसन-इन्द्रिय से रस का अनुभव कियागया। किसी संस्कार आदि विशेष कारण से अवसर आने पर रसन-इन्द्रिय को रस की स्मृति होने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती। आकाश में चमकता चाँद नायक को अपनी प्रेयसी के मुख का स्मरण करादेता है, तो चक्षु द्वारा देखेगये फल-रूप से रसन को रस का स्मरण होआने में क्या आपत्ति है। रस का इसप्रकार स्मरण होआना सब रसन-इन्द्रिय का कार्य है, इन्द्रियातिरिक्त किसी आत्मा का इससे क्या सम्बन्ध ? अतः इन्द्रियान्तर-विकार हेतु किसी अतिरिक्त आत्मतत्त्व का साधक सम्भव नहीं ॥ १३ ॥

स्मरण इन्द्रिय-धर्म नहीं, आत्मधर्म है—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान किया—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (२११)

[तदात्मगुणसद्भावात्] रसादि स्मृति के आत्मा का गुण होने से [अप्रति-षेधः] प्रतिषेध असंगत है (इन्द्रियातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का)।

मैं स्मरण करता हूँ (-अहं स्मरामि), अथवा 'विविधविषयकस्मृतिमानहम्' अनेक विषयों की स्मृति मुझे है, इत्यादि सर्वजनप्रसिद्ध अनुभव से यह सिद्ध है कि स्मृति आत्मा का गुण-धर्म होसकता है। किसी एक इन्द्रिय को न विविध विषयों का अनुभव होसकता है, न स्मरण। रसादि स्मृति को आत्मा का गुण मानना होगा। चक्षु के द्वारा फल के दीखने पर फलगत रूप के साहचर्य से रसन-इन्द्रिय को रस की स्मृति का होना सर्वथा अनुपपन्न है; क्योंकि इन्द्रियों को चेतन मानने पर–अन्य के देखे से अन्य स्मरण नहीं कर सकता (–नान्यदृष्टमन्यः स्मरति)–इस चेतनसम्बन्धी व्यवस्था के अनुसार चक्षु के देखे से रसन को स्मृति होना असम्भव है। परन्तु स्मृति होती अवश्य है; इससे देहेन्द्रियादिभिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, जो एक रहकर चक्षु व रसन आदि विभिन्न इन्द्रिय-रूप साधनों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण कियाकरता है। उसको रूप के दीखने से रस की स्मृति का होना सर्वथा उपपन्न है।

इसप्रकार स्मृति को आत्मा का गुण मानने पर स्मृति का होना सम्भव है। इन्द्रियों को चेतन आत्मा के स्थानीय मानने पर रूपज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान आदि के कर्त्ता एक-दूसरे से भिन्न होंगे; तब इन विभिन्न विषयक ज्ञानों का

एकत्र प्रतिसन्धान नहीं होसकता। यदि इस स्थिति में प्रतिसन्धान मानाजाता है, तो इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों को ग्रहण कियेजाने की जो व्यवस्था है, वह अनुपपन्न होजायगी। चक्षु रूप का ग्रहण करता है, रसादि का नहीं; रसन केवल रस का ग्रहण करता है, अन्य रूपादि का नहीं; यह सब इन्द्रियों के विषयग्रहण की व्यवस्था को तिलाञ्जलि देनी होगी, जो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है।

फलतः एक चेतन विभिन्न साधनों से अनेक अर्थों का द्रष्टा अपने पूर्वानुभूत अर्थ का स्मरण करता है, यही मानना प्रामाणिक है। इससे स्पष्ट होता है–अनेक अर्थों के द्रष्टा एक आत्मा को अपने पूर्वानुभव का प्रतिसन्धान होने से आत्मा का गुण मानने पर स्मृति का सद्भाव सम्भव है; अन्यथा नहीं। स्मृति के सहारे पर सब प्राणियों के व्यवहार चलते हैं। इसलिए इन्द्रियान्तरविकार आत्मा के–इन्द्रियादि से अतिरिक्त–अस्तित्व का साधक है। यह एक उदाहरणमात्र है, केवल एक नमूना। आत्मा के साधक अनेक हेतुओं का विस्तारभय से यहाँ उल्लेख करना उपेक्षित कर दिया है॥ १४॥

गतसूत्र [१३वें] से प्रदर्शित इन्द्रियात्मवादी की भावना में आचार्य सूत्रकार अन्य दोष प्रस्तुत करता है—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य॥ १५॥ (२१२)

[अपरिसंख्यानात्] परिसंख्यान–परिगणना न करने से [च] तथा (उसप्रकार) [स्मृतिविषयस्य] स्मृति के विषयों की, (उक्त कथन करदियागया है)।

तेरहवें सूत्र से उसप्रकार जो बात इन्द्रियात्मवादी के विचार की कहीगई है, वह स्मृति के विषयों की परिगणना न करने के कारण है। यदि स्मृति के विषयों को यथायथ समझलियाजाता, तो वैसे कथन का अवसर न आता।

स्मृति होने की परिस्थितियाँ दो हैं। पहली है–जहाँ स्मर्यमाण अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होरहा होता। दूसरी इसके विपरीत वह है–जहाँ स्मर्यमाण अर्थ का प्रत्यक्ष होरहा होता है। स्मृति की पहली दशा को–स्मृतिविषय का बोध करानेवाले समानार्थक–चार प्रकार के वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त कियाजाता है। उनका विवरण इसप्रकार समझना चाहिये—

१. 'अज्ञासिषमहममुमर्थम्'–जाना था मैंने उस अर्थ को। इस भूतकालिक अर्थज्ञान के स्मरण में ज्ञाता, भूतकालिक ज्ञान तथा पूर्वज्ञात अर्थ, तीनों की प्रतीति होती है। प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता आत्मा भासित रहता है; क्योंकि प्रत्येक ज्ञान आत्मा को होना सम्भव है। अतः ज्ञान होने पर आत्मा स्वभावतः भासित रहता है। इसलिए यहाँ स्मृति का विषय केवल अर्थ नहीं है, प्रत्युत ज्ञाता, ज्ञान

और अर्थ, तीनों स्मृति के विषय हैं। इसीप्रकार स्मृति का अभिव्यञ्जक अन्य वाक्य है—

२. 'ज्ञातवानहममुमर्थम्'—जाना मैंने उस अर्थ को। इस स्मृतिवाक्य में ज्ञाता प्रधान है; वाक्य में प्रथमान्त पद से कहा अर्थ प्रधान स्वीकार कियाजाता है। इसप्रकार तीसरा स्मृतिवाक्य—

३. 'असावर्थो मया ज्ञातः'—वह अर्थ मुझसे जाना गया अर्थप्रधान है। तथा चौथा स्मृतिवाक्य—

४. 'अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूत्'—उस अर्थ के विषय में मेरा ज्ञान हुआ—ज्ञान प्रधान है।

स्मृति के अभिव्यञ्जक इन चारों प्रकार के वाक्यों की समानार्थकता का आधार यह है कि ये सभी वाक्य समानरूप से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय (अर्थ) तीनों को विषय करते हैं। तात्पर्य है, स्मृतिवाक्य से बोध्य ये तीनों होते हैं, केवल अर्थ नहीं।

जब अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर पूर्वानुभव की स्मृति होती है, यह स्मृति की दूसरी परिस्थिति है। इसे 'प्रत्यभिज्ञान' अथवा 'प्रतिसन्धान' कहाजाता है—एक प्रतीति में अनेक ज्ञानों का संघटित होजाना। ऐसे स्मृतिवाक्य का स्वरूप होता है—'अद्राक्षममुमर्थं यमेव एतर्हि पश्यामि'—देखा था मैंने उस अर्थ को, जिसको ही अब देखरहा हूँ। इस प्रतिसन्धज्ञान का कर्त्ता एक है; न यह ज्ञान विना कर्त्ता के हो-जाता है, और न इसके अनेक कर्त्ता हैं। उक्त वाक्य का 'अद्राक्षम्' क्रियापद भूतकालिक अनुभव और उस अनुभवात्मक ज्ञान की स्मृति को अभिव्यक्त करता है। उस अतीतकालिक ज्ञान का स्मृतिरूप ज्ञान हुए विना 'अद्राक्षम्' क्रियापद का प्रयोग सम्भव नहीं। इसप्रकार ये दो ज्ञान हैं। यहाँ भूतकालिक अनुभवात्मक ज्ञान इस समय होनेवाली स्मृति का विषय है। तात्पर्य हुआ—इन दो ज्ञानों में वर्त्तमानकालिक स्मृत्यात्मक ज्ञान विषयी और भूतकालिक अनुभवात्मक ज्ञान उसका विषय है।

उक्त वाक्य के उत्तर-अर्द्ध में कहा—'यमेव एतर्हि पश्यामि'—उसी अर्थ को मैं अब देखरहा हूँ। इस समय होरहा अर्थ का प्रत्यक्ष तीसरा ज्ञान है। इसप्रकार प्रतिसन्धिज्ञान में स्मर्यमाण अर्थ तीन ज्ञानों से युक्त रहता है; अर्थात् तीन ज्ञानों का विषय रहता है। पूर्वानुभव, पूर्वानुभूत की स्मृति तथा इस समय हो रहे प्रत्यक्ष ज्ञान—इन तीनों ज्ञानों का विषय एक अर्थ है। एकार्थविषयक ज्ञानों की यह स्थिति देहादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि ये सब ज्ञान न अकर्त्तृक हैं, न अनेककर्त्तृक; इनका एक ही कर्त्ता सम्भव है। वही चेतन नित्य आत्मा है। नाना इन्द्रिय आदि नहीं।

इसप्रकार स्मृति का विषय केवल अर्थ है, यह निर्धारित या सीमित नहीं

है; प्रत्युत स्मर्त्तव्य अर्थ के साथ स्मर्त्ता-ज्ञाता एवं पूर्वानुभवात्मक ज्ञान स्मृति का विषय रहते हैं। स्मृति के प्रसिद्ध विषय होते हुए भी ज्ञाता आत्मा का यह कहकर प्रतिषेध कियाजाता है–'आत्मा नास्ति' स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात्' -आत्मा नहीं है, क्योंकि स्मर्त्तव्य अर्थ स्मृति का विषय है। यह प्रतिषेध प्रत्यक्षविरुद्ध होने से अमान्य है।

इस विवेचन के अनुसार स्मृति का विषय होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा को न मानाजाय, तो पूर्वोक्त इन्द्रियान्तरविकार की घटना सम्पन्न नहीं होसकती। ऐसा विकार प्रत्यक्ष देखा-जाता है, इसलिए इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है।

'अद्राक्षम्' इत्यादि पदों से कथित ज्ञान केवल स्मृति है, तथा स्मृति का विषय पूर्वानुभूत केवल रस आदि अर्थ है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वास्त-विकता यह है कि जैसे ज्ञानों का प्रतिसन्धान होता है, ऐसे यह स्मृति का प्रतिसन्धान-प्रत्यभिज्ञान है। यदि 'स्मृति' पद से यहाँ 'प्रत्यभिज्ञान' अर्थ समझ-लियाजाय, तो अधिक उपयुक्त है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में स्मृति की छाया अवश्य रहती है। स्मृति के प्रमाणरूप न मानेजाने से स्मृति के आधार पर आत्मा की सिद्धि को अब अप्रामाणिक न कहाजासकेगा। प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण कोटि में स्वीकार कियाजाता है। फलतः 'अद्राक्षम्' इत्यादि से अभिव्यक्त ज्ञान केवल स्मृति न होकर स्मृति का प्रत्यभिज्ञान है।

सब विषयों का ग्रहण करनेवाला एक ज्ञाता अपने गृहीत विषयों का प्रति-सन्धान करता है–मैंने अमुक अर्थ को जाना था, अब जानता हूँ, अथवा आगे जानूंगा; तथा कभी स्मरण करने की इच्छा रखता हुआ अचानक स्मरण नहीं करपाता; फिर अकस्मात् उसका स्मरण होआता है। इसप्रकार स्मरण की इच्छा के साथ तीनों कालों में होनेवाले स्मृतिज्ञान का प्रतिसन्धान हुआ करता है। यह सब प्रत्यक्ष व्यवहार चेतन नित्य आत्मा के स्वीकार करने पर सम्भव है।

संस्कार-संक्रमण आत्मस्थानीय—गतसूत्रों [४-६] में कहागया देहादि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील हैं, इसीलिए धीरे-धीरे क्षीण होते हुए कालान्तर में नष्ट होजाते हैं। अतः देहादि को आत्मा मानाजाना असंगत है। परन्तु यदि मानलियाजाय कि एक क्षण का देहादि समुदाय अगले क्षण में होनेवाले देहादि समुदाय को अपने समस्त संस्कार संक्रान्त करदेता है, और ऐसा क्रम देहादि-समुदाय की अन्तिम क्षीण अवस्था तक चलता रहता है, तो देहादि से अतिरिक्त आत्मा न मानने पर भी स्मृति एवं प्रतिसन्धान आदि का होना सम्भव होसकता है। देहादिगत संस्कारसमुदाय के उसीप्रकार आगामी देहादि में संक्रान्त होते रहने से–हिंसा करने पर पातक के अभाव की आपत्ति का भी अवकाश नहीं

रहता; क्योंकि हिंसा का निमित्त संस्कार-समुदाय हिंसा का फल भोगने के लिए उसीरूप में बना रहता है। ऐसी स्थिति में देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा मानना व्यर्थ है।

संस्कार अस्थिर है, आत्मस्थानीय नहीं—विचारना चाहिए–प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील देहादिसंघात में स्थिर संस्कारसमुदाय की कल्पना कहाँतक प्रामाणिक है? वस्तुतः संस्कार उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। संस्कारों के स्थिर रहने की कल्पना सर्वथा निराधार है। ऐसी दशा में कोई एक संस्कार सम्भव नहीं, जो तीनों कालों में होनेवाले स्मृति, ज्ञान का अनुभव व प्रत्यभिज्ञान कर सके। इसके फलस्वरूप यही अनुमान होता है कि सर्वविषयग्राही एक आत्मतत्त्व है, जो प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् रहता हुआ अपने ज्ञान एवं स्मृति की क्रमानुक्रमिकता से प्रतिसन्धान कियाकरता है। एक आत्मा के एक देह में रहने एवं देहान्तरों में न रहने से एक आत्मा के ज्ञान का अन्य आत्मा द्वारा प्रतिसन्धान नहीं होपाता। फलतः देहादिसंघात से अतिरिक्त चेतन नित्य आत्मा का अस्तित्व निश्चित है ॥ १५ ॥

मन आत्मस्थानीय—गत प्रकरण में देह और इन्द्रियों का आत्मा न होना सिद्ध कियागया। शिष्य जिज्ञासा करता है, देह इन्द्रिय न सही; पर मन को आत्मा क्यों न मानलियाजाय? आत्मा के उक्त धर्म मन में सम्भव हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को सूचित किया—

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १६ ॥ (२१३)

[न] नहीं (देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा), [आत्मप्रतिपत्तिहेतूनाम्] आत्मा के साधक हेतुओं का [मनसि] मन में [सम्भवात्] सम्भव होने से।

देहादि से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, वे सब मन में घटित होजाते हैं; तथा मन देहादिसंघात में परिगणित है। अतः उन हेतुओं के आधार पर मन को आत्मा मानलेने से आत्मा का अस्तित्व देहादिसंघात से अतिरिक्त नहीं रहता। आत्मा एक, और सब विषयों का ग्रहण करने वाला होसकता है, यह कहागया। ये दोनों बातें मन में हैं। इन्द्रियाँ अनेक हैं, अपने-अपने अलग विषयों को ग्रहण करती हैं; परन्तु मन एक है, और सर्वविषयग्राही है। अतः मन को आत्मा मानकर देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये ॥ १६ ॥

मन, आत्मा नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ १७ ॥ (२१४)

[ज्ञातुः] ज्ञाता-आत्मा के [ज्ञानसाधनोपपत्तेः] ज्ञानसाधनों की उपपत्तिसिद्धि से [संज्ञाभेदमात्रम्] केवल नाम का भेद है (आत्मा को मन कहना)।

ज्ञाता आत्मा सब अर्थों का जाननेवाला है; परन्तु ज्ञान के साधनों के बिना बाह्य एवं आन्तर अर्थों का उसे ज्ञान नहीं होपाता। बाह्य अर्थों के ज्ञान-साधन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ हैं। चक्षु के द्वारा रूप एवं रूपसमवेत द्रव्यों को देखता है। घ्राण से सूँघता है; त्वक् से छूता है, रसन से चखता है, श्रोत्र से सुनता है। इन इन्द्रियरूप बाह्य साधनों के द्वारा ज्ञाता आत्मा बाह्य अर्थों का ग्रहण किया करता है। आन्तर अर्थ हैं—मनन, चिन्तन, स्मरण, संकल्प आदि। इनका ग्रहण करने के लिए आत्मा को एक आन्तर साधन-करण की अपेक्षा रहती है। उस आन्तर करण का नाम 'मन' है। यदि उसे आत्मा के स्थान पर मानलियाजाता है, तो उसके स्थान पर एक अन्य आन्तर करण स्वीकार करना होगा; क्योंकि 'मन' नामक आत्मा को आन्तर अर्थों के ज्ञान के लिए एक आन्तर करण की आवश्यकता होगी। ऐसी स्थिति में केवल नाम का भेद होगा, आत्मा का नाम 'मन' और मनःस्थानीय साधन का अन्य कुछ नाम, जो रखना चाहें। इससे स्वीकृत तत्त्वों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

मन को सर्वविषयग्राही मानाजाता है। आत्मा से अतिरिक्त आन्तर साधन रूप में स्वीकृत मन का यह वक्ष्यमाण एक विशेष कार्य है। आत्मा के साथ पाँचों बाह्य इन्द्रियों का सदा सम्पर्क रहता है; फिर भी एक समय में एक बाह्य इन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता है, अनेक इन्द्रियों द्वारा नहीं। इसका कारण है—बाह्यार्थ का ज्ञान होते समय आत्मा और बाह्य इन्द्रिय के मध्य में मन की अवस्थिति। मन का सम्बन्ध जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ होगा; उस समय उसी इन्द्रिय से ग्राह्य बाह्य विषय का ज्ञान होपायगा, अन्य इन्द्रियग्राह्य विषय का नहीं। इसप्रकार विभिन्न बाह्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होते समय प्रत्येक इन्द्रिय के साथ मन का सम्पर्क स्वीकार कियाजाना मन का एक विशेष कार्य है; सूत्रकार ने स्वयं इसको मन का स्वरूप बताने के लिए मन के लक्षणरूप (१।१।१६) सूत्र में प्रस्तुत किया है।

यदि चिन्तन, मनन, स्मरण आदि के साधनरूप में मन को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो रूप आदि ज्ञान के साधन अन्य इन्द्रियों को स्वीकार करने के लिए किसी को बाधित नहीं कियाजासकेगा; तब सभी इन्द्रियों का विलोप प्राप्त होजायगा, जो सर्वथा अवाञ्छनीय एवं अमान्य है ॥ १७ ॥

मन-आन्तर साधन आवश्यक—यदि कोई कहे कि बाह्य इन्द्रियों की स्थिति का स्पष्ट अनुभव होता है, अतः रूपादि का ग्रहण करने के साधन चक्षु आदि का स्वीकार करना ठीक है; पर मनन, स्मरण आदि के साधन की आवश्यकता नहीं। करुणापूर्ण भावना से सूत्रकार इस विषय में समझाता है—

नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥ (२१५)

[नियमः] नियम [च] तथा (ऐसा) [निरनुमानः] अनुमान-युक्ति-रहित है (जो रूपादि ग्रहण का साधन मानाजाय, स्मरणादि ग्रहण का नहीं)।

रूपादि ज्ञान के करण चक्षु आदि का अस्तित्व रहे, आन्तर स्मरण, मनन आदि का साधन अन्तःकरण न रहे; ऐसा नियम अयुक्त है। कोई ऐसा हेतु नहीं, जिसके आधार पर रूपादि का ग्रहण करनेवाले चक्षु आदि साधनों को स्वीकार करलियाजाय, और मनन-स्मरण आदि के साधन सर्वविषयग्राही अन्तःकरण की उपेक्षा करदीजाय। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द आदि विषय भिन्न हैं, जिनका ग्रहण घ्राण आदि इन्द्रियों द्वारा होता है। सुख, दुःख, स्मरण, मनन आदि विषय रूपादि से सर्वथा भिन्न हैं, जिनका ग्रहण चक्षु आदि साधनों से सम्भव नहीं। उनके ज्ञान के लिए अन्य करण का सद्भाव अपेक्षित है, ऐसा सर्वविषयग्राही अन्तःकरण मन है।

समस्त बाह्य विषय जैसे किसी एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं होते; विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग साधन देखेजाते हैं। चक्षु से गन्ध का ग्रहण नहीं होता, उसके लिए अन्य करण घ्राण है। चक्षु और घ्राण दोनों से रस का ग्रहण नहीं होता, उसके लिए भिन्न इन्द्रिय रसन है। इन तीनों इन्द्रियों से स्पर्श, व शब्द का ग्रहण नहीं होता; उनके ग्रहण के लिए त्वक् और श्रोत्र इन्द्रिय हैं। इसीप्रकार चक्षु आदि समस्त बाह्य इन्द्रियों से सुख दुःख आदि का ग्रहण नहीं होता; उनके ग्रहण के लिए अन्य करण होनाचाहिये। वह अन्तःकरण मन है; जिसका साधक हेतु–ज्ञानों का एकसाथ न होना–अन्यत्र [१।१।१६] बताया है। वही सुखादि ज्ञान का करण है। जिस इन्द्रिय के साथ उसका सान्निध्य हो, उस इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होजाता है; जिसके साथ सान्निध्य न हो, उसका नहीं होता। इसप्रकार मन अनेक ज्ञानों के युगपत् उत्पन्न न होने देने का प्रयोजक है। फलतः यह कथन कि–आत्मा के साधक हेतुओं का सामञ्जस्य मन में होने से अतिरिक्त आत्म-तत्त्व अनावश्यक है–सर्वथा अप्रामाणिक एवं असंगत है॥ १८॥

आत्मा नित्य है—देहादिसंघात से अतिरिक्त है–चेतन आत्मतत्त्व, यह सबप्रकार सिद्ध होगया; पर आत्मा के विषय में अब यह विचार करना अपेक्षित है कि उसे नित्य मानाजाना चाहिये, अथवा अनित्य ? इस संशय का कारण है–विद्यमान पदार्थ का नित्य-अनित्य दोनों प्रकार का होना। आत्मा का सद्भाव उपपादित होजाने पर उसके नित्य-अनित्य होने का संशय बनारहता है। आत्मा के अस्तित्व में जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, उनसे इतना सिद्ध होजाता है कि देह छूटने से पहले आत्मा का अस्तित्व देहादि से भिन्नरूप में रहता है। देह छूट-जाने के अनन्तर भी आत्मा अवस्थित रहता है, इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोक-सम्प्रतिपत्तेः ॥ १६ ॥ (२१६)

[पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्] पहले जीवन के अभ्यास की स्मृति के कारण, [जातस्य] उत्पन्न हुए बालक के [हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः] हर्ष, भय, शोक आदि प्रकट होने की सम्भावना से (आत्मा नित्य होनाचाहिये) ।

जातमात्र बालक के हर्ष आदि का कारण—बालक जन्म के तत्काल अनन्तर ऐसे भाव प्रकट करते देखाजाता है, जिनसे बालक के हर्षोत्फुल्ल व भय-युक्त तथा दुःखी होने की स्थिति का पतालगता है । परन्तु इस जन्म में बालक ने अभी हर्ष, भय, शोक आदि के कारणों का अनुभव नहीं किया होता । वह नहीं जानता कि किन कारणों से हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं, एवं उनको अभिव्यक्त किसप्रकार कियाजाना चाहिये । बालक पैदा होते ही रोता है, और जल्दी स्तन्य (मातृदुग्ध) पान के लिए ललकता है । इससे अनुमान होता है, पूर्व-जीवन में पैदा होते ही माता के स्तन्यपान और उससे प्राप्त सन्तुष्टि का जो इसने अनुभव किया था, उसकी स्मृति के कारण बालक ऐसी चेष्टा करता है । पूर्व-जीवन में जन्म के तत्काल अनन्तर ऐसी चेष्टा उससे पूर्वजीवन के स्तन्यपान अभ्यास को सिद्ध करती है । इससे अन्य पूर्व-पूर्व जीवन का सिद्ध होना आत्मा की अनादि स्थिति का द्योतक है ।

आत्मा का अनादि होना आत्मा के नित्यत्व का साधक है; क्योंकि आत्मा की यह स्थिति--पूर्व-पूर्व जन्मों में अनुष्ठित कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के शरीरों को धारण करना, ऊँच-नीच योनियों में जन्म होना, मानवजन्म पाकर धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, सबल-दुर्बल, नीरोग-सरोग आदि अनेकानेक वैविध्यों के रूप में जीवन प्राप्त करना आदि–जीवन-सम्बन्धी विचित्रताएँ आत्मा की अनादि जन्म-कर्म-परम्परा को सिद्ध करती हैं । फलतः आत्मा एक देह छूटने से पहले और पीछे सदा विद्यमान रहता है ॥ १६ ॥

हर्ष आदि बालक के अनिमित्तक—जातमात्र बालक के हर्ष, भय, शोक आदि के जनक पूर्वजन्माभ्यास की स्मृति के विषय में जिज्ञासु द्वारा उठाई गई आपत्ति को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

पद्मादिषु प्रबोधसंमीलनविकारवत् तद्विकारः ॥ २० ॥ (२१७)

[पद्मादिषु] पद्म-कमल तथा अन्य फूलों में [प्रबोधसम्मीलनविकारवत्] खिलने और मुँदजाने आदि विकार के समान [तद्विकारः] जातमात्र बालक में हर्ष आदि विकार सम्भव हैं ।

कमल तथा अन्य फूल आदि सब अनित्य हैं; उनमें प्रबोध-खिलना और सम्मीलन-मुँदना आदि विकार होते रहते हैं । जातमात्र बालक के हर्ष-शोक आदि

फूलों के प्रबोध-संमीलन आदि विकार के समान निर्निमित्तक हैं। इनके लिए पूर्वजन्म में किये अभ्यास की स्मृति को कारण के रूप में प्रस्तुत करना व्यर्थ है। इसलिए हर्षादि-सम्प्रतिपत्ति हेतु आत्मा को नित्य सिद्ध करने में अक्षम है।

जिज्ञासु ने अपनी बात को यहाँ केवल दृष्टान्त देकर सिद्ध किया, पर हेतु कोई नहीं दियागया। हेतु के अभाव में केवल दृष्टान्त कभी साध्य का साधक नहीं होता; वह सर्वथा निरर्थक है।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि केवल दृष्टान्त के बल पर जातमात्र बालक को होनेवाले हर्ष, शोक आदि के कारणों को क्या झुठलायाजासकता है? प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में सुखादिजनक भोगों को भोगकर उनकी स्मृति से हर्षोल्लास आदि का अनुभव किया करता है। प्रत्यात्मवेदनीय इस परिस्थिति को पद्मादि-संमीलन दृष्टान्त से हटाया नहीं जासकता। जैसे अपने चालू जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुकूल दिनों का स्मरण कर हर्ष आदि का अनुभव करता है, ऐसे जातमात्र बालक के विषय में समझना चाहिये।

फूलों में पंखुड़ियों का विभाग 'प्रबोध' तथा पंखुड़ियों का परस्पर संयुक्त रहना 'संमीलन' क्रिया के कारण होता है। पंखुड़ियों में अनुकूल-प्रतिकूल क्रिया फूलों की ऐसी स्थिति की जनक है। कोई क्रिया बिना हेतु के नहीं होसकती। क्रिया से उसके हेतु का निश्चित ज्ञान होजाता है। यह व्यवस्था जैसे फूलों में है, वैसे जातमात्र बालक के हर्ष, शोक आदि की जनक चेष्टाओं में है। तब केवल दृष्टान्त व्यर्थ होजाता है ॥ २० ॥

पद्म आदि में प्रबोध-संमीलन सनिमित्तक—यदि कहाजाय, फूलों में प्रबोध आदि विकार बिना निमित्त के होता है, ऐसे ही बालक के हर्ष आदि बिना कारण सम्भव हैं। सूत्रकार ने बताया—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २१ ॥ (२१८)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात्] उष्ण-शीत-वर्षाकाल निमित्तक होने से [पञ्चात्मकविकाराणाम्] पृथिव्यादि पञ्चभूतात्मक विकारों के।

पृथिवी आदि पाँच भूतों के पारस्परिक सहयोग से होनेवाले विकारों-परिवर्त्तनों में उष्णकाल आदि कारण हुआ करते हैं। फूलों का खिलना या मुरझाना गरमी-सरदी-वर्षा आदि ऋतुओं पर निर्भर करता है। अनुकूल ऋतु होने पर फूल-फल आदि खिलते-पकते हैं। जब अनुकूल ऋतु नहीं रहता, तब ये नहीं रहते। ऋतु के अनुसार इनमें प्रबोध-संमीलन आदि विकार हुआ करते हैं, अतः वनस्पति आदि में ऐसे विकारों का निमित्त ऋतुकाल है; ये विकार

विना निमित्त के नहीं होते। ऐसे ही जातमात्र बालक के हर्ष आदि का कोई निमित्त होना आवश्यक है। उस अवस्था में पूर्वाभ्यास की स्मृति के बिना अन्य कोई कारण सम्भव नहीं। पूर्व-अनुभव उस स्मृति का कारण है। जातमात्र बालक को वैसा अनुभव पूर्वजन्म में होना सम्भव है। इसप्रकार देहादि के न रहने पर आत्मा के विद्यमान रहने से उसका नित्य होना सिद्ध होता है।

देहादि के समान उसके साथ आत्मा के उत्पाद और विनाश को स्वीकार करना सर्वथा अप्रामाणिक है। अनादि भावरूप पदार्थ के उत्पत्ति और विनाश को सिद्ध करनेवाला न कोई हेतु है, न दृष्टान्त। फलस्वरूप आत्मा को अनित्य नहीं मानाजासकता। जातमात्र बालक के हर्ष आदि विना निमित्त के नहीं हो सकते, ऐसा सर्वथा निश्चित होजाने पर आत्मा को अनित्य नहीं कहाजासकता; क्योंकि हर्ष आदि के निमित्त की उपपत्ति के लिए आत्मा का पूर्व-देहादि से सम्पर्क स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रबोध-संमीलन के उष्णकाल आदि प्रत्यक्ष निमित्त के समान बालक के हर्ष आदि का कोई अन्य दृष्ट कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः निर्बाधरूप से उसका कारण पूर्वजन्मानुभवजनित स्मृति को मानना पड़ता है। यह स्थिति आत्मा को नित्य माने बिना सम्भव नहीं। फलतः आत्मा को अनित्य बताना नितान्त असंगत है॥ २१॥

आत्मा के नित्यत्व में अन्य हेतु—आचार्य सूत्रकार ने आत्मा के नित्य होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्॥ २२॥ (२१९)

[प्रेत्य] मरकर, पूर्वदेह त्यागने के अनन्तर (देहान्तर के ग्रहण करने पर जातमात्र बालक को) [आहाराभ्यासकृतात्] पूर्व-आहार के अभ्यास के कारण [स्तन्याभिलाषात्] स्तन्य की अभिलाषा से (आत्मा नित्य जानाजाता है)।

बालक उत्पन्न होते ही क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वानुभूत आहार के अभ्यास के कारण माता का दूध पीने की अभिलाषा से रोता हुआ देखाजाता है। जातमात्र बालक के रोने व हाथ-पैर चलाने से स्तन्य [मातृदुग्ध] आहार के लिए उसकी अभिलाषा का पता लगता है। ऐसी अभिलाषा पूर्वानुभूत आहार के अभ्यास के विना सम्भव नहीं। कारण यह है चालू जीवन में जब व्यक्ति क्षुधा से पीड़ित होता है, उस समय क्षुधापीड़ा की निवृत्ति के लिए पहले अनेक बार ऐसी दशा में ग्रहण कियेगये आहार का उसे स्मरण होआता है; उससे आहार की अभिलाषा होती है, तथा आहार लेकर क्षुधा को निवृत्त करता है। जातमात्र बालक की ऐसी अभिलाषा पूर्वदेह में हुए इसप्रकार के अभ्यास के बिना सम्भव नहीं। इससे अनुमान होता है—चालू देह ग्रहण करने के पहले इस आत्मा का देहान्तर से सम्बन्ध रहा है, जहाँ यह आवश्यकता होने पर आहार बराबर लेता

रहा है। वही आत्मा पहले शरीर को छोड़कर अन्य नये शरीर को जब ग्रहण करता है, तब क्षुधा से पीड़ित हुआ पहले अभ्यास का स्मरण कर स्तन्य आहार की अभिलाषा करता है। फलतः एक देह नष्ट होकर अन्य देह मिलने से देह-भेद होने पर भी आत्मा में कोई भेद नहीं होता। वह चालू देह मिलने के पहले जैसा था, वैसा अब है, और आगे वैसा ही बना रहेगा ॥ २२ ॥

बालक (जातमात्र) की चेष्टा चुम्बक के समान—जातमात्र बालक की प्रवृत्ति में–जिज्ञासु शिष्य द्वारा आशंकारूप से उद्भावित–अन्य कारण की सम्भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥ २३ ॥ (२२०)

[अयसः] लोहे की [अयस्कान्ताभिगमनवत्] अयस्कान्त-चुम्बक की ओर प्रवृत्ति के समान [तदुपसर्पणम्] बालक का स्तन्य की ओर प्रवृत्त होना सम्भव है।

प्रवृत्ति के लिए पूर्वाभ्यास आवश्यक नहीं है। अनेक बार बिना पूर्वाभ्यास के प्रवृत्ति देखीजाती है। लोहा चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, पर इस प्रवृत्ति में पूर्वाभ्यास का संकेत कहीं प्रतीत नहीं होता। इसीप्रकार जातमात्र बालक की स्तन्यपान आदि की ओर अभिलाषा व प्रवृत्ति बिना आहाराभ्यास के सम्भव है। ऐसी दशा में आत्मा के नित्यत्व-साधन के लिए प्रस्तुत कियागया उक्त हेतु शिथिल रहजाता है ॥ २३ ॥

बालक की चेष्टा चुम्बक के समान नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त आशंका का समाधान करने की भावना से विकल्प करता है–लोहे की चुम्बक की ओर प्रवृत्ति किसी निमित्त से होती है, अथवा बिना ही निमित्त के? इस आधार पर सूत्रकार ने कहा—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥ (२२१)

[न] नहीं है (प्रवृत्ति, बिना निमित्त), [अन्यत्र] अन्य किसी ओर [प्रवृत्त्यभावात्] प्रवृत्ति के न होने से।

लोहे का चुम्बक की ओर प्रवृत्त होना बिना किसी निमित्त के नहीं है, इसका कोई विशेष कारण अवश्य रहता है। क्योंकि केवल लोहा चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, मट्टी का ढेला या लकड़ी का टुकड़ा आदि नहीं। अथवा चुम्बक की ओर लोहा प्रवृत्त होता है, मट्टी के ढेले या अन्य काष्ठ आदि की ओर नहीं। यह स्थिति प्रकट करती है–चुम्बक की ओर लोहे की प्रवृत्ति का कोई निमित्त अवश्य है। वहाँ किसी निमित्त का अस्तित्व कैसे जानाजाता है? इसे इसप्रकार समझना चाहिये।

कोई क्रिया बिना निमित्त के नहीं होसकती। कहीं भी क्रिया का होना उसके निमित्त के अस्तित्व का चिह्न है। फिर लोह-चुम्बकसान्निध्य से होनेवाली

क्रिया में यह नियम देखाजाता है कि केवल लौहधातु चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, न लोह अन्य के प्रति और न अन्य कोई चुम्बक के प्रति प्रवृत्त होता है; यह नियम उनमें नियम-हेतु के अस्तित्व का द्योतक है। क्रिया क्रियाहेतु के–तथा क्रियानियम क्रियानियमहेतु के अस्तित्व को वहाँ प्रकट करते हैं। यही कारण है–उनकी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। वह निमित्त है–चुम्बक में लोहे को अपनी ओर आकर्षण करने की शक्ति। इसके अस्तित्व का निश्चय क्रिया के द्वारा होजाता है।

बालक की स्तन्यपान की ओर नियत प्रवृत्ति देखीजाती है। भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और उसके स्मरण के विना जातमात्र बालक का स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ-पैर मारकर और रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं होसकता। इस जन्म में अभीतक उसने आहार का अभ्यास किया नहीं। इससे पूर्व के जन्मान्तर की साधार कल्पना कीजाती है। पूर्वदेह में रहते हुए चेतन आत्मा ने आहार का अभ्यास किया है; उसीका स्मरण कर इस समय स्तन्यपान की ओर बालक की प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक देहधारी आत्मा के साथ यह व्यवस्था देखीजाती है कि पूर्वानुभूत आहाराभ्यास का स्मरण होने से क्षुधा लगने पर आहार की अभिलाषा होती है।

इस प्रवृत्ति का कोई निमित्त अवश्य है; इस बात का निश्चय अयस्कान्त-दृष्टान्त से होजाता है, क्योंकि बिना निमित्त किसी क्रिया का होना असम्भव है। अयस्कान्त के प्रति लौहधातु की प्रवृत्ति में निमित्त के विद्यमान होने से यह दृष्टान्त स्तन्यपान की प्रवृत्ति के निमित्त का बाधक नहीं होसकता। वह निमित्त-आहाराभ्यास है। इस जीवन में अभीतक उसकी सम्भावना न होनेसे पूर्व-पूर्व जन्मों में स्तन्यपान का अनुभव स्वीकार करना पड़ता है, जो आत्मा के नित्य होने का साधक है। फलतः उसके बाधकरूप में अयस्कान्त का दृष्टान्त प्रस्तुत करना असंगत होजाता है ॥ २४ ॥

आत्मा के नित्यत्व में हेत्वन्तर—आत्मा के नित्य होने में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥ (२२२)

[वीतरागजन्मादर्शनात्] वीतराग का जन्म न देखे जाने से।

वीतराग व्यक्ति का पुनः जन्म नहीं होता, इसका तात्पर्य है–जन्म सराग व्यक्ति का होता है। प्राणी का जन्म है–देहादि से आत्मा का सम्बन्ध होना। यह रागादियुक्त आत्मा का सम्भव है। देहादि की स्थिति विविधप्रकार की है, समान जाति में भी देहादि की विभिन्नता-विशिष्टता प्रकट रहती है। यह सब रागादिमूलक है; विविध विषयों के प्रति सामान्य आसक्ति को 'राग' कहते हैं।

पहले अनुभव किये विषयों का निरन्तर चिन्तन करना राग (आसक्ति) का कारण होता है। जन्म सराग का सम्भव है, यह स्थिति स्पष्ट करती है-विषयों का पूर्वानुभव पूर्वजन्म में देहप्राप्ति के बिना नहीं होसकता। इससे ज्ञात होता है, पूर्व-देहों में अनुभूत विषयों का चिन्तन करता हुआ आत्मा उन विषयों में आसक्त रहता है। वही आसक्ति अन्य देह की प्राप्ति का निमित्त बनजाती है।[1] इस आधार पर जन्म सराग का मानाजाता है।

पहले परित्यक्त शरीर और दूसरे अभिनव-प्राप्त शरीर के मध्य यह आत्मा शृंखला के समान दोनों से सम्बद्ध रहता है। इसीप्रकार पूर्वदेह और उससे पूर्वतर देह के मध्य आत्मा दोनों में सम्बन्ध को स्थापित रखता है। पूर्वतर देह से और पूर्वतम देह के साथ यही व्यवस्था रहती है। इसप्रकार अनादिकाल से शरीर-परम्परा के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहना ज्ञात होता है। इसीके अनुसार आत्मा के साथ राग का अनुबन्ध (सिलसिला-क्रमानुक्रमिक सम्बन्ध) अनादि है। इससे आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

आत्मा की सराग उत्पत्ति—शिष्य जिज्ञासा करता है यह कैसे जानाजाय, कि पूर्वानुभूत विषयों को निरन्तर चिन्तन करना राग का कारण है? आत्मा की उत्पत्ति के साथ राग की उत्पत्ति क्यों न मानलीजाय? सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥ (२२३)

[सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्] सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान [तदुत्पत्तिः] सराग आत्मा की उत्पत्ति मानलेनी चाहिये।

घट आदि द्रव्य रूपादि गुणों के सहित उत्पन्न होते देखेजाते हैं। गुणसहित घटादि की उत्पत्ति जैसे अपने कारणों से होती है, ऐसे राग से सहित आत्मा की उत्पत्ति अपने किन्हीं कारणों से सम्भव है। इसप्रकार आत्मा को उत्पत्तिधर्मक क्यों न मानलियाजाय?

यद्यपि चालू प्रसंग के प्रारम्भ में (२० तथा २३ सूत्रों से) आत्मा के नित्यत्व को लेकर जो आशंकामूलक जिज्ञासा प्रस्तुत कीगई है, उसीके अनुरूप कथन इस सूत्र में है, कोई नई बात नहीं कहीगई। पहले कथनों में पद्मादि तथा

---

१. गीता [८ । ६] में बताया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

जिन भावनाओं से अभिभूत हुआ आत्मा पहले देह को छोड़ता है, उन्हींका स्मरण करता हुआ उनके अनुकूल अन्य देहों को प्राप्त करता है।

अयस्कान्त दृष्टान्त हैं; यहाँ सगुण घटादि; इतना कथनमात्र में प्रकार-भेद समझना चाहिये ॥ २६ ॥

रागादि का कारण संकल्प—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥ (२२४)

[न] नहीं होसकती (सराग आत्मा की उत्पत्ति), [संकल्पनिमित्तत्वात्] संकल्पनिमित्त वाले होने से [रागादीनाम्] रागादि के।

राग, द्वेष ईर्ष्या, मात्सर्य आदि की उत्पत्ति संकल्पनिमित्तक होती है। 'संकल्प' का तात्पर्य है–इष्टसाधनता का ज्ञान होना। अमुक वस्तु इष्ट का साधन है, अमुक नहीं; ऐसा ज्ञान उन वस्तुओं के प्रति राग, द्वेष आदि को उत्पन्न करता है। जो वस्तु जिसके लिए अभीष्ट है, अनुकूल है, उसमें राग और जो अनिष्ट है, प्रतिकूल है, उसमें द्वेष उत्पन्न होजाता है। इसी संकल्प (इष्ट-साधनताज्ञान) से रागादि की उत्पत्ति होती है। जातमात्र बालक को स्तन्य (मातृदुग्ध) में इष्टसाधनता का ज्ञान रहता है, इसीलिए उसमें राग–उस ओर को प्रवृत्ति–होना सम्भव है। इसप्रकार का संकल्प अथवा इष्टसाधनताज्ञान पूर्वानुभव के बिना नहीं होसकता। वह पूर्वानुभव जातमात्र बालक के लिए उसके पूर्वजीवन में सम्भव है। यह स्थिति–इस देह के साथ सम्बन्ध होने से पहले आत्मा का अन्य देहके साथ सम्बन्ध होना प्रकट करती है। इसप्रकार पूर्व, पूर्वतर, पूर्वतम देहों के साथ सम्बन्ध मानेजाने से आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है।

इसके विपरीत यदि सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान सराग आत्मा की उत्पत्ति मानीजाती है, तो राग की उत्पत्ति में इष्टसाधनताज्ञान के निमित्त न रहने के कारण अनिष्ट पदार्थों के प्रति भी राग उत्पन्न होजाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए सराग आत्मा की उत्पत्ति होना असम्भव है।

चालू जीवन में सर्वत्र यह व्यवहार देखाजाता है कि प्राणी जिन विषयों का उपभोग करता है, उनमें अनुकूल विषयों के प्रति संकल्पजनित राग का होना जानाजाता है। इससे निश्चित है–पहले अनुभव किये विषयों का स्मरण रहना संकल्प की सीमा में आता है, जो जातमात्र बालक के स्तन्यपान के प्रति राग से पूर्वानुभूत विषय के स्मरण होने का परिचायक है। वह पूर्वानुभव पूर्वजन्मों को माने विना सम्भव नहीं। यदि संकल्प से अन्य कोई राग का कारण होसकता हो, तो उत्पद्यमान आत्मा में रागोत्पत्ति की कल्पना कहीजासकती है; परन्तु न तो संकल्प से अन्य कोई राग का कारण उपलब्ध है, और न आत्मा का उत्पन्न होना किसीप्रकार सिद्ध है। इसलिए सगुण द्रव्य के समान सराग आत्मा की उत्पत्ति का कहना सर्वथा अयुक्त है।

यद्यपि संकल्प से अन्य धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट को राग का निमित्त मानना अयुक्त नहीं है, तथापि धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट का होना–आत्मा का पूर्वशरीरों के साथ सम्बन्ध के बिना–असम्भव है ; क्योंकि उन पूर्वजन्मों में आत्मा कर्त्ता द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट का सम्पादन होता है। जातमात्र बालक के चालू जीवन में अभी तक उनका होना सम्भव नहीं। फलतः राग की उत्पत्ति में अदृष्ट के साधारण कारण होने पर भी राग का असाधारण कारण विषयों के प्रति तन्मयता–विषयपरायणता–विषयों का निरन्तर अभ्यास, उनका धारावाहिक अनुचिन्तन–ही है। यही संकल्प का स्वरूप है, जो विषयों के प्रति राग को उत्पन्न करता रहता है। यह प्रवाह अनादि होने से आत्मा के नित्यत्व को सिद्ध करता है।

यह सर्वथा युक्त है–सामान्य रागमात्र की उत्पत्ति में संकल्प असाधारण कारण होता है; परन्तु रागविशेष की उत्पत्ति में धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट की कारणता अनिवार्य है। अदृष्ट निमित्त से कोई आत्मा गवादि पशु-योनियों में देहधारण करते हैं, अन्य मानव-योनि में। योनिविशेष अथवा जातिविशेष में उत्पन्न होने से प्राणी का विभिन्न खाद्य आदि पदार्थों में रागविशेष देखाजाना है। गाय, घोड़ा आदि घास चुगना पसन्द करते हैं, अन्य कतिपय प्राणी सिंह, भेड़िया आदि मांस में अधिक रुचि रखते हैं। इन जातिविशेषों में आत्मा के सम्बन्ध का कारण अदृष्ट [धर्म-अधर्म] है; जातिविशेष के अनुसार खाद्य आदि में रागविशेष का होना अदृष्ट-निमित्तक है। उन प्राणियों में भी संकल्प कारण रहता है। इसीलिए संकल्प को राग का असाधारण कारण मानागया है; उसका अन्य कारण कहना अयुक्त है॥ २७॥

शरीर की परीक्षा—नित्य चेतन आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध अनादि प्रवाह से चला आ रहा है, इसका विवेचन गत प्रसंग में कियागया। आत्मा का विविध शरीरों के साथ सम्बन्ध आत्मा के अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार होता है, जहाँ वह अपने किये कर्मों का सुख-दुःखरूप फल भोगता है। प्रमेयों में पठित [१।१।६] आत्मा की परीक्षा के अनन्तर क्रमप्राप्त 'शरीर' को परीक्षा करना अपेक्षित है। परीक्ष्य विषय है–क्या इस शरीर का उपादान कारण कोई एक पृथिवी या जल आदि तत्त्व है? अथवा पृथिवी आदि अनेक तत्त्व इसके उपादान कारण हैं? इस संशय का कारण है–विभिन्न वादियों द्वारा दो, तीन, चार या पांच भूतों से शरीर की उत्पत्ति का बताना। इनमें यथार्थ क्या है? यह परीक्षणीय है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः॥ २८॥ (२२५)

[पार्थिवम्] पार्थिव-पृथिवी से बना है (शरीर, इस भूलोक में)

[गुणान्तरोपलब्धेः] गन्ध के अतिरिक्त अन्य गुणों की उपलब्धि से (मानुष आदि भूलोकीय शरीरों में) ।

आत्मा का शरीर पार्थिव—विचारणीय है, भूलोकीय विविध योनियों के जो शरीर मनुष्य से लेकर पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि के हैं, उनका उपादानकारण तत्त्व क्या है ? सूत्रकार ने बताया, उनका उपादानकारण तत्त्व केवल पृथिवी है । इसीलिए वे सब शरीर पार्थिव हैं । सूत्रकार ने हेतु दिया—पृथिवी गन्ध वाली है, विशेषगुण गन्ध केवल पृथिवी का है; विविध योनियों के जितने भूलोकीय शरीर हैं, वे सब गन्ध वाले हैं, अतः इन शरीरों का उपादान-कारण पृथिवीतत्त्व है । जल आदि अन्य भूततत्त्व-जो द्रव्य कार्यों के उपादानकारण हो सकते हैं–सब गन्धरहित हैं । यदि वे भूलोकीय शरीर के उपादानकारण रहे होते, तो ये सब शरीर गन्धरहित होते । कारण के गुण कार्य में गुणों को उत्पन्न करते हैं । जलादि के गन्धरहित होने से इन शरीरों में गन्ध की उत्पत्ति असंभव होती ।

गन्ध के अतिरिक्त जो अन्य गुण--रूप, रस, स्पर्श आदि-शरीरों में उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथिवीगत गुण हैं । यद्यपि शरीर की रचना में जल आदि अन्य सब भूतों का सहयोग संभव है, आवश्यक भी कहाजासकता है, परन्तु वह निमित्तकारणमात्र रहता है, उपादानकारण नहीं । यह शरीर समस्त चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों (गन्ध, रस आदि भोगों) के आश्रयरूप से उपयोग में आता है, उसकी रचना में पाँचों भूतों का सहयोग रहता है; निमित्तरूप से भूतों के सहयोग का निषेध यहाँ अभिप्रेत नहीं है । प्रत्येक कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में उपादानकारण अथवा समवायिकारण समानजातीय अनेक अवयवद्रव्य रहते हैं, विजातीय अवयव नहीं ; द्रव्यसर्ग में यह एक निश्चित व्यवस्था है । इसलिये भूलोकीय शरीरों का उपादान कारण केवल पृथिवी होने से ये पार्थिव हैं ।

इसीके अनुसार जलीय, तैजस, वायव्य शरीरों की कल्पनामूलक संभावना अन्य लोकों में हो सकती है, लोक-लोकान्तर मानव की दृष्टि से असंख्यात-जैसे हैं । उनमें से कहीं जलीय आदि शरीरों का होना संभव है । वहाँ भी अन्य भूतों के संयोग-सहयोग को उपेक्षित नहीं समझना चाहिये । यह सब पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के अधीन व अनुकूल रहता है । पुरुष के भोग, अपवर्ग आदि प्रयोजन जहाँ जिस रूप में संपन्न होने संभव हों, उसीके अनुकूल शरीर आदि की रचना मान्य रहती है । लोक में अन्य पात्र वस्त्र आदि की रचना में यही स्थिति देखीजाती है । मिट्टी, तांबा, पीतल, धागा आदि विविध उपादानों से अलग-अलग बनाये-जानेवाले पात्रों व वस्त्रों में उन उपादानों से अतिरिक्त अनेक तत्त्वों का सहयोग अपेक्षित रहता है; और पूर्णरूप से उनका उपयोग होता है; परन्तु वह कार्य उपादानतत्त्व के रूप में व्यवहृत होता है, जो यथार्थ है ।

शरीर पाञ्चभौतिक आदि नहीं—भूलोकीय शरीर द्वैभौतिक, त्रैभौतिक चातुर्भौतिक, पाञ्चभौतिक होसकता है; क्योंकि उनके गुण शरीर में उपलब्ध होते हैं (—तद्गुणोपलब्धेः)—ऐसी मान्यता अनेक वादियों के द्वारा प्रस्तुत कीगई हैं। परन्तु 'गुणों की उपलब्धि' हेतु के सन्दिग्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय हैं। गुणों का उपलब्ध होना दोनों अवस्थाओं में सम्भव है; जब उन भूतों को चाहे उपादानकारण माना जाय, अथवा केवल सहयोगी निमित्तमात्र मानाजाय; जैसा अन्य घट-पट आदि द्रव्यों की रचना में देखाजाता है। इसलिए अनेकभूतप्रकृतिक शरीर को बतानेवाले हेतु किसी एक स्थिति के निश्चायक न होने से हेत्वाभास समझने चाहियें।

वस्तुस्थिति यह है–यदि शरीर को अनेकभूतप्रकृतिक मानाजाय, अर्थात् यह स्वीकार कियाजाय कि शरीर के उपादानकारण तत्त्व अनेकभूत हैं, तो शरीर अगन्ध, अरस, अरूप, अस्पर्श रहेगा। न उसमें गन्ध उत्पन्न होसकेगा, न अन्य कोई रसादि गुण। कार्यद्रव्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगत गुणों से उनके अनुकूल हुआ करती है। यह कहने में तो बड़ा सरल लगता है कि सभी भूत कारण रहेंगे, तो सभी गुण कार्य में उत्पन्न होजायेंगे, परन्तु यह सम्भव नहीं है। पहले यह निर्देश कियाजाचुका है कि किसी कार्यद्रव्य के समवायिकारण समान-जातीय अवयव हो सकते हैं, विजातीय नहीं। यदि पृथिवी और जल के उपादान-भूत अवयवों से संहत होकर कोई एक कार्य द्रव्य उत्पन्न कियाजाता है, तो वह न पृथिवीजातीय होगा, न जलजातीय; इसलिये उसमें न गन्धगुण उत्पन्न होसकेगा, न रस; वह अगन्ध, अरस होगा।

इस तथ्य को एक लौकिक उदाहरण से समझना चाहिये। एक स्थान पर दो गाय, तीन घोड़े, दो ऊँट, चार कुत्ते, दो बकरी और दो आदमी सामूहिकरूप में खड़े हैं। उस समूह को क्या कहाजायेगा? उसे गाय, घोड़ा, बकरी आदि में से क्या नाम दियाजायगा? यह स्पष्ट है, जिन विजातीय अवयवों के साहृत्य से वह समूह बना है, उनमें से किसी एक का नाम उस समूह को नहीं दियाजासकता। यह स्पष्ट है, उनमें से कोई जातीय धर्म, समूह में उभरकर नहीं आता। ठीक यही स्थिति पृथिवी आदि विजातीय भूतों के संहत होने में है।

यद्यपि गाय, घोड़ा आदि विजातीयों के समूह को एक नाम न दियाजासके, ऐसी बात नहीं है। समानजातीयता के आधार पर उन्हें एक नाम दियाजासकता है। यदि उनमें कोई मनुष्य नहीं है, तो उसे पशुओं का समूह कहाजासकता है। ये पशु हैं, अथवा ये पशु खड़े हैं; ऐसा कहने में कोई अवास्तविकता नहीं है। यदि उनके किसी धर्म या गुण का कथन करना अभीष्ट है, तो ऐसे गुण का कथन कियाजाना वास्तविक व संगत होगा, जो सामान्यरूप से पूरे समूह में पायाजाता है। उस समूह के किसी एक अवयव के गुण को समस्त समूह के लिये प्रयोग

करना वास्तविक न होगा। ऐसे समूह के लिये यह नहीं कहाजासकता, कि यह मिमियाता है, या हिनहिनाता है; क्योंकि यह विशेषता या गुण समूह के किसी एक अंश का है। हाँ! यह कहा जा सकता है, कि यह घास खाता है।

यदि उस समूह में दो-चार मनुष्य सम्मिलित हैं, तो साधारणरूप से उसे पशु-समूह नहीं कहाजाएगा; प्राणी-समूह कहसकते हैं। उसके विषय में ऐसे धर्म या गुण का कथन कियाजासकता है, जो प्राणीमात्र में सम्भव हो। जैसे—यह समूह स्वयं चलता-फिरता; या सुख-दुःख का अनुभव करता है। यह कहना उचित न समझा जायेगा कि यह समूह घास खाता है। घास का तात्पर्य विशुद्ध हरित,शुष्क तृण आदि है, वनस्पति-समुदाय नहीं।

इस स्थिति को पाँच भूतों के समूह पर विचारिये। जब दो, तीन, चार या पाँच भूत संहत होकर किसी समूह को बनायेंगे, तो जो उन भूतों के सामान्य धर्म या गुण हों, उन्हींका अस्तित्व अथवा उत्पन्न होना समूह में सम्भव है, किसी एक अवयव के विशेष धर्म का नहीं। अनेकभूतप्रकृतिक समूह या कार्य कोई एक विशेषभूतरूप नहीं है, इसीकारण उसमें किसी एक भूत के गुण उत्पन्न नहीं हो सकते। समूह के सामान्य धर्मों का उत्पन्न होना सम्भव है। यह कहा जा सकता है कि भूतों का वह समूह अनित्य है, परिमाणवाला है, इत्यादि। फलतः अनेक भूतों से उत्पन्न कोई एक द्रव्यविशेष सम्भव नहीं है; अतः भूलोकीय शरीर को पृथिवीप्रकृतिक मानना युक्त है। इसी दशा में शरीरगत गन्ध की उपलब्धि पृथिव्युपादान तथा गुणान्तरों की उपलब्धि भी पृथिवीगत गुणों के कारण है। जलादि का सहयोग निमित्तमात्र रूप में सम्भव है॥ २८॥

शरीर पार्थिव में श्रौत प्रमाण—इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने श्रौत प्रमाण का निर्देश किया—

श्रुतिप्रामाण्याच्च॥ २९॥ (२२९)

[श्रुतिप्रामाण्यात्] श्रुति-प्रमाण होने से [च] भी (इस विषय में)।

श्रुतिप्रामाण्य से भी ज्ञात होता है—भूलोकीय प्राणी-शरीर पार्थिव हैं। 'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छताम्' इस वैदिक सन्दर्भ में कार्य का अपने उपादान-कारण में लय होना बतायागया है। चक्षु-इन्द्रिय की रचना सूर्य से अर्थात् तैजस उपादान तत्त्वों से होती है। इसीप्रकार आगे कहा है—'पृथिवीं ते शरीरम्'—शरीर पृथिवी में लय होजावे। देहपात के अनन्तर शरीर तथा अन्य अङ्गों का अपने कारणो मे लय होने का निर्देश स्पष्ट करता है—शरीर की प्रकृति (उपादान कारण) पृथिवी है।

आगे उत्पत्तिविषयक वाक्य है—'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि'—सूर्य को तेरा चक्षु बनाता हूँ। तात्पर्य है, चक्षु की रचना में तैजस तत्त्व प्रकृति है। इसीप्रकार

आगे वाक्य है–'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि'–पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ। तात्पर्य है–शरीर की रचना में पृथिवी प्रकृति है। इसप्रकार यहाँ अपने उपादानकारण से कार्य (विकार) की रचना का निर्देश कियागया है। इससे शरीर का पार्थिव होना स्पष्ट होता है।

घट-पट आदि पदार्थों की रचना में समानजातीय उपादानकारणों से किसी एक कार्य की उत्पत्ति होना देखाजाता है। किसी एक निर्धारित कार्य के भिन्नजातीय उपादानकारण नहीं होते; यह गत पंक्तियों में स्पष्ट करदियागया है ॥ २६ ॥

इन्द्रिय प्रमेय परीक्षा—शरीर की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयक्रम से पठित [१।१।६] इन्द्रियों के विषय में विचार प्रस्तुत कियाजाता है। जिज्ञासा है–इन्द्रियाँ अव्यक्त–अहंकार से उत्पन्न होती हैं, अथवा पृथिवी आदि भूतों से? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा के मूल संशय का कारण बताया—

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥ (२२७)

[कृष्णसारे] चक्षु की काली पुतली के [सति] होने पर [उपलम्भात्] उपलब्ध होने से (रूपादि विषय के), [व्यतिरिच्य] छोड़कर (अपने प्रदेश को) [च] भी [उपलम्भात्) उपलब्धि से (विषय की) [संशयः] संशय होता है (चक्षु आदि इन्द्रियों के उपादान-तत्त्वों के विषय में)।

इन्द्रियकारणविषयक संशय—काली पुतली जो आँख के गोलक में दिखाई देती है, यह भौतिक है। जबतक यह ठीक बनी रहती है, रूपादि विषय की उपलब्धि होती रहती है। यदि यह न रहे, अथवा इसमें कोई विकार आजाय, तो विषय की उपलब्धि नहीं होती। यह स्थिति चक्षु को भौतिक सिद्ध करती है। रूप आदि भूतगुण हैं, उनसे चक्षु का युक्त होना, चक्षु के भूतकार्य होने का साधक है। कृष्णसार–चक्षु के रूपादि गुण अपने कारणगत गुणों से उत्पन्न हो सकते हैं। ये गुण क्योंकि भूतों में रहते हैं, अतः चक्षु आदि इन्द्रियों को भौतिक मानाजासकता है।

इसके अतिरिक्त कृष्णसार–चक्षु में एक विशेषता देखीजाती है—वह अपने से दूर अवस्थित विषय का ग्रहण करता है, तथा विषय के अतिसमीप आने पर उसे ग्रहण नहीं कर पाता। इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध न होने पर वे विषय को ग्रहण कर लें, ऐसा नहीं होता। यह उसी दशा में सम्भव है, जब दूरस्थित विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्वीकार कियाजाय। क्योंकि इन्द्रियाँ विषय से असम्बद्ध हुई कभी विषय को ग्रहण नहीं कर सकतीं। दूरस्थित विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध इन्द्रिय के विभु मानेजाने पर सम्भव है। इन्द्रिय का विभु होना उसके अभौतिक होने को सिद्ध करता है। इसप्रकार इन्द्रियों में

भौतिक-अभौतिक दोनों प्रकार के धर्म उपलब्ध होने से संशय होता है कि इन्हें भौतिक मानाजाय, अथवा अभौतिक ? ॥ ३० ॥

इन्द्रियाँ अभौतिक—प्रथम अभौतिकवादी के विचार को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥ (२२८)

[महदणुग्रहणात्] महत्-बड़ा और अणु-छोटा (दोनों प्रकार का विषय) ग्रहण करने से (इन्द्रियाँ अभौतिक सिद्ध होती हैं) ।

चक्षु-इन्द्रिय बड़े-से-बड़े पदार्थ को ग्रहण करती है-सामने खड़े मकान, बरगद आदि महान् वृक्ष और उनसे भी बड़े पर्वत आदि को समानरूप से ग्रहण करती है । ऐसे ही छोटे-से-छोटे पदार्थ को ग्रहण करती है । मकान के अन्दर सामने रक्खी मेज़, मेज़ पर पुस्तक, पुस्तक में छोटे-छोटे अक्षरों की आकृतियाँ, उनसे भी छोटे सरसों और पोस्त के दाने आदि । फिर समीप अवस्थित घट-पट आदि और दूर से दूरस्थित चन्द्र-तारागण आदि को चक्षु समानरूप से ग्रहण कर लेता है । यह स्थिति चक्षु के भौतिक होने की बाधक है । क्योंकि भौतिक पदार्थ जितना है, उतने विषय को व्याप्त करपाता है; तथा जहाँ है, वहीं सम्बद्ध होकर विषय को ग्रहण करसकता है । अभौतिक पदार्थ विभु होने से सर्वत्र छोटे-बड़े और दूर-समीप के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ रहता है । अतः इन्द्रियों का अभौतिक मानाजाना उचित है ॥ ३१ ॥

इन्द्रियाँ भौतिक हैं—अभौतिकवादी के कथन पर विवेचन करते हुए आचार्य कहता है-केवल महत् और अणु विषय के ग्रहण करने से इन्द्रिय का अभौतिक और विभु होना सिद्ध नहीं किया जा सकता । यह सब किसप्रकार होता है; सूत्रकार ने बताया—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥ (२२९)

[रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्] चक्षु-रश्मि का अर्थ-विषय के साथ सन्निकर्षविशेष से [तद्ग्रहणम्] उस (छोटे बड़े, दूर-समीप) विषय का ग्रहण होता है ।

अणु-महत् ग्रहण में चक्षुरश्मि निमित्त—छोटे-बड़े या दूर-समीप के विषय का ग्रहण, चक्षु की रश्मियों का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर होता है, इन्द्रिय के अभौतिक होने से नहीं । प्रायः प्रत्येक तैजस पदार्थ रश्मियों किरणों का प्रसारण करता है । चक्षु की ऐसी स्थिति उसके तैजस होने को स्पष्ट करती है । प्रदीप के प्रकाश में विषय का ग्रहण इस तथ्य को प्रकट करता है-तैजस पदार्थ रश्मियों को प्रसारित कर घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है । प्रदीप से रश्मियाँ फूटकर विषय तक पहुँचती हैं, यह बात उन दोनों के अन्तराल में

कभी आवरण आजाने से स्पष्ट होजाती है। मकान के अन्दर रक्खा हुआ प्रदीप भींत का आवरण अन्तराल में होने से बाहर के विषय को प्रकाशित नहीं करपाता। इसीप्रकार चक्षु भित्ति आदि से आवृत पदार्थ को देखने में असमर्थ रहता है, क्योंकि बीच में आवरण रहने से चक्षु का अपनी रश्मियों द्वारा पदार्थ के साथ अपेक्षित सम्बन्ध नहीं होपाता। महत् या अणु पदार्थ के ग्रहण होने न होने का यही कारण है; इन्द्रिय का अभौतिक होना नहीं ॥ ३२ ॥

चक्षुरश्मि उपलब्ध नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, चक्षु की रश्मियाँ दिखाई तो देती नहीं; उन्हें क्यों स्वीकार कियाजाय ? सूत्रकार ने जिज्ञासु-भावना को सूत्रित किया—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥ (२३०)

[तद्-अनुपलब्धेः] उस (चक्षुरश्मि) के उपलब्ध न होने से [अहेतुः] हेतु (गतसूत्र में निर्दिष्ट) युक्त नहीं है।

तेज अथवा तैजस पदार्थ रूप और स्पर्श गुणवाला होता है। उसका प्रत्यक्ष उस अवस्था में होजाता है, जब वह महत्परिमाणवाला हो, अनेक अवयवों के संयोग से उत्पन्न हो, तथा रूपगुणयुक्त हो। प्रदीप में यह सब स्थिति विद्यमान रहती है; उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण होजाता है। चक्षु-रश्मि यदि तैजस पदार्थ है, तो उसके रूप-स्पर्शवाला तथा महत्परिमाणवाला होने में कोई बाधक दिखाई नहीं देता। ऐसी दशा में यदि वस्तुतः उसका अस्तित्व होता, तो वह प्रदीप के समान प्रत्यक्ष दिखाई देता। परन्तु उसके न दीखने से स्पष्ट है, चक्षु-रश्मि जैसी कोई वस्तु नहीं। तब रश्मि और अर्थ के सन्निकर्ष से महत्—अणु विषय के ग्रहण होने का कथन अयुक्त है ॥ ३३ ॥

चक्षुरश्मि अनुमान से ज्ञात—आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३४ ॥ (२३१)

[न] नहीं [अनुमीयमानस्य] अनुमान से जानेगये पदार्थ का [प्रत्यक्षतः] प्रत्यक्ष से [अनुपलब्धिः] उपलब्ध न होना [अभावहेतुः] अभाव का कारण।

जो पदार्थ अनुमान-प्रमाण से जानलियागया है, प्रत्यक्ष से उसका उपलब्ध न होना, उस पदार्थ के अभाव का हेतु नहीं कहाजासकता। चक्षु-रश्मि का अस्तित्व आवरणलिङ्ग से अनुमित होता है। ग्राह्य पदार्थ वहाँ से दूर-स्थित रहता है, जहाँ अर्थग्राहक चक्षु-इन्द्रिय अपने गोलक में अवस्थित है। इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष हुए विना अर्थ का ग्रहण होना सम्भव नहीं। दूरस्थित विषय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष चक्षुरश्मियों के द्वारा होता है। चक्षुरश्मियों के अस्तित्व का निश्चय उस समय होजाता है, जब चक्षु और ग्राह्य विषय के

मध्य में आवरण आजाने से उस विषय का ग्रहण नहीं होपाता। मध्य में आये आवरण से चक्षु-रश्मियों का ग्राह्य विषय तक पहुँचने में अवरोध होजाता है। यह स्थिति चक्षु-रश्मियों के अस्तित्व की बोधक है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष से चक्षु-रश्मियों का उपलब्ध न होना उनके अभाव को सिद्ध नहीं करसकता। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वस्तु का बोध प्रत्यक्ष से हो। अन्यथा अनुमान आदि प्रमाणों का स्वीकार करना व्यर्थ होजायेगा। चन्द्रमा के परभाग का पृथिवी पर रहते कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीप्रकार पृथिवी के एक भाग पर रहनेवाले को दूसरी ओर के भाग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका यह तात्पर्य नहीं कि चन्द्रमा के परभाग और पृथिवी के दूसरी ओर के भाग का अस्तित्व नहीं। अन्य प्रमाणों से उनका अस्तित्व सिद्ध है, और वह स्वीकार कियाजाता है। यही स्थिति चक्षु-रश्मियों की समझनी चाहिये ॥ ३४ ॥

चक्षुरश्मि का प्रत्यक्ष क्यों नहीं—यदि चक्षु-रश्मि है, तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? इसका कारण आचार्य सूत्रकार ने समझाया—

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥ (२३२)

[द्रव्य-गुणधर्मभेदात्] द्रव्यधर्म और गुणधर्मों के भेद से [च] तथा [उपलब्धिनियमः] उपलब्धि का नियम (देखाजाता है, विभिन्न पदार्थों के विषय में)।

द्रव्य और गुण आदि पदार्थों में कुछ ऐसी विशेषता रहती हैं, जो उनके प्रत्यक्ष होने का प्रयोजक हैं। सूत्र का 'धर्म'-पद उन्हीं विशेषताओं का निर्देश करता है। जहाँ वे विशेष-धर्म रहते हैं, उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है; जिन द्रव्यादि में वे नहीं रहते, उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता। द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये उसका विशेष-धर्म महत्त्व तथा अनेकद्रव्यवत्त्व है। उस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, जो महत्परिमाण वाला हो, और अनेक अवयव जिसके समवायिकारण हों। गुण के प्रत्यक्ष के लिये उसका उद्भूत होना आवश्यक है।

जाड़े के मौसम में प्रत्येक व्यक्ति वायु लगने से अतिशीतस्पर्श का अनुभव करता है। यह स्पष्ट है—वायु का अपना गुण शीतस्पर्श नहीं है। वायु में अपना गुण अनुष्णाशीत स्पर्श मानागया है। यह शीतस्पर्श का अनुभव वायु से सम्बद्ध जलीय अंशों के कारण होता है। वे जलीय अंश यद्यपि महत्परिमाण वाले तथा अनेकावयव-समवायिकारणवाले हैं, परन्तु उस समय वे बिखरे हुए-से रहते हैं; उनमें तब रूपगुण का उद्भव नहीं होपाता; अर्थात् रूप के रहते भी उसमें उद्भूतत्व धर्म नहीं उभर पाया, इसलिये रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह उद्भूत है। जितने समय ऐसे द्रव्य का अनुभव होता है, उस समय को ऋतुओं में हेमन्त-शिशिर नाम दिया जाता है।

ऐसा अनुभव कालान्तर में तैजस द्रव्य का होता है। जब गरम लू चलती हैं, उस समय वायु के झुलसाने वाले थपेड़ों का अनुभव होता है। स्पष्ट है, उष्णस्पर्श वायु का गुण नहीं, तेजस् का गुण है। सूर्य की प्रखर किरणों के कारण उस समय तैजस अंश वायु के साथ सम्बद्ध होजाते हैं। उनमें रूप के अनुद्भूत रहने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह उद्भूत है। ऐसा अनुभव जितने समय किया जाता है, उस ऋतु को ग्रीष्म कहते हैं। ये अनुभव स्पष्ट करते हैं–गुण के प्रत्यक्ष के लिये उसका उद्भूत होना आवश्यक है। चक्षु-रश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों गुण अनुद्भूत रहते हैं, इसलिये उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण होना सम्भव नहीं ॥ ३५ ॥

इसी वास्तविकता को आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से स्पष्ट किया—

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च
रूपोपलब्धिः ॥ ३६ ॥(२३३)

[अनेकद्रव्यसमवायात्] अनेक द्रव्य-अवयवों में समवाय से,[रूपविशेषात्] रूपविशेष से [च] और [रूपोपलब्धिः] रूप की उपलब्धि होती है।

चक्षु-इन्द्रिय द्वारा द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होता है, जब वह अनेक द्रव्यावयवों में समवेत हो और रूपवाला हो। रूप की उपलब्धि चक्षु से उस समय सम्भव है, जब उद्भूतत्व धर्म-विशेष उसमें उभर आता है। तात्पर्य है– प्रत्यक्ष होने के लिये रूप उद्भूत होना चाहिये। उसके होने से रूप की उपलब्धि होती है, न होने से नहीं होती। चक्षु-रश्मियों में रूप अनुद्भूत रहता है, इसलिये उनका चक्षु से प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं।

तैजस द्रव्य की विभिन्न विशेषतायें पृथक्-पृथक् देखीजाती हैं। सूर्यरश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों गुण-धर्म प्रत्यक्ष होते हैं। प्रदीपरश्मियों में केवल रूप का प्रत्यक्ष होता है; अनुद्भूत होने से स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होपाता। उबलता हुआ जल तैजस अवयवों से संयुक्त रहता है; वहाँ तैजस द्रव्य का स्पर्श धर्म उद्भूत होने से प्रत्यक्ष का विषय है; परन्तु अनुद्भूत रहने से रूप का प्रत्यक्ष वहाँ नहीं होता। इन उदाहरणों से स्पष्ट है, तैजस द्रव्य के रूप-स्पर्श धर्म कहीं दोनों उद्भूत रहते हैं, कहीं उनमें से कोई एक उद्भूत रहता है, और दूसरा अनुद्भूत। कहीं दोनों धर्म अनुद्भूत रहते हैं; ऐसा स्थल चाक्षुष रश्मियाँ हैं। इनमें न रूप उद्भूत रहता है, न स्पर्श। फलतः न चक्षु-रश्मि के रूप का ग्रहण होपाताहै न चक्षु-रश्मियों का। अनेक द्रव्यावयवों में समवेत रहने पर भी चक्षु-रश्मियों में रूपविशेष [रूपगत उद्भूतत्व] के न उभरने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होपाता, यद्यपि अनुमान से उनका अस्तित्व प्रमाणित है ॥ ३६ ॥

चक्षुरश्मि की रचना प्रयोजनानुसार—चक्षु-रश्मियों की ऐसी रचना का आचार्य सूत्रकार ने कारण बताया—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३७ ॥ (२३४)

[कर्मकारितः] कर्मों (अपने पूर्वानुष्ठित धर्म-अधर्मों) के अनुसार कीगई [च] और [इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों की [व्यूहः] रचना [पुरुषार्थतन्त्रः] पुरुष (जीवात्मा) के प्रयोजनों के अधीन होती है।

प्रत्येक आत्मा अपने पूर्व-अनुष्ठित कर्मों के अनुसार जिस योनि को प्राप्त होता, अथवा जिस योनि में जन्म लेता है, वहाँ उसके भोग आदि प्रयोजनों की सिद्धि जिस रूप में अथवा जिसप्रकार सुविधा से हो, उसीके अधीन उसके शरीर-इन्द्रिय आदि की रचना हुआ करती है। संसार में चेतन आत्मा का प्रयोजन—कर्मानुसार सुख-दुःखप्राप्तिरूप—विषयोपभोग है। उसीके अनुसार देह-इन्द्रिय आदि की रचना होती है। चक्षु-रश्मियों की रचना अपने विषय की प्राप्ति के लिए है।

इनमें रूप और स्पर्श के अनुद्भूत रहने का विशेष प्रयोजन है—लोकव्यवहार का निर्बाध सम्पन्न होना। यदि चक्षु-रश्मियों के रूप और स्पर्श उद्भूत हों, तो व्यवहारसिद्धि में बाधा का होना सम्भव है। रूप के उद्भूत होने से गोलक के साथ उसका निरन्तर सम्पर्क निद्रा के अभाव को उत्पन्न कर देगा; निद्रा का होना कठिन होजायगा। तैजस स्पर्श सदा उष्ण रहता है; यह नियम है। यदि वह तैजस स्पर्श चक्षु-रश्मियों में उद्भूत हो, तो गोलक के साथ निरन्तर संपर्क रहने से उसे जला डाले। ग्राह्यविषय के साथ चक्षु-रश्मि का सम्पर्क होने पर उसके जलजाने की, अथवा ज्वलनशील विषय के साथ सम्पर्क होने पर उनमें तत्काल विस्फोट होकर व्यवहार में नितान्त बाधा उत्पन्न हो सकती है। अतः चक्षु-रश्मियों की रचना में रूप-स्पर्श का अनुद्भूत रहना व्यवहार में अत्यन्त अनुकूल व उपयोगी है। यदि ऐसा न होता, तो रूप के उद्भूत होने से चक्षु-रश्मि द्वारा अन्धकार में घटादि द्रव्य दिखाई देता रहता; स्पर्श के उद्भूत होने पर ग्राह्यविषय यदि दग्ध न होता, तो थोड़ा-बहुत गरम तो हो ही जायाकरता। इसीप्रकार चक्षु-रश्मियों का प्रतीघाती द्रव्य से आवरण भी व्यवहार का साधक है। अन्यथा सन्दूक आदि में बन्द पदार्थों का प्रत्यक्ष होजाने से सुरक्षा-साधन सर्वथा व्यर्थ होते।

तात्पर्य है, न केवल देह, इन्द्रिय आदि की रचना; अपितु समस्त विश्व की रचना आत्माओं के कर्मानुसार होती है। अतः वह उस प्रक्रिया के अधीन समझनी चाहिये, जो आत्मा के भोग एवं सुख-दुःखानुभव आदि प्रयोजनों को सिद्ध करती है। चेतन आत्मा अपने शुभ-अशुभ कर्मानुष्ठान द्वारा जिन धर्म-अधर्म का सञ्चय करता है, वही उसके सुख-दुःख आदि भोग का प्रयोजक रहता है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियाँ भौतिक क्यों है ?—इन्द्रियाँ भौतिक हैं, अभौतिक नहीं; इस तथ्य का आचार्य सूत्रकार उपपादन करता है--

अव्यभिचाराच्च[1] प्रतिघातो भौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥ (२३४)

[अव्यभिचारात्] अव्यभिचार–निर्दोष होने से [च] तथा [प्रतिघातः] रुकावट होजाना [भौतिकधर्मः] भौतिकधर्म है ।

किसी पदार्थ की–सामने बाधा आजाने से–रुकावट होजाना भौतिकधर्म है । पृथिवी आदि भूतों से निर्मित पदार्थ का सामने बाधा से प्रतिघात होजाता है ; भौतिक पदार्थ बाधा को पार नहीं करपाता । सामने दीवार होने पर घट, पट, काष्ठ आदि पदार्थों की आगे जाने से रोक होजाती है; अतः घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्षतः भौतिक होना स्पष्ट है । चक्षु-रश्मियाँ भी दीवार सामने होने पर रुकजाती हैं, दीवार को छेद-भेद कर पार नहीं जासकतीं, इसी कारण दीवार से आवृत पदार्थ चक्षु से दिखाई नहीं देता । चक्षु-रश्मियाँ प्रतिघात के कारण आवृत विषय के साथ सन्निकृष्ट नहीं होपातीं, इसलिये वहाँ विषय का ग्रहण नहीं होता । ऐसा प्रतिघात अभौतिक पदार्थ में कहीं नहीं देखाजाता । यह अव्यभिचरित-सर्वथा निर्दोष-व्यवस्था है—प्रतिघात केवल भौतिक द्रव्य में सम्भव है । चक्षु-रश्मियों का भींत आदि से प्रतिघात चक्षु-रश्मियों के भौतिक होने को सिद्ध करता है ।

दूसरी ओर 'अप्रतिघात' भौतिक-अभौतिक दोनों में समानरूप से देखे जाने के कारण अव्यभिचारी–निर्दोष नहीं है । तात्पर्य है, भौतिक पदार्थों में प्रतिघात-अप्रतिघात दोनों समानरूप से देखेजाते हैं; परन्तु अभौतिक पदार्थ में केवल अप्रतिघात रहता है, प्रतिघात की वहाँ सम्भावना नहीं । अतः चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात होना उनकी भौतिकता का साधक है ।

यदि अप्रतिघात के भौतिक–अभौतिक दोनों में रहने से कोई यह कहे कि प्रतिघात होने से इन्द्रियाँ भौतिक कहीजाती हैं, तो अप्रतिघात होने से उन्हें अभौतिक मानाजाना चाहिये । काच, अभ्रपटल (अभरक का पतला-सा पत्ता) और स्फटिक (बिल्लौर पत्थर) में चक्षु-इन्द्रिय का अप्रतिघात देखाजाता है । काचादि से आवृत पदार्थ को चक्षु द्वारा देखलेने में काच आदि से कोई बाधा नहीं होती ।

यह कथन युक्त नहीं है । वस्तुतः काच आदि द्रव्य पारदर्शी होते हैं । इनमें–न केवल अभौतिक, प्रत्युत–भौतिक पदार्थ का भी प्रतिघात नहीं होता । प्रदीपप्रकाश भौतिक है, यह सर्वमान्य है; उसका काच आदि से अप्रतिघात

---

१. **वाचस्पति मिश्र के 'न्यायसूचीनिबन्ध' में यह सूत्र नहीं है; पर अन्य उपलब्ध समस्त संस्करणों में यह सूत्ररूप से निर्दिष्ट है ।**

देखाजाता है। काच आदि से आवृत हुई प्रदीपरश्मियाँ काच आदि से बाहर के दूरस्थित पदार्थों को प्रकाशित करती हैं। अतः काच आदि से इन्द्रियों का अप्रतिघात इन्द्रियों की अभौतिकता का साधक नहीं होसकता। फिर न केवल काच आदि में, अपितु धातु व मिट्टी के पात्रों में भी तेज का अप्रतिघात सर्वविदित है। रसोई में समस्त पाक इसीप्रकार होता है ॥ ३८ ॥

चक्षुरश्मि उपलब्ध क्यों नहीं—चक्षु-रश्मियों की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि का कारण उदाहरणपूर्वक सूत्रकार ने बताया—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥३९॥ (२३६)

[मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्] दोपहर में उल्काओं के प्रकाश की अनुपलब्धि के समान [तद्-अनुपलब्धिः] चक्षु-रश्मियों की अनुपलब्धि समझनी चाहिये।

लोकभाषा में जिसे 'रात में तारा टूटना' कहाजाता है, उसे संस्कृत में 'उल्का' कहते हैं। रात को किसी समय आकाश में तेज़ प्रकाश की धारा दूरतक चलती हुई दिखाई देजाती है। यह उल्का तैजस द्रव्य है। इसमें चाक्षुप प्रत्यक्ष होने के 'महत्, अनेक द्रव्यों में समवेत होना तथा रूपवाला होना' ये सब कारण विद्यमान रहते हैं, इसीलिये रात में इनका प्रत्यक्ष होजाता है। रात की तरह दिन में भी उल्कापात होते रहते हैं; परन्तु दिन में उल्कापात दिखाई नहीं देता। इसका कारण है–सूर्य का तीव्र प्रकाश। यह प्रकाश उल्का के प्रकाश को दबा देता है। इस कारण होता हुआ भी वह प्रकाश दिखाई नहीं देता।

चक्षु-रश्मियाँ उल्का-प्रकाश के समान तैजस द्रव्य हैं। इसमें प्रत्यक्ष होने के पूर्वोक्त महत् आदि सब निमित्त विद्यमान रहते हैं; फिर भी इनके न दीखने का विशेष कारण है। जैसे उल्का-प्रकाश के दिन में न दीखने का कारण तीव्र सूर्यप्रकाश है, इसीप्रकार चक्षु-रश्मियों के न दीखने का कारण है–उनमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श का न होना। अर्थात् चक्षु-रश्मियों में रूप और स्पर्श अनुद्भूत रहते हैं, इसी कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं होता; गत सूत्रों में इसका उपपादन करदियागया है। चक्षु-रश्मियों की प्रत्यक्ष से उपलब्धि न होना, उनके अभाव का कारण नहीं होसकता। आवरणानुपलब्धि से चक्षु-रश्मियों के अस्तित्व का उपपादन प्रथम करदियागया है। किसी भी प्रमाण से वस्तु की उपलब्धि न होना उसके अभाव का कारण माना जाता है ॥ ३९ ॥

शङ्का की जा सकती है–यदि न दीखते हुए भी चक्षु-रश्मिरूप प्रकाश का अस्तित्व स्वीकार कियाजाता है, तो एक मिट्टी के ढले में प्रकाश क्यों न मानलियाजाय ? उसके दिखाई न देने का कारण है–तीव्र सूर्यप्रकाश। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥ (२३७)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [रात्रौ] रात में [अपि] भी [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होने से (मिट्टी के डले के प्रकाश की)।

न केवल–दिन में सूर्यप्रकाश से अभिभूत होकर लोष्ट-प्रकाश दिखाई न देता हो–इतनी बात है; प्रत्युत रात में–जब सूर्यप्रकाश के द्वारा अभिभव होने की कोई आशंका नहीं है–लोष्टप्रकाश दिखाई नहीं देता। सूत्र का 'अपि' पद हेत्वन्तर का समुच्चायक है। लोष्टप्रकाश न केवल प्रत्यक्ष द्वारा दिखाई नहीं देता, अपितु अनुमान आदि प्रमाण से भी उसकी सिद्धि किसी प्रकार नही होती। अतः लोष्टप्रकाश का सर्वथा अभाव मानाजाना युक्त है। परन्तु चक्षु-रश्मि ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष से न दीखने पर भी अनुमान से उसकी सिद्धि स्पष्ट है ॥ ४० ॥

चक्षुरश्मि की अनुपलब्धि न्याय्य है—चक्षुरश्मि की अनुपलब्धि सर्वथा युक्ति-युक्त है, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४१ ॥ (२३८)

[बाह्यप्रकाशानुग्रहात्] बाहरी प्रकाश के अनुग्रह (सहयोग) से [विषयोपलब्धेः] विषय का प्रत्यक्ष होने के कारण [अनभिव्यक्तितः] अभिव्यक्ति (रूपादि की द्रव्य में) न होने से [अनुपलब्धिः] उपलब्धि (प्रत्यक्ष प्रमा) नहीं होती (वैसे द्रव्य की)।

चक्षु द्वारा विषय का ग्रहण करने के लिये बाहरी प्रकाश का रहना आवश्यक होता है। वह न हो, तो चक्षु से विषय का ग्रहण नहीं होपाता। परन्तु बाहरी प्रकाश का अनुग्रह होने पर यह आवश्यक है कि द्रव्य के रूप और स्पर्श का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होरहा हो, तभी उस द्रव्य का चक्षु से ग्रहण होपाता है। रूप का ग्रहण चक्षु से तभी होता है, जब वह उद्भूत हो। रूप के उद्भूत न होने की दशा में उसकी अभिव्यक्ति न होने से रूपाश्रय द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। चक्षु-रश्मि में यही स्थिति है। वहाँ रूप के उद्भूत न होने से वह अभिव्यक्त(चक्षुग्राह्य) नहीं होपाता; इसी कारण उस रूप का आश्रय द्रव्य चक्षु-रश्मि प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'तदनुपलब्धेः' [३।१।३३] हेतु निराधार होने से असंगत है ॥ ४१ ॥

चक्षुरश्मि-अनुपलब्धि अभिभव से नहीं—चक्षु-रश्मियों की अनुपलब्धि का कारण उनके रूप का अनुद्भूत होना बतायागया। पर उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान अभिभव को उसका कारण क्यों न मानलियाजाय? सूत्रकार ने बताया—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥ (२३९)

[अभिव्यक्तौ] अभिव्यक्ति होने पर (पदार्थ की) [च] तथा [अभिभवात्] अभिभव (की सम्भावना) से।

किसी पदार्थ [प्रकाश] के अभिभव की सम्भावना तभी होती है, जब वह अभिव्यक्त हो; तथा प्रत्यक्ष के लिये बाह्यप्रकाश के साहाय्य की अपेक्षा न रखता हो। उल्काप्रकाश ऐसा है, वहाँ अभिभव सम्भव है। परन्तु चक्षु-रश्मि अभिव्यक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ रूप उद्‌भूत नहीं होता। यही चक्षु-रश्मियों की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि का कारण है। फलतः चक्षु-रश्मियों की अनुपलब्धि में अभिभव को कारण मानना अयुक्त है। इससे रश्मियों के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आती ॥ ४२ ॥

विशेष प्राणियों की चक्षुरश्मि का रूप उद्‌भूत—जिन प्राणियों की चक्षु-रश्मियों का रूप उद्‌भूत रहता है, उनको प्रत्यक्ष से देखाजासकता है। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥ (२४०)

[नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनात्] रात में विचरने वाले प्राणियों की नेत्ररश्मि के (प्रत्यक्ष द्वारा) देखे जाने से [च] तथा।

नेत्ररश्मियों का अस्तित्व न केवल अनुमान से सिद्ध है, अपितु प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है। रात में विचरने वाले बिलाव, भेड़िया, बघेरा आदि के नेत्रों की रश्मियाँ रात में प्रत्यक्ष देखीजाती हैं। बैल आदि पशुओं की चक्षु-रश्मियों को भी अँधेरी रात में प्रत्यक्ष से देखाजासकता है। विभिन्न योनियों में अपेक्षित प्रयोजन की सिद्धि के लिए शरीरादि रचना का अंशतः वैशिष्ट्य होना स्वाभाविक है। चक्षु-रश्मि में कहीं रूप उद्‌भूत है, कहीं अनुद्‌भूत; यह स्थिति मनुष्य की चक्षुरश्मि का अभाव सिद्ध नहीं करती। चक्षु होने से, पशुओं के चक्षुओं में रश्मि देखेजाने के कारण मनुष्य-चक्षु की रश्मियों का होना सिद्ध होता है।

यदि कहाजाय, मनुष्य और मार्जार आदि का जातिभेद स्पष्ट है, तब चक्षु का भेद भी सम्भव होसकता है। मार्जार आदि का चक्षु रश्मियुक्त रहे, मनुष्य का रश्मिरहित जातिभेद में ऐसा होना सम्भव है।

यह कथन युक्त नहीं। धर्मी के समान होने पर धर्मभेद होना अप्रामाणिक है। भिन्न जाति होने का आधारभूत धर्मी शरीर है; शरीरभेद से मार्जार व मनुष्य आदि जातिभेद-युक्त हैं, जबकि मनुष्य और मार्जार आदि के चक्षु-धर्मी में कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि विषय का देखना आदि सब धर्मों की वहाँ समानता है। तब मार्जार आदि का चक्षु रश्मियुक्त रहे, और मनुष्य का रश्मिरहित; ऐसा धर्मभेद सम्भव नहीं। धर्मभेद सदा धर्मी के भेद पर आश्रित रहता है। चक्षुरूप धर्मी सर्वत्र समान है; उनमें भेद प्रमाणित नहीं होता।

इसके विपरीत सर्वत्र चक्षु की समानता का साधक आवरण देखाजाता है। जैसे मनुष्य भित्ति आदि का आवरण सामने होने पर उससे आवृत–दूसरी ओर रक्खे–पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, इसीप्रकार मार्जार आदि आवृत पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं करपाते। दोनों जगह समानरूप से चक्षु-रश्मियों का आवरण से अवरोध होजाने के कारण ग्राह्य विषय के साथ उनका सन्निकर्ष न होने से विषय का प्रत्यक्ष नहीं होपाता। यह स्थिति मार्जार आदि की चक्षु-रश्मियों के समान मानव-चक्षुरश्मियों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के बिना सम्भव नहीं होता ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष असार्वत्रिक—जिज्ञासु प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कारणता पर आपत्ति उठाता है। सूत्रकार ने उस आपत्ति को सूत्रित किया—

अप्राप्य ग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ४४ ॥ (२४१)

[अप्राप्य] प्राप्ति-सन्निकर्ष के विना [ग्रहणम्] ज्ञान (होता देखाजाता है), [काच–अभ्रपटल–स्फटिक–अन्तरितोपलब्धेः] शीशा, अभ्रक–पत्तर, स्फटिक (बिल्लौर) से व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि होने से।

इन्द्रियों की अभौतिकता में हेत्वन्तर—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान होता है, यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। कतिपय स्थलों में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के बिना विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता देखाजाता है। काच से आवृत पदार्थ चलता-फिरता या रक्खा हुआ प्रत्यक्ष से स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं है। किन्हीं दो पदार्थों का सन्निकर्ष–उनके मध्य में किसी व्यवधान के न होने पर सम्भव है। परन्तु यहाँ इन्द्रिय और अर्थ के मध्य में काच आदि का व्यवधान स्पष्ट है। यह व्यवधान चक्षुरश्मि का विषय के साथ सन्निकर्ष में रुकावट डालदेता है। यदि चक्षुरश्मि का विषय के साथ सन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान का हेतु हो, तो यहाँ व्यवहित वस्तु के साथ उसका सन्निकर्ष न होने से वस्तु का ग्रहण न होना चाहिये। परन्तु काच आदि से व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष से ग्रहण स्पष्ट देखाजाता है। यह स्थिति प्रकट करती है–इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं, अर्थात् विषय के साथ सन्निकर्ष के विना विषय का ग्रहण करने में समर्थ रहती हैं। यह विशेषता अभौतिक पदार्थों में देखीजाती हैं। प्राप्यकारी होना भौतिक धर्म है। इससे इन्द्रियों का अभौतिक होना प्रमाणित होता है। अतः गतसूत्रों [३०–४३] द्वारा जो इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध कियागया है, वह युक्त प्रतीत नहीं होता ॥ ४४ ॥

इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥ (२४२)

[कुड्यान्तरितानुपलब्धेः] भींत से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि न होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध अयुक्त है (इन्द्रियों के भौतिक होने का)।

यदि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं, अर्थात् ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष हुए विना इन्द्रियाँ अपने विषय का ग्रहण करती हैं, इसलिये अभौतिक हैं, तो भींत आदि से व्यवहित पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होना चाहिये। परन्तु ऐसे स्थलों में विषय का उपलब्ध होना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में इन्द्रियों के भौतिक होने का प्रतिषेध सर्वथा निराधार व असंगत है ॥ ४५ ॥

चक्षु का काचादि से अवरोध क्यों नहीं—जिज्ञासा होती है, यदि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, तो काच आदि से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि कैसे होजाती है ? वह न होनी चाहिये। सूत्रकार ने बताया—

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥ (२४३)

[अप्रतिघातात्] प्रतिघात-रुकावट न होने से (काच आदि के द्वारा चक्षु-रश्मि की) [सन्निकर्षोपपत्तिः] सन्निकर्ष होना उपपन्न-युक्त है।

काच आदि पदार्थ पारदर्शी होते हैं; ये चक्षुरश्मि का प्रतिघात नहीं करते। चक्षुरश्मि उनमें से पार होकर विषय के साथ सन्निकृष्ट होजाती है, तभी विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता है। अतः इन्द्रियों के भौतिक होने में कोई बाधा नहीं है ॥ ४६ ॥

जो यह समझता है कि भौतिक पदार्थ का अप्रतिघात नहीं होता, अर्थात् भौतिक का प्रतिघात होना आवश्यक है, उसका यह समझना ठीक नहीं है। सूत्रकार ने बताया—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्ये-
ऽविघातात् ॥ ४७ ॥ (२४४)

[आदित्यरश्मेः] सूर्य की किरणों के, [स्फटिकान्तरिते] स्फटिक (बिल्लौर) से व्यवहित में [अपि] तथा [दाह्ये] पकाये जानेवाले पदार्थ में [अविघातात्] विघात-रुकावट-अवरोध न होने से (भौतिक रश्मियों का)।

सूत्र के 'अविघातात्' पद का सम्बन्ध शेष तीनों पदों के साथ होजाता है—आदित्यरश्मेः-अविघातात्; स्फटिकान्तरिते—अविघातात्; दाह्ये—अविघा-तात्। तैजस भौतिक रश्मियों की व्यवधान से रुकावट न होने के ये तीन उदाहरण पृथक्-पृथक् हैं। आदित्यरश्मि भौतिक हैं। यदि पानी का घड़ा

ढक्कन देकर धूप में रखदियाजावे, तो घड़े के अन्दर का पानी गरम होजाता है। घड़े की पर्त्त सूर्य की किरणों का अवरोध नहीं करती। व्यवधान को भेद-कर भौतिक सूर्यकिरणें पानी से संयुक्त होकर उसे उष्ण करदेती हैं।

स्फटिक के बने प्रदीपकोष्ठ (आधुनिक, काचनिर्मित लालटैन के समान दीपाधानी) में रक्खी दीपशिखा-स्फटिक के पर्त्त का व्यवधान होने पर–बाहर रक्खे पदार्थों को प्रकाशित करदेती है। दीपशिखा से फैलती रश्मियों के भौतिक होने पर भी स्फटिक उनका अवरोधक नहीं होता। वे व्यवधान को पार कर विषय के साथ सन्निकृष्ट हो, उसका ग्रहण करादेती हैं।

चूल्हे पर रक्खी कड़ाही में खाद्य पदार्थ भूनाजाता या तलाजाता है। तवे पर फुलका पकायाजाता है। कड़ाही या तवा तैजस उष्ण रश्मियों का अवरोध नहीं करते। तैजस रश्मियाँ उनमें प्रसृत होकर वहाँ रक्खे पदार्थ के साथ सन्निकृष्ट हो उसे पकादेती हैं। स्पष्ट है, व्यवधान होने पर भी भौतिक तैजस रश्मियों का अवरोध नहीं होता, विषय के साथ रश्मियों का सन्निकर्ष होजाता है। अन्यथा विना सन्निकर्ष के दाह होना संभव न होगा।

सूत्र के 'अविघात' पद का तात्पर्य है–व्यवधायक द्रव्य से व्यवहित द्रव्य की कार्यक्षमता का प्रतिबन्ध न होना। एक घड़े में अच्छा ठण्डा पानी भरा हुआ है। बाहर से छूने पर शीतस्पर्श का त्वगिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण होता है। शीतस्पर्श जल का गुण-धर्म है। इन्द्रिय के साथ द्रव्य का सन्निकर्ष हुए विना शीतस्पर्श का ग्रहण नहीं होसकता। ग्रहण होने से ज्ञात होता है–घड़े के अन्दर रक्खे जल के अंश घड़े की ढीली बनी पर्त्त में से फैलते हुए बाहर की ओर आजाते हैं। कभी-कभी जलीय अंश बाहर की ओर फैलता व टपकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि अनेक बार भौतिक पदार्थ का व्यवधान से प्रतिघात नहीं होता। फलतः अप्रतिघात केवल अभौतिक पदार्थ का धर्म हो, ऐसा नियम नहीं है। यह भौतिक पदार्थों में भी देखाजाता है। इसलिये चक्षुरश्मियों का व्यवधान से अप्रतिघात होने पर उनकी भौतिकता बनी रहती है; उसमें किसी बाधा की संभावना नहीं॥ ४७॥

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सन्दिग्ध—शिष्य जिज्ञासा करता है, इन्द्रियों की यह स्थिति किसी निर्णय पर न पहुँचाकर एक नये सन्देह को उत्पन्न कर देती है। आचार्य ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात्॥ ४८॥ (२४५)

[न] नहीं (निश्चायक, पूर्वोक्त इन्द्रियविषयक कथन) [इतरेतरधर्म-प्रसङ्गात्] एक-दूसरे से विरोधी धर्म की प्राप्ति के कारण।

इन्द्रियों का काच आदि व्यवधान से अप्रतिघात उनकी अभौतिकता को

सिद्ध करता है; तथा भींत आदि व्यवधान से प्रतिघात होने के कारण उनकी भौतिकता प्राप्त होती है। भौतिक और अभौतिक होना, दोनों धर्म एक-दूसरे के विपरीत हैं। इस विरोध-प्रसंग की निवृत्ति के लिये आवश्यक है-भींत आदि से इन्द्रियों का प्रतिघात होने के समान काच आदि से भी प्रतिघात होना स्वीकार कियाजाय। इस दशा में काच आदि से व्यवहित वस्तु का ग्रहण हो जाने के कारण यह स्पष्ट होता है-इन्द्रियाँ विषय के साथ सन्निकर्ष हुए विना उसका ग्रहण करलेती हैं। यह स्थिति विषयग्रहण में इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता को प्रकट करती है, जो इन्द्रियों के अभौतिक होने का साधक है। यदि इन्द्रियाँ भौतिक होतीं, तो उनके लिये प्राप्यकारी होना आवश्यक था। विषय के साथ सन्निकर्ष हुए विना विषय का ग्रहण न करसकना भौतिक धर्म है। तब इन्द्रियों को भौतिक क्यों मानाजाय? अभौतिक क्यों न मानाजाय? अन्यथा इसका नियामक कोई कारण बताना चाहिये ॥ ४८ ॥

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता में सन्देह नहीं—आचार्य सूत्रकार ने व्यवस्था का नियामक कारण प्रस्तुत करते हुए उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धि-वत्तदुपलब्धिः ॥ ४९ ॥ (२४६)

[आदर्शोदकयोः] आदर्श (शीशा) और उदक (पानी) में [प्रसादस्वा-भाव्यात्] प्रसाद-स्वच्छता-पारदर्शिता का स्वभाव होने से [रूपोपलब्धिवत्] रूप-स्वरूप की (प्रतिबिम्बरूप में) उपलब्धि के समान [तद्-उपलब्धिः] उस (काच आदि से व्यवहित वस्तु) की उपलब्धि होजाती है।

कुछ पदार्थ ऐसे देखेजाते हैं, जिनमें स्वभावतः स्वच्छता-पारदर्शिता धर्म रहता है। उन पदार्थों की रचना ऐसी है, उनका स्वरूप ऐसा है-वे विषय के साथ सन्निकर्ष होने में इन्द्रिय का प्रतिघात नहीं करते। ऐसे पदार्थों का व्यव-धान होने पर इन्द्रिय का व्यवहित विषय के साथ सन्निकर्ष होजाता है। जैसे किसी के सामने शीशा रक्खा है; चक्षु-रश्मियाँ जब उसके परभाग के आधार द्रव्य से टकराकर उलटी लौटती हैं, तो उनका अपने (शीशे के सामने बैठे पुरुष के) मुख के साथ सन्निकर्ष होने पर मुख का ग्रहण होता है। इसप्रकार मुख की उपलब्धि को (मुख के) प्रतिबिम्ब का ग्रहण कहाजाता है। यह शीशे की रचना के सहयोग से होता है, अतः शीशे का ऐसा स्वरूप उसका निमित्त है। यदि शीशे का आधार-पटल दूषित होजाता है, अथवा शीशा खुरदरा होकर धूमिल होजाता है, तो मुख-प्रतिबिम्ब का वैसा ग्रहण नहीं होता। साधारण भींत आदि में ऐसे प्रतिबिम्ब का ग्रहण कभी नहीं होता। यह शीशे और भींत के रचनामूलक स्वरूपभेद के कारण है कि एक जगह प्रतिबिम्ब दीखता है, दूसरी जगह नहीं।

ठीक इसीप्रकार चक्षु-रश्मियों का काच, अभ्रक, स्फटिक, सलिल आदि पारदर्शी स्वच्छ पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता; रश्मियाँ उन्हें पारकर विषय के साथ सन्निकृष्ट होजाती हैं। भींत आदि से प्रतिघात होजाता है, इसका नियामक उस द्रव्य का स्वभाव है अर्थात् रचनामूलक उसके स्वरूप की ऐसी स्थिति। इससे चक्षु-रश्मियों के भौतिक होने पर भी व्यवधायक पदार्थ के स्वच्छ तथा अस्वच्छ होने से उनका प्रतिघात अथवा अप्रतिघात हुआ करता है। ऐसी स्थिति इन्द्रियों के अभौतिक होने की साधक नहीं है ॥ ४९ ॥

पदार्थ-स्वभाव में किसीका नियोग नहीं—जिस पदार्थ की जैसी रचना है, उसमें किसीका शासन नहीं चलता कि ऐसा क्यों है ? अथवा ऐसा क्यों नहीं ? पदार्थ की इसी स्थिति को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५० ॥ (२४७)

[दृष्टानुमितानाम्] प्रत्यक्ष से देखेगये तथा अनुमान से जानेगये पदार्थों के विषय में [नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः] नियोग-ऐसा हो, प्रतिषेध-ऐसा न हो, यह व्यवहार अनुपपन्न है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप ज्ञात होजाता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष से नहीं जानेजाते, उनका ज्ञान अनुमान-प्रमाण से होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाण से जाने हुए पदार्थों के स्वरूप के विषय में कोई भी वस्तु-परीक्षा करनेवाला व्यक्ति विधि-निषेधात्मक रूप से ऐसा आदेश नहीं कर सकता कि यह पदार्थ 'ऐसा होवे' अथवा 'ऐसा न होवे'। जो पदार्थ अपनी रचना के अनुसार जैसा है, उसका वही वास्तविक निर्धारित स्वरूप है। ऐसा आदेश कोई नहीं देसकता कि यदि 'रूप'-गुण चक्षु से गृहीत होता है, तो 'गन्ध'-गुण भी चक्षु से गृहीत होना चाहिये; अथवा 'गन्ध' चक्षु से गृहीत नहीं होता, तो 'रूप' भी गृहीत नहीं होना चाहिये। वस्तुस्वभाव जैसा है, उसको वैसा स्वीकार करना पड़ता है। धूम से यदि अग्नि का अनुमान होता है, तो जल का भी होना चाहिये; अथवा धूम से जैसे जल का अनुमान नहीं होता, तो अग्नि का भी नहीं होना चाहिये; ऐसे निर्देश कोई बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं कर सकता। क्योंकि जो पदार्थ जैसा है, उसका रचनामूलक जो स्वरूप है, अस्तित्व है, उसका जो अपना धर्म है, वह प्रमाण से वैसा ही प्रतिपादित किया जाता है। वही प्रमाण का विषय होता है।

इसके विपरीत जिज्ञासु का विधि-निषेधरूप यह निर्देश कि—काच आदि के समान भींत आदि से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात न होना चाहिये, अथवा भींत आदि के समान काच आदि से प्रतिघात होना चाहिये, ऐसा निर्देश बुद्धि-मत्तापूर्ण नहीं है। वस्तु-स्वभाव जैसा है, उसे किसी आदेश द्वारा अन्यथा नहीं

किया जासकता। वस्तुविशेष के व्यवधान से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात अथवा अप्रतिघात होना विषयवस्तु की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि पर निर्भर है। यदि काच आदि का व्यवधान होने पर व्यवहित विषय-वस्तु का चक्षु-रश्मियों द्वारा ग्रहण होजाता है, तो निश्चय है, काच आदि से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात नहीं हुआ। तभी इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष होने से अर्थ-ग्रहण संभव होता है। यदि चाक्षुप प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष अपेक्षित न हो, तो व्यवहित दूरस्थित प्रत्येक पदार्थ का चाक्षुप प्रत्यक्ष होना चाहिये। पर यह संभव नहीं। अतः काच आदि के व्यवधान में वस्तु का प्रत्यक्ष होजाना इन्द्रिय-अर्थ के परस्पर सन्निकर्ष का द्योतक है। सन्निकर्ष होना काच आदि से चक्षु-रश्मियों के अप्रतिघात को सिद्ध करता है।

यह स्थिति भींत आदि में नितान्त नहीं है। इनका व्यवधान होने पर चक्षुरश्मि द्वारा व्यवहित विषयवस्तु की उपलब्धि नहीं होती। उपलब्धि का न होना सिद्ध करता है—इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होरहा। सन्निकर्ष का न होना भींत आदि से चक्षु-रश्मियों के प्रतिघात का साधक है। फलतः भींत आदि में चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात और काच आदि से अप्रतिघात वस्तु-स्वभाव के कारण है; इससे चक्षु-रश्मियों के अस्तित्व तथा उनके भौतिक होने में कोई बाधा नहीं आती। चक्षु के समान सभी इन्द्रियों का भौतिक होना प्रमाणित होता है॥ ५०॥

इन्द्रिय एक या अनेक—गत प्रकरण से इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध होजाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है—इन्द्रिय एक मानना चाहिये, अथवा अनेक? इस विषय में संशय के कारणों को—शिष्य-भावना का ध्यान रखते हुए—स्वयं सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः॥ ५१॥ (२४८)

[स्थानान्यत्वे] स्थान के अन्य—भिन्न होने पर [नानात्वात्] नाना—अनेक होने से (वस्तुओं के), [अवयविनानास्थानत्वात्] अवयवी के (एक ही अवयवी वस्तु के) नाना—अनेक स्थान (आधार-आश्रय) होने से [च] तथा [संशयः] संशय होता है (इन्द्रियों के विषय में)।

घट, पट आदि अनेक पदार्थ विभिन्न स्थानों पर रक्खे रहते हैं, इससे उनका एक-दूसरे से पृथक् होना तथा बहुत होना सर्वविदित है। क्या इसीप्रकार अपने-अपने गोलकों में एक-दूसरे से पृथक् रहते हुए इन्द्रियों को बहुत मानना चाहिये? अथवा अनेक आश्रयों में रहनेवाले एक अवयवी के समान अनेक गोलकों में आश्रित इन्द्रिय को केवल एक मानना चाहिये? वस्तुओं का दोनों

प्रकार से देखाजाना संशय का कारण है। प्रत्येक अवयवी अपने अनेक अवयवरूप उपादान-कारणों में आश्रित रहता है। अवयवी एक है, आश्रय अनेक हैं। ऐसे ही इन्द्रिय एक होता हुआ अनेक गोलकरूप आश्रयों में रहसकता है ॥ ५१ ॥

'त्वक्' एक इन्द्रिय केवल—'स्थूणानिखननन्याय' के अनुसार विषय के विवेचन और दृढ़तापूर्वक सिद्धान्त की स्थापना के विचार से सूत्रकार ने प्रथम एकदेशी पक्ष का आश्रय लेकर कहा—

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥ (२४६)

[त्वक्] त्वक् (नाम का एक इन्द्रिय है) [अव्यतिरेकात्] व्यतिरेक–भेद न होने से।

त्वक् नाम के एक इन्द्रिय को मानना युक्त है। कारण यह है–शरीर में इन्द्रिय का कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ त्वक् पहुँचा न हो। समस्त गोलक त्वक् से व्याप्त हैं। सम्पूर्ण शरीर को त्वक् सब ओर से घेरे हुए है। जब त्वक् चक्षु-गोलक में स्थित रहती है, तब रूप का ग्रहण करती है; जब नासिका के अग्रभाग में रहती है, तब गन्ध का ग्रहण करती है। इसीप्रकार जिह्वा के अग्रभाग में रस का एवं कर्णशष्कुली में रहते शब्द का ग्रहण करती है। स्पर्श का ग्रहण समस्त शरीर में होता रहता है। किसी विषय का ग्रहण ऐसे गोलक से नहीं होता, जहाँ त्वक् विद्यमान न हो। अतः जिसने सब गोलकों को व्याप्त किया हुआ है, और जिसके होने पर सब विषयों का ग्रहण होता है; वह एकमात्र इन्द्रिय त्वक् है। उसीके द्वारा स्थानभेद से रूप आदि समस्त विषयों का ग्रहण होना सम्भव है। एक से कार्य सम्पन्न होजाने पर अनेक इन्द्रिय मानना अनावश्यक है।

'त्वक्' एक इन्द्रिय विवेचन—इस मान्यता के प्रतिषेध के लिए एक युक्ति इसप्रकार प्रस्तुत कीजाती है—

१. प्रत्यक्ष अनुभव के अनुसार त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण करता है। देखाजाता है–त्वक्-इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर अन्धे व्यक्ति के द्वारा रूप का ग्रहण नहीं होता। यदि इन्द्रिय केवल एक त्वक् हो, और उसीके द्वारा रूप, गन्ध आदि सब विषयों का ग्रहण होना मानाजाय, तो अन्धे व्यक्ति को रूप का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि त्वक्-इन्द्रिय उसका यथावत् विद्यमान रहता है; स्पर्श का ग्रहण करने में उसे कोई बाधा नहीं होती। परन्तु रूप का ग्रहण वह नहीं करसकता। अतः केवल त्वक् एक इन्द्रिय का मानाजाना सर्वथा असंगत है।

यदि कहाजाय, त्वक् के अवयवविशेष से रूप का ग्रहण होता है; उसके न रहने पर अन्धे व्यक्ति को रूप दिखाई नहीं देता। जैसे–त्वक् के अवयवविशेष चक्षुगोलक में यदि धूआँ लगता है, तो उसके स्पर्श का अनुभव होजाता है, अन्य

भागों पर नहीं होता। इसीप्रकार त्वक्-इन्द्रिय का एक विशेष अवयव रूप का ग्रहण करलेता है, अन्य अवयवों द्वारा वह कार्य नहीं होपाता। अन्धे व्यक्ति का रूपग्राहक त्वक्-अवयव विकृत होजाने से रूप का ग्रहण नहीं होता। इसलिए त्वक् से अतिरिक्त इन्द्रिय मानना अनावश्यक है।

त्वक्-एकेन्द्रियवादी का उक्त कथन परस्पर-विरुद्ध होने से दोषपूर्ण है। वादी ने पहले कहा-एकमात्र इन्द्रिय त्वक् है। अब कहता है-त्वक् के अवयव-विशेष से रूप का ग्रहण होता है। इसका तात्पर्य हुआ, जितने ग्राह्य विभिन्न विषय हैं, उनके अनुसार उनका ग्राहक साधन होगा। एकमात्र त्वक् सब विषयों का ग्रहण नहीं करपाता। जो अवयवविशेष स्पर्श का ग्रहण करता है, वह रूप का ग्रहण नहीं करपाता; तथा जो रूप का ग्रहण करता है, वह गन्ध का ग्रहण नहीं करपाता। इसप्रकार जितने रूप आदि विषय हैं; उनके ग्राहक उतने अवयवविशेष हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनका अपना वैशिष्ट्य परस्पर सबका भेदक है। इस रूप में विभिन्न विषयों के ग्राहक-साधन अनेक सिद्ध होजाते हैं। यह कथन पहले कथन-केवल त्वक् एक इन्द्रिय है-के विरुद्ध है, अतः असंगत व अमान्य है।

इसके अतिरिक्त एकमात्र त्वक्-इन्द्रिय की सिद्धि के लिए प्रयुक्त 'अव्यतिरेक' हेतु संदिग्ध है, अतः साध्य का साधक नहीं होसकता। 'अव्यतिरेक' का तात्पर्य है-सब इन्द्रियों का त्वक् से भिन्न न होना। इस अभेद का साधक बताया-सब इन्द्रियों के गोलकों में त्वक् का व्यापक होना। इसके अनुसार सब इन्द्रियों का एक होना तभी मानाजासकता है, जब नियमपूर्वक व्याप्य और व्यापक को अभिन्न मानाजाय। परन्तु व्याप्य-व्यापक का अभिन्न होना असम्भव है। यह सम्बन्ध दो के परस्पर भिन्न होने पर सम्भव होता है। जब त्वक् सर्वत्र गोलकों में व्यापक है, तो निश्चित ही व्याप्य उससे भिन्न है। तब उनके 'अव्यतिरेक' का अस्तित्व संदिग्ध होजाता है।

इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है-त्वक् से व्याप्त होने के समान प्रत्येक गोलक पृथिवी आदि पाँच भूतों से भी व्याप्त रहता है। शरीर का कोई अंश ऐसा नहीं, जहाँ पाँचों भूत विद्यमान न हों। यद्यपि शरीर की रचना में उपादानभूत तत्त्व केवल पार्थिव अवयव होते हैं, परन्तु शेष भूतों का निमित्तरूप में सहयोग अनिवार्य मानागया है [३। १। २८-२९]। इसलिए शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं, जो पाँचों भूतों से व्याप्त न हो। इन्द्रियगोलक शरीर का भाग होने के कारण पाँचों भूतों से व्याप्त हैं। यदि व्यापक होना विषयग्रहण के साधन का प्रयोजक हो, तो त्वक् के समान पञ्चभूत को भी सर्वविषयग्राहक मानना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है; पञ्चभूतों की संघटित विषयग्राहकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। तब केवल इन्द्रियगोलकों में व्यापक होने से त्वक्

की सर्वविषयग्राहकता सन्दिग्ध होजाती है। फलतः त्वक् अथवा कोई अन्य एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्राहक नहीं होसकता ॥ ५२ ॥

इन्द्रिय एक नहीं—एकेन्द्रियवाद की मान्यता के प्रतिषेध के लिए सूत्रकार ने स्वयं कहा—

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (२५०)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [युगपत्] एक-साथ [अर्थानुपलब्धेः] अर्थों–विषयों की उपलब्धि न होने से।

सब विषयों को ग्रहण करनेवाला एक इन्द्रिय मानने पर एक-साथ सब विषयों का ग्रहण होजाना प्राप्त होगा। कोई ऐन्द्रियक ज्ञान होने के लिए इन्द्रिय का अर्थ के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ, आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध होना अपेक्षित होता है। यदि सब विषयों का ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय एक है, तो उसका एक-साथ अनेक विषयों से सम्बन्ध होना सम्भव है। उस दशा में अनेक विषयों का ज्ञान एक काल में होजाना चाहिए। परन्तु इसप्रकार एक-साथ रूप, रस आदि अनेक विषयों का ज्ञान कभी नहीं होता। इसलिए यह कथन निराधार है–सब विषयों का ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय एक है। रूप-रस आदि अर्थों के ज्ञान का साहचर्य [एक-साथ होजाना] न होने से सब विषयों के ग्राहक एक इन्द्रिय का मानाजाना अयुक्त है।

यदि ऐसा सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय स्वीकाराजाता है, तो संसार में अन्ध, बधिर आदि का होना अनुपपन्न होजायगा। क्योंकि चक्षु आदि के न रहने पर स्पर्श का ग्रहण होते रहने से और सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय माने-जाने से स्पर्श के साथ उसी इन्द्रिय द्वारा रूपादि का ग्रहण प्राप्त होने से अन्ध-बधिर आदि का होना असम्भव होगा। परन्तु स्पर्श, रूप आदि अर्थों के ज्ञानो का न तो साहचर्य होता, और न संसार में अन्धों बहरों आदि का अभाव; इसलिए सब विषयों के ग्रहण करनेवाले एक इन्द्रिय का मानाजाना सर्वथा निराधार है ॥ ५३ ॥

'त्वक्' केवल एक इन्द्रिय नहीं—एकेन्द्रियवाद में आचार्य सूत्रकार ने अन्य दोष प्रस्तुत किया—

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५४ ॥ (२५१)

[विप्रतिषेधात्] विरोध होने से [च] भी [न] नहीं [त्वक्] त्वक् नामक [एका] एकमात्र इन्द्रिय।

प्रत्यक्ष का विरोध होने से एकमात्र त्वक्-इन्द्रिय का मानना अयुक्त है। रूपग्राहक चक्षु–इन्द्रिय द्वारा दूरस्थित रूप का ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, इस व्यवस्था के अनुसार

चक्षु-इन्द्रिय का दूरस्थित विषय के साथ सन्निकर्ष चक्षु-रश्मियों द्वारा होता है। यदि केवल त्वक् एक इन्द्रिय मानाजाता है, तो दूरस्थित पदार्थ के साथ त्वक् का सन्निकर्ष सम्भव नहीं; तब उस पदार्थ और उसके रूप का—त्वक-इन्द्रिय द्वारा-ग्रहण सन्निकर्ष के बिना मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में त्वक्-इन्द्रिय अप्राप्यकारी होगा। अप्राप्यकारी का तात्पर्य है—ग्राह्य विषय को प्राप्त हुए बिना—विषय के साथ सन्निकर्ष के बिना--विषय को ग्रहण करनेवाला। इसप्रकार यदि त्वक्-इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानाजाता है, तो भींत आदि से व्यवहित तथा दूरस्थित अदृश्य पदार्थ का प्रत्यक्ष होजाना चाहिये। परन्तु यह कभी सम्भव नहीं। इसलिए त्वक्-इन्द्रिय को रूप आदि सब विषयों का ग्रहण करने-वाला नहीं मानाजासकता।

यदि कहाजाय कि त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण तो विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर करता है, पर रूप आदि का ग्रहण सन्निकर्ष के बिना करलेता है; अतः वह प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी उभयप्रकार की क्षमतावाला इन्द्रिय मानाजासकता है। यह कथन असंगत है, क्योंकि एक धर्मी में दो विरोधी धर्मों का होना प्रमाणविरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय के अप्राप्यकारी होने से व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थित, अदृश्य) पदार्थों का ग्रहण होजाना प्राप्त होता है; जो सर्वथा प्रत्यक्षविरुद्ध है। आवरण आदि के रहने पर तथा दूरस्थित पदार्थ का त्वक्-इन्द्रिय से ग्रहण कभी नहीं होता। अन्यथा रूप की उपलब्धि और अनुपलब्धि में समीप और दूर एवं अव्यवहित-व्यवहित होने की कारणता का विलोप होजायगा, कहीं भी स्थित पदार्थ के रूप का ग्रहण समानरूप से होजाया करेगा। परन्तु ऐसा कभी सम्भव न होने से एकमात्र त्वक्-इन्द्रिय को मानना सर्वथा निराधार है॥ ५४॥

इन्द्रियाँ केवल पाँच—गत प्रकरण में इन्द्रिय के एकत्व का प्रतिषेध होने से अनेकता प्राप्त होती है; उसमें संख्या-व्यवस्था के लिए सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्॥ ५५॥ (२५२)

[इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्] इन्द्रियों के अर्थ (ग्राह्यविषय) पाँच होने से (पाँच इन्द्रिय होना प्रमाणित होता है)।

सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' पद का तात्पर्य है प्रयोजन अथवा उपयोग; इन्द्रिय का प्रयोजन क्या है? किसी नियत विषय का ज्ञान कराने में सहयोग देना। त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान कराने में साधन है; परन्तु उसी इन्द्रिय से रूप का ग्रहण नहीं होता; रूप के ग्रहण के लिए चक्षु-इन्द्रिय का अस्तित्व अनुमान से निर्धारित कियाजाता है। इसीप्रकार गन्ध के ग्रहण में इन दोनों [त्वक्, चक्षु]

इन्द्रियों का कोई उपयोग नहीं होता, उसके लिए घ्राण-इन्द्रिय का अनुमान होता है। ऐसे ही रस और शब्द के ज्ञान के लिए रसन और श्रोत्र-इन्द्रिय अनुमित होते हैं। ये पाँच विभिन्न विषय हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। इनके ग्रहण के लिए पाँच इन्द्रिय अपेक्षित होते हैं, क्योंकि किसी एक इन्द्रिय के द्वारा इनमें से एकाधिक विषय का ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। इसलिए ज्ञानग्राहक इन्द्रियाँ केवल पाँच हैं, यह निर्धारित होता है ॥ ५५ ॥

'अर्थपञ्चत्व' हेतु असाधन—शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि विषयग्रहण की दृष्टि से इन्द्रियाँ पाँच मानीजाती हैं; तो विषयों के बहुत होने के कारण इन्द्रियों की संख्या और अधिक मानीजानी चाहिये। शिष्य-भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न तदर्थबहुत्वात् ॥ ५६ ॥ (२५३)

[न] नहीं (युक्त, इन्द्रियों का पाँच होना) [तदर्थबहुत्वात्] उन–इन्द्रियों के अर्थ (ग्राह्यविषय) बहुत होने से।

पाँच विषयों के ग्रहण कियेजाने के आधार पर इन्द्रियों का पाँच सिद्ध कियाजाना युक्त नहीं है। कारण यह है–इन्द्रियों के यथायथ पूर्वोक्त विषय अपने क्षेत्र में ही बहुत होते हैं। जैसे त्वक् का विषय स्पर्श है, पर स्पर्श के अनेक भेद हैं—उष्णस्पर्श, शीतस्पर्श, अनुष्णाशीतस्पर्श, मृदुस्पर्श, कठोरस्पर्श आदि। ऐसे चक्षु का ग्राह्यविषय रूप है, परन्तु रूप के नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र आदि अनेक भेद हैं, जो एकदूसरे से भिन्न होते हैं। इसीप्रकार गन्ध, रस और शब्द विषयों को अनेक भेदों में विभक्त जानाजाता है। सुरभि-असुरभि आदि गन्ध; मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त आदि रस; ध्वनिमात्र तथा वर्णात्मक आदि शब्द; इनमें अन्य अनेक अवान्तर भेद। ऐसी स्थिति में जो यह कहता है कि ग्राह्य विषय पाँच होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं; उसके अनुसार विषयों की संख्या बहुत अधिक होने से इन्द्रियाँ उतनी मानीजानी चाहियें ॥ ५६ ॥

'अर्थपञ्चत्व' हेतु यथार्थ—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥ (२५४)

[गन्धत्वादि-अव्यतिरेकात्] गन्धत्व आदि से अभेद होने के कारण [गन्धादीनाम्] सबप्रकार के गन्ध आदि का, [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध अयुक्त है।

गन्धत्व जाति से युक्त सबप्रकार के गन्ध एक श्रेणी में आजाने से अभिन्न हैं। सुरभि, असुरभि, आदि भेद होने पर भी वे सब 'गन्ध' हैं। गन्धरूप में सबका अभेद है। नील, पीत, हरित आदि कोई भेद हो, वह सब 'रूप' है। इसी-

प्रकार रसत्व, स्पर्शत्व, शब्दत्व आदि जातियों से विशिष्ट समस्त रस, स्पर्श, शब्द अपने वर्ग में एकात्मता से सीमित रहते हैं, इसलिए समस्त गन्धसमूह घ्राण का, रससमूह रसन का, रूपसमूह चक्षु का, स्पर्शसमूह त्वक् का और शब्दसमूह श्रोत्र का अनुमान कराते हैं; गन्ध आदि विषयों का केवल एकदेश घ्राण आदि का अनुमापक नहीं होता, जिससे अन्य एकदेश के ग्रहण के लिए इन्द्रियान्तर की कल्पना करना अपेक्षित हो। गन्धमात्र घ्राण का अनुमापक होता है; ऐसे रूपमात्र आदि यथायथ चक्षु आदि के। फलतः विषयसमूह के एकदेश को लेकर पाँच इन्द्रिय होने का प्रतिषेध करना असंगत है।

समस्त गन्ध–उसको ग्रहण करने के असाधारण साधन–घ्राण-इन्द्रिय से गृहीत होजाते हैं। इसीप्रकार समस्त रस रसन-इन्द्रिय से, समस्त रूप चक्षु-इन्द्रिय से, समस्त स्पर्श त्वक्-इन्द्रिय से तथा समस्त शब्द श्रोत्र-इन्द्रिय से गृहीत होजाने के कारण कोई विषय ऐसा शेष नहीं रहता, जो अन्य साधन की कल्पना का प्रयोजक हो। इसप्रकार इन्द्रियों के ग्राह्यविषय पाँच वर्ग में सीमित होने से उनके ग्राहक इन्द्रिय पाँच हैं, यह प्रमाणित होता है; न न्यून न अधिक॥ ५७॥

'विषयत्व' सामान्य एकेन्द्रिय-साधक—शिष्य पुनः आशंका करता है, यदि सामान्य (जाति) के आधार पर समस्त ग्राह्य अर्थ को एक वर्ग में संगृहीत करलियाजाता है, तो 'विषयत्व' सामान्य से समस्त विषय को एक वर्ग में लाकर केवल एक इन्द्रिय उसका ग्राहक क्यों न मानलियाजाय? सूत्रकार ने शिष्यभावना को सूत्रित किया—

'विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम्॥ ५८॥ (२५५)

[विषयत्वाव्यतिरेकात्] 'विषयत्व' के आधार पर अव्यतिरेक–अभेद से (सब विषयों के एक वर्ग में समीकृत होजाने से) [एकत्वम्] एक होना (इन्द्रिय का, प्राप्त होता है)।

'गन्धत्व' सामान्य से समस्त गन्ध को एक वर्ग में मानकर उसके ग्राहक इन्द्रिय-विशेष का अनुमान कियाजाता है। ऐसे रसवर्ग आदि से रसन आदि इन्द्रिय-विशेष का। तब पाँच इन्द्रिय क्यों मानना? 'विषयत्व' सामान्य से गन्ध, रस, रूप आदि समस्त विषयों को एक वर्ग में संगृहीत कर उसका ग्राहक एक इन्द्रिय पर्याप्त मानलेना चाहिये॥ ५८॥

'विषयत्व' सामान्य इन्द्रियैकत्व का असाधक—आचार्य सूत्रकार ने आशंका का निराकरण करते हुए यथार्थ को समझाया—

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजाति-
पञ्चत्वेभ्यः॥ ५९॥ (२५६)

[न] नहीं (युक्त, 'विषयत्व' धर्म के आधार पर सब विषयों की एकता

से इन्द्रिय का एक बताना) [बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः] ज्ञान-लक्षण, अधिष्ठान, गति (विषयग्रहण के विविध प्रकार), आकृति और जाति (कारण) के पाँच होने से।

विषयत्व-धर्म से सब विषयों की एकता का उपपादन कर उसके आधार पर इन्द्रिय का एक बताना किसीप्रकार युक्त नहीं है; क्योंकि इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान-लक्षण आदि एक-दूसरे से भिन्न होते हुए पाँच प्रकार के देखेजाते हैं। उनके आधार पर इन्द्रियों का पाँच होना प्रमाणित होता है। इसलिए 'विषयत्व' सामान्य से एक वर्ग में संगृहीत गन्ध, रस, रूप आदि विषय विभिन्न ग्राहक-साधनों की अपेक्षा न रखते हुए नहीं जानेजाते; प्रत्युत गन्ध आदि विषय अपने 'गन्धत्व' आदि सामान्यों से अपने विशिष्ट वर्ग में एकीभूत हुए विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते देखेजाने हैं। अतः विषयमात्र का ग्राहक एक इन्द्रिय का मानाजाना असंगत है। सूत्रकार ने अपने कथन में पाँच हेतु प्रस्तुत किये। पहला हेतु है—

बुद्धि-लक्षण—'बुद्धि' ज्ञान को कहते हैं। गन्ध आदि ज्ञान अलग-अलग पाँच हैं, जो अपने ग्राहक पाँच इन्द्रियों का अनुमान कराते हैं। गन्धज्ञान से घ्राण-इन्द्रिय का, रसज्ञान से रसन का, रूपज्ञान से चक्षु का, स्पर्शज्ञान से त्वक् का और शब्दज्ञान से श्रोत्र-इन्द्रिय का अनुमान होता है। इस तथ्य को सूत्रकार ने 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' [३।१।५५] सूत्र से प्रकट किया है। अतः इन्द्रियों का अनुमान करानेवाले ज्ञानलिङ्गों के पाँच होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं, यह स्पष्ट होता है।

अधिष्ठान—शरीर में इन्द्रियों के स्थान-गोलक अलग-अलग पाँच हैं, जहाँ से इन्द्रिय बाह्य विषय के साथ सम्बद्ध होकर ज्ञानोत्पत्ति में साधन होता है। गन्धग्राहक घ्राण-इन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका के अग्रभाग में है; रसग्राहक रसन का जिह्वा के अग्रभाग में, रूपग्राहक चक्षु का गोलकवर्ती कृष्णतारा के अग्रभाग में, जो रश्मियों द्वारा बाहर रूपादि विषय से सम्बद्ध हो उसका ग्रहण करता है। स्पर्शग्राहक त्वक्-इन्द्रिय समस्त शरीर पर व्याप्त त्वक् (त्वचा-चर्माग्रभाग) में अधिष्ठित रहता है; शब्दग्राहक श्रोत्र कान के छेद में अन्दर की ओर अवस्थित रहता है। इसप्रकार शरीर में इन्द्रियों के पाँच पृथक् अधिष्ठान इन्द्रियों के पाँच होने में प्रमाण हैं।

गति—गतिभेद से इन्द्रियों का भिन्न होना स्पष्ट होता है। 'गति' का तात्पर्य है-विषयग्रहण का प्रकार। तैजस चक्षु कृष्णतारा से सीमित स्थान में होकर बाहर निकलती रश्मियों द्वारा बहिःस्थित रूपाश्रय द्रव्य को प्राप्त होकर ग्राह्य विषय का ग्रहण करता है। घ्राण, रसन और त्वक्-इन्द्रियों के गन्ध आदि विषय अपने आश्रय द्रव्य के साथ इन्द्रिय-सान्निध्य में आने पर गृहीत होते हैं।

दूर देश में अपने निमित्तों से उत्पन्न शब्द-सन्ततिद्वारा श्रोत्र-इन्द्रिय से प्रत्यासन्न होने पर गृहीत होता है। इसरूप में इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होने के प्रकार में भेद होने से इन्द्रिय का एक मानाजाना सम्भव नहीं।

आकृति—आकृति-आकार-परिमाण-रूपादि ग्राहक इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न है। यद्यपि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, अदृश्य हैं, उनके आकार या परिमाण की कल्पना करना अधिक प्रामाणिक नहीं, फिर भी यह कथन इन्द्रियों के विभिन्न गोलकों की भावना से अथवा विषयग्रहण की पद्धति के आधार पर कियागया है। घ्राण, रसन और स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रियाँ केवल अपने निश्चित गोलक प्रदेश में रहती हैं, और जो ग्राह्य विषय उनके स्थितिप्रदेश में आकर सम्बद्ध होता है, उसीका वे ग्रहण करती हैं; इसीसे उनके अस्तित्व का अनुमान कियाजाता है। तैजस चक्षु अपने गोलक के मध्य काली पुतली के सहारे रश्मियों द्वारा उस स्थान से बाहर निकल अपने ग्राह्य विषय को व्याप्त करता है। यह गोलक और विषयग्रहण की पद्धति अन्य इन्द्रियों से भिन्न है। श्रोत्र-इन्द्रिय साक्षात् आकाशरूप है, इसीकारण विभु है, सर्वत्र विद्यमान है। केवल शब्द के ज्ञान से इसका अनुमान होता है। प्राणी के संस्कार अथवा धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट को इसमें निमित्त अथवा सहयोगी कारण समझना चाहिये, जो शरीरावयव कान के प्रदेश से परिच्छिन्न (घिरा हुआ) आकाश शब्द का व्यञ्जक होता है; अपरिच्छिन्न आकाश नहीं। श्रोत्र-इन्द्रिय का ऐसा आकार-प्रकार अन्य सब इन्द्रियों से भिन्न है। इसप्रकार गोलक व विषयग्रहण की पद्धति के आधार पर इन्द्रियों के आकार विभिन्न होने से इन्द्रिय एक न होकर अनेक मानी जाती हैं।

जाति—जाति का अर्थ है–कारण। 'जायतेऽस्मादिति जातिः' जिससे कोई कार्य उत्पन्न हो, वह उस कार्य का 'जाति' है, जन्मदाता है, कारण है। इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् पाँच पृथिवी आदि भूत कारण हैं। घ्राण का कारण पृथिवी, रसन का जल, चक्षु का तेज, त्वक् का वायु कारण है। श्रोत्र साक्षात् आकाश-रूप है। इसप्रकार इन्द्रियों के उपादानकारण अलग-अलग पृथिवी आदि पाँच भूत होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं, यह प्रमाणित होता है। इन हेतुओं से सिद्ध हो जाता है, इन्द्रिय एक न होकर पाँच हैं॥ ५९॥

'घ्राण' आदि के कारण पृथिवी आदि भूत—शिष्य जिज्ञासा करता है, घ्राण आदि इन्द्रियों के उपादान-कारण पृथिवी आदि भूत बतायेगये; पर यह कैसे ज्ञात होता है कि इनके उपादानकारण पृथिवी आदि पाँच भूत हैं, अन्य कोई अव्यक्त तत्त्व नहीं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्॥ ६०॥ (२५७)

[भूतगुणविशेषोपलब्धेः] भूतों के गुण-विशेषों की उपलब्धि से (विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा) [तादात्म्यम्] तदात्मकता-उन-उन भूतों की कारणता (जानी जाती है यथायथ विभिन्न इन्द्रियों के प्रति)।

अनुभव से जानाजाता है–घ्राण-इन्द्रिय केवल गन्ध गुण का ग्रहण करता है। गन्ध केवल पृथिवी का विशेषगुण है। जो जिसका कार्य है, वह उसीके विशेष-गुण का ग्रहण करनेवाला होना चाहिये। घ्राण-इन्द्रिय पृथिवी के विशेषगुण गन्ध का ग्राहक है, अतः घ्राण पृथिवी का कार्य है, यह सिद्ध होता है।

यही नियम अन्य इन्द्रियों के विषय में देखाजाता है। रसन-इन्द्रिय केवल रसगुण का ग्रहण करता है, यह जलों का विशेषगुण है; अतः रसन-इन्द्रिय जलीय है। चक्षु रूप का ग्रहण करता है, रूप तेज का विशेषगुण है, अतः रूप का व्यञ्जक होने से चक्षु-इन्द्रिय तैजस है, त्वक्-इन्द्रिय स्पर्शगुण का अभि-व्यञ्जक है, स्पर्श वायु का विशेषगुण है; अतः स्पर्श-ग्राहक त्वक्-इन्द्रिय वायु का कार्य है। इसप्रकार विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा भूतों के यथायथ गुण-विशेषों की उपलब्धि का यह नियम घ्राण आदि इन्द्रियों की पृथिवी आदि भूतकारणता को सिद्ध करता है।

यदि अव्यक्तप्रकृतिक इन्द्रियाँ हों, अर्थात् इन्द्रियों का उपादानकारण कोई अव्यक्त तत्त्व अहङ्कार, अथवा अहङ्कार द्वारा मूल प्रकृति को मानाजाय, तो उस अवस्था में गुणविशेषों की अभिव्यक्ति न होने के कारण, अथवा तब वहाँ समस्त गुणों के अन्तर्हितरूप में विद्यमान रहने के कारण उससे उत्पन्न समस्त इन्द्रियों में समस्त गुणों के ग्रहण करने की क्षमता अभिव्यक्त होनी चाहिये; क्योंकि कार्य सदा कारण के अनुरूप होता है। कारण में जब समस्त गुण अन्तर्हित हैं, तो उसके कार्य में समस्त गुणों की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। परन्तु अनुभव इसके विपरीत है। विभिन्न इन्द्रियाँ केवल किसी एक गुणविशेष का ग्रहण करती हैं; तब वैसा ही उसका उपादानकारण अनुमान कियाजाता है। फलतः एक-एक भूतगुणविशेष की उपलब्धि के साधन होने से इन्द्रियों को उन-उन भूतों का कार्य मानाजाना अधिक प्रामाणिक है, न कि किसी अव्यक्त तत्त्व का कार्य मानाजाना ॥ ६० ॥

अर्थ-परीक्षा—इन्द्रिय-परीक्षा के अनन्तर अब अर्थ-परीक्षा का अवसर है। शास्त्र के प्रारम्भिक सूत्र [१।१।१४] में उद्देशरूप से यह बताया है-गन्ध आदि पृथिवी आदि द्रव्यों के गुण, तथा इन्द्रियों के 'अर्थ' हैं। 'अर्थ' पद का तात्पर्य है–ग्राह्य विषय। इन्द्रियों के द्वारा इन गुणों का ग्रहण कियाजाता है। ऐसा कथन–पृथिवी आदि का एक गुण मानने पर अथवा अनेक गुण मानने पर- दोनों अवस्थाओं में सम्भव है। इसलिये स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है

कि गन्ध आदि गुणों में से कोई एक-एक पृथिवी आदि के गुण हैं, अथवा अधिक भी होसकते हैं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥६१॥ (२५८)
अप्तेजोवायूनां पूर्वपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६२ ॥ (२५६)

[गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानाम्] गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द के [स्पर्शपर्यन्ताः] स्पर्श तक (चार गुण) [पृथिव्याः] पृथिवी के हैं ॥ [अप्तेजोवायूनाम्] जल, तेज, वायु के–(यथाक्रम) [पूर्वं पूर्वम्] पहले-पहलों को [अपोह्य] छोड़कर–(शेष गुण हैं); [आकाशस्य] आकाश का [उत्तरः] अगला (स्पर्शपर्यन्तों से) शब्द गुण है।

सूत्रनिर्दिष्ट गन्ध आदि पाँच गुणों में से पहले चार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श पृथिवी के गुण हैं। इनमें से पहले एक 'गन्ध' को छोड़कर शेष तीन गुण–रस, रूप, स्पर्श जल के गुण हैं। पहले दो–गन्ध, रस को छोड़कर शेष दो गुण–रूप, स्पर्श, तेज के गुण हैं। गन्ध, रस, रूप को छोड़कर शेष एक–स्पर्श, वायु का गुण है। स्पर्श से अगला एक गुण-शब्द, आकाश का है। इसप्रकार पृथिवी में चार, जल में तीन, तेज में दो और वायु तथा आकाश में एक-एक गुण हैं ॥ ६१-६२ ॥

पृथिवी आदि में गन्धादि गुणव्यवस्था संगत नहीं—शिष्य आशंका करता है, गुणों की यह व्यवस्था युक्त प्रतीत नहीं होती। शिष्य की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६३ ॥ (२६०)

[न] नहीं (युक्त, गुणों की उक्त व्यवस्था) [सर्वगुणानुपलब्धेः] सब गुणों के (पृथिवीगत; पार्थिव घ्राण-इन्द्रिय द्वारा) उपलब्ध न होने से।

पहले बतायागया, घ्राण-इन्द्रिय पार्थिव है। तब घ्राण-इन्द्रिय जैसे पृथिवी के गुण गन्ध को ग्रहण करता है, ऐसे पृथिवी के रस, रूप, स्पर्श को ग्रहण करे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं देखाजाता; इसलिये गन्ध के समान रस आदि गुण पृथिवी के हैं; यह व्यवस्था दोषपूर्ण प्रतीत होती है।

इसीप्रकार जलीय इन्द्रिय रसन के द्वारा रूप और स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, जो जल के गुण बतायेगये। ऐसे तैजस इन्द्रिय चक्षु के द्वारा स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, जिसको तेज का गुण मानागया। व्यवस्था वह ठीक रहती, जिसमें–जो इन्द्रिय जिस द्रव्य से बना है, उस द्रव्य के सब गुणों को वह इन्द्रिय ग्रहण करने की क्षमता रखता। परन्तु यहाँ घ्राण आदि इन्द्रियाँ एक-एक गुण का ग्रहण करते देखेजाते हैं। अतः उक्त गुणव्यवस्था युक्त प्रतीत नहीं होती ॥६३ ॥

गुणव्यवस्था का अन्य सुझाव—तब गुणों की यह व्यवस्था कैसी होनी चाहिये ? इस विषय में शिष्य की भावना को सूत्रकार ने अग्रिम तीन सूत्रों द्वारा अभिव्यक्त किया—

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६४ ॥ (२६१)

[एकैकश्येन] एक-एक गुण के क्रम से [उत्तरोत्तरगुणसद्भावात्] अगला-अगला गुण (पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का यथाक्रम होने से), [उत्तराणाम्] अगले गुणों की [तद्-अनुपलब्धिः] उससे (पहले इन्द्रिय द्वारा) उपलब्धि नहीं होती।

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—यह गुणों का क्रम है। इसके अनुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—यह भूतद्रव्यों का क्रम है। इनमें एक-एक गुण यथाक्रम एक-एक द्रव्य का है। इसीके अनुसार इन्द्रियों का क्रम है—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र। प्रत्येक इन्द्रिय यथाक्रम पृथिवी आदि भूतद्रव्य-सम्बन्धी है; घ्राण पृथिवी-सम्बन्धी, रसन जलसम्बन्धी आदि। ये इन्द्रिय यथाक्रम एक-एक गुण को ग्रहण करते हैं, इसलिये अगले-अगले गुणों का ग्रहण पहले इन्द्रिय से नहीं होता। घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है, रस आदि का नहीं। रसन केवल रस का ग्रहण करता है, रूप आदि का नहीं। चक्षु से केवल रूप का ग्रहण होता है, स्पर्श का नहीं। इससे यह स्पष्ट होजाता है कि गन्ध आदि एक-एक यथाक्रम पृथिवी आदि भूतद्रव्यों के गुण हैं; और उनमें से एक-एक का ग्रहण यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों से होता है। इसप्रकार गुणों की व्यवस्था कीजा-सकती है।

इस व्यवस्था में एक समस्या यह रहजाती है कि पृथिवी आदि द्रव्यों में रस आदि गुण प्रत्यक्ष से जानेजाते हैं। पृथिवी में गन्ध के अतिरिक्त रस, रूप, स्पर्श का; जल में रस के अतिरिक्त रूप, स्पर्श का; तेज में रूप के अतिरिक्त स्पर्श का अनुभव होता है। तब पृथिवी आदि में एक ही एक गुण रहता है, यह कैसे मानाजाय ? इसके लिये सुझाव दियागया—

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम्।

पृथिवी आदि में जो रस आदि अनेक गुण उपलब्ध होते हैं, वे जल आदि के संसर्ग से हैं। पृथिवी आदि भूतों में अपना गुण एक-एक है। अन्य गुण अन्य भूतों के संसर्ग से उपलब्ध होते हैं ॥ ६४ ॥

गुणों की व्यवस्था के प्रसंग में यह सुझाव पूरा कारगर नहीं उतरता। क्योंकि चारों भूतों का परस्पर संसर्ग मानने पर यह नियम सम्भव नहीं होता कि पृथिवी चार गुणवाली हो, जल तीन गुणवाले, और तेज दो गुणवाले और

वायु एक गुणवाला हो। जब सबका परस्पर संसर्ग है, तो सब गुण सब भूतों में उपलब्ध होने चाहियें। संसर्ग की व्यवस्था के विषय में सुझायागया—

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६५ ॥ (२६२)

[विष्टम्] संसृष्ट है-मिला हुआ है [हि] क्योंकि [अपरम्] पिछला [परेण] पहले के साथ।

सब भूत परस्पर सबके साथ मिलजाते हों, ऐसा नहीं है। प्रत्युत पिछला भूत अपने पहले भूतों से संसृष्ट होपाता है। पृथिवी जब बनती है, तब उससे पहले जल, तेज, वायु बन चुके थे, इसलिये पृथिवी की रचना के समय उसमें जल आदि का संसर्ग होना सम्भव है। तब पृथिवी में जलादि के संसृष्ट होने से वहाँ रस आदि गुणों की उपलब्धि सम्भव है; इसीलिये पृथिवी में चार गुण उपलब्ध होते हैं—गन्ध अपना और रस, रूप, स्पर्श, जल, तेज, वायु के। जल की रचना के समय पृथिवी नहीं बनी थी; पर तेज, वायु बनचुके थे, इसलिये जल में पृथिवी का संसर्ग सम्भव न होने से वहाँ गन्ध उपलब्ध नहीं होता; पर तेज और वायु का संसर्ग जल में होने से वहाँ अपने गुण रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श उपलब्ध होजाते हैं।

इसीप्रकार तेज की रचना के समय जल और पृथिवी की रचना नहीं हुई थी, इसलिये जल, पृथिवी का संसर्ग तेज में संभव न होने से उनके गुण रस-गन्ध-तेज में उपलब्ध नहीं होते; पर तेज से पहले वायु की रचना होजाती है, इसलिये वायु का संसर्ग तेज में होने से—अपने गुण रूप के अतिरिक्त—वहाँ वायु का गुण स्पर्श उपलब्ध होता है। वायु की उत्पत्ति तेज, जल, पृथिवी से पहले हुई, इसलिये वायु में रूप, रस, गन्ध की उपलब्धि नहीं होती, अतः वहाँ केवल अपना गुण उपलब्ध होता है।

इसके अनुसार पृथिवी चार गुणवाली, जल तीन गुणवाले, तेज दो गुण वाला और वायु एक गुणवाला है, यह व्यवस्था भूतों की रचना के अनुक्रम के आधार पर समझनी चाहिये। इसप्रकार भूतों में गुणों की व्यवस्था सम्पन्न होजाती है। पृथिवी आदि भूतों का अपना-अपना गुण गन्ध आदि केवल एक-एक है॥ ६५॥

भूतों में गुणों का विनियोग—उक्त तीन सूत्रों [६३-६५] में प्रतिपादित भावना का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६६ ॥ (२६३)

[न] नहीं (उक्त कथन संगत), [पार्थिवाप्ययोः] पार्थिव और जलीय द्रव्यों के [प्रत्यक्षत्वात्] प्रत्यक्ष होने से।

किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष होने के लिये ये निमित्त बताये जाते हैं—१. द्रव्य का महत् होना; वह महत्परिमाणवाला हो। २. अनेक द्रव्यवाला हो, अर्थात् अनेक द्रव्य उसके समवायिकारण हों। ३. वह रूपगुणवाला हो।[1] अब यदि यह मानाजाता है कि रूपगुण केवल तेज का है, तो पार्थिव और जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष न होना चाहिये; क्योंकि पृथिवी का अपना गुण केवल गन्ध है, और जल का केवल रस, रूप इन द्रव्यों का गुण नहीं है। तेज का जल व पृथिवी में संसर्ग होने पर पार्थिव और जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होसकता; क्योंकि वहाँ जो रूप है, वह पृथिव्यादिसंसृष्ट तेजोभाग का है, पृथिवी-जल का नहीं। ऐसी दशा में पार्थिव व जलीय द्रव्य का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होना सम्भव न होगा। अन्य दो निमित्तों के होने पर भी रूप वहाँ नहीं है। परन्तु इसके विपरीत पार्थिव व जलीय द्रव्य का चक्षु-इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। तैजस द्रव्य के प्रत्यक्ष के समान पार्थिव–जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है। अतः जैसे तेज रूपवाला है, ऐसे जल और पृथिवी को रूपवाला मानना चाहिये। तात्पर्य है, पृथिवी एवं जल में उपलब्ध गुण उनके अपने हैं, अन्य के संसर्ग से प्राप्त नहीं।

यदि पार्थिव-जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष संसर्गमूलक तेजोरूप के कारण मानाजाता है, तो व्यवहार में तेज का संसर्ग वायु के साथ होने से वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होजाना चाहिये। तेज के संसर्ग से पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष होजाय, वायु द्रव्य का न हो इस नियम का कोई कारण नहीं है। वायु तेज का परस्पर-संसर्ग व्यवहार में सदा देखाजाता है। इसलिये पृथिवी आदि भूत एक-एक गुणवाले हैं, यह कथन असंगत है।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है—पृथिवी और जल दोनों में 'रस' गुण देखाजाता है। यदि यह कहाजाय कि पृथिवी में रस जल के संसर्ग से है, तो ऐसा कथन कसौटी पर खरा नहीं उतरता। कारण यह है–जल में अपना गुण रस केवल मधुर रहता है, परन्तु पृथिवी में अर्थात् पार्थिव द्रव्यों में छह प्रकार के रसों का अनुभव होता है। यदि जल के संसर्ग से पृथिवी में रस रहा होता, तो उक्त स्थिति का होना असम्भव था; तब पृथिवी में जल के समान केवल मधुर रस उपलब्ध होपाता।

यही स्थिति 'रूप' गुण के विषय में कहीजासकती है। पृथिवी या जल में यदि रूप तेज के संसर्ग से मानाजाता है, तो यह अटपटा ही होगा। तेज में रूप भास्वरशुक्ल रहता है, जो अन्य पदार्थों का व्यञ्जक है, प्रकाशक है। ऐसा रूप

---

१. द्रव्य के प्रत्यक्ष होने के ये निमित्त कणाद ने बताये हैं—'महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः' [वैशेषिकदर्शन, ४। १। ६]।

न जल में है, न पृथिवी में। जल में अभास्वर शुक्ल रूप है, तथा पृथिवी में सात प्रकार के रूप देखे जाते हैं; पर जलीय व पार्थिव सभी रूप व्यङ्ग्य हैं, प्रकाश्य हैं; व्यञ्जक नहीं। स्पष्ट है, ये रूप पृथिवी व जल के अपने गुण हैं, तेज के संसर्ग से तेजोगुण नहीं। पृथिवी–जल के रूप गुण व्यङ्ग्य होने के अतिरिक्त संख्या में भी समान नहीं, पृथिवी में सात और जल में केवल एक रूप रहता है। यदि संसर्ग से होते, तो यह संख्यागत विषमता न होनी चाहिये थी।

अधिक विस्तार की भावना से इस प्रसंग में स्पर्श गुण का विचार किया-जासकता है। पृथिवी आदि चारों भूतों में 'स्पर्श' की स्थिति एक-दूसरे से भिन्न है। वायु के संसर्ग से यदि अन्य भूतों में स्पर्श का अस्तित्व मानाजाता है, तो यह संगत न होगा। वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श अपना गुण है। परन्तु तेज में स्पर्श उष्ण, और जल में शीत रहता है, जो परस्पर-विरोधी होते हुए, वायुस्पर्श के साथ भी समानता नहीं रखते। पृथिवी का स्पर्श यद्यपि अनुष्णाशीत है, फिर भी वायु-स्पर्श से यह सर्वथा भिन्न है। पृथिवी में कठोर अनुष्णाशीत स्पर्श का अनुभव होता है, जिसका वायु में सर्वथा अभाव है। पृथिवी का यह स्पर्श वायु के संसर्ग से होना प्रमाणित नहीं कियाजासकता।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कोई कार्य अपने कारण के अनुरूप हुआ करता है। प्रत्यक्ष अनुभव में यह आता है कि पृथिवी चार गुणों वाली है–गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। जलों में तीन गुण हैं–रस, रूप, स्पर्श। तेज में दो–रूप और स्पर्श; वायु में एक–स्पर्श। इससे यह अनुमान होता है कि इनके मूलकारण द्रव्य ऐसे ही होने चाहियें। इसप्रकार चारों भूतों के मूलकारण परमाणु-द्रव्य इन्हीं गुणों से युक्त मानेजासकते हैं। पृथिवी-परमाणु चार गुणोंवाले, जलीय परमाणु तीन गुणोंवाले, तैजस परमाणु दो गुणोंवाले और वायवीय परमाणु एक गुणवाले। इसप्रकार पृथिवी आदि भूतों में उपलब्ध गन्धादि गुण अपने मूल समवायिकारणों के गुणों से उत्पन्न होते हैं, किसी अन्य भूत के संसर्ग से नहीं।

इस विषय में यह जानलेना आवश्यक है कि पार्थिव द्रव्य जल, तेज, वायु से सर्वथा वियुक्त (अलग-पृथक्) रहता हुआ प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। इसीप्रकार जलीय द्रव्य तेज, वायु से पृथक् तथा तैजस द्रव्य वायु से अलग रहता हुआ गृहीत होता है। उस अवस्था में ये भूत एक-एक गुणवाले गृहीत न होकर यथाक्रम चार, तीन, दो, एक गुणवाले गृहीत होते हैं। इससे यह स्पष्ट होजाता है—पृथिवी के चार, जल के तीन, तेज के दो और वायु का एक गुण अपने हैं, किसी अन्य के संसर्ग से नहीं। इसलिये यह कथन सर्वथा अयुक्त है कि पिछला द्रव्य पहलों से संसृष्ट रहता है।

भूतरचनाकाल में पहले का पिछले से संसर्ग [औपादानिक-समवायिकारणक सम्बन्ध] बताना प्रामाणिक नहीं है। 'विष्टं ह्यपरं परेण' सूत्र से जिज्ञासु के जिस भाव को अभिव्यक्त कियागया है, उसमें यह समझना आवश्यक है कि भूतों की विष्टता संसर्ग का स्वरूप क्या है? वस्तुतः संसर्ग केवल दो भूतद्रव्यों का संयोग है; वह केवल भूतरचनाकाल में हो, ऐसा नहीं है। वह आज भी देखाजाता है, जो दोनों द्रव्यों में समान रहता है। वायु के साथ तेज का संसर्ग--संयोग गर्मियों में लू चलने पर स्पष्ट अनुभव होता है। इसीप्रकार पार्थिव द्रव्य जल से संसृष्ट, तथा जल तेज से संसृष्ट जानाजाता है। यदि संयोग से--एक का गुण दूसरे में आजाना मानाजाय, तो वायु--तेज का परस्पर संयोग होने पर वायु के संसर्ग से तेज में स्पर्श प्रतीत होने के समान वायु में रूप की प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु वायु में रूप की प्रतीति का न होना यह स्पष्ट करता है कि उष्ण-स्पर्श वायु का गुण न होकर तेज का गुण है, जो सूक्ष्म तैजस द्रव्य के वायु-संसृष्ट होने पर प्रतीत होता है, क्योंकि इस नियम में कोई कारण दिखाई नहीं देता कि दोनों द्रव्यों का संयोग समान होने पर एक का गुण दूसरे में आजाय, और दूसरे का अन्य में न जाय। गरम लू में तैजस स्पर्श वायु के स्पर्श को दबा देता है; वायु के स्पर्श का ग्रहण नहीं होने देता। यदि स्पर्श गुण केवल वायु का होता, तो वह स्वयं अपने-आपको कैसे दबाता? फलतः यह प्रमाणित होता है कि स्पर्श चारों भूतों का अपना-अपना विशिष्ट गुण है; रूप तीन का, रस दो का और गन्ध केवल पृथिवी का। इस अर्थ को इसप्रकार भी कहाजा-सकता है कि पृथिवी में चार गुण, जल में तीन, तेज में दो और वायु में एक गुण रहता है। ये गुण उन भूतों में अपने हैं, अन्य किसीके संसर्ग से नहीं॥ ६६॥

'घ्राण' सब पार्थिव गुणों का ग्राहक क्यों नहीं—यह निश्चय होजाने पर कि पृथिवी चार गुणवाली, जल तीन गुणवाले, तेज दो गुणवाला और वायु एक गुणवाला है; एक अन्य जिज्ञासा उसीतरह बनी है कि उस दशा में पार्थिव इन्द्रिय घ्राण पृथिवी के चारों गुणों का ग्रहण क्यों नहीं करती? इसीप्रकार जलीय इन्द्रिय रसन जल के सब गुणों का? ऐसे ही तैजस इन्द्रिय तेज के सब गुणों का? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम्॥ ६७॥ (२६४)

[पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्] पहले-पहले गुण के उत्कर्ष से [तत्तत्प्रधानम्] उस-उस गुण का ग्रहण करना मुख्य रहता है।

गुणों का क्रम इसप्रकार है—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। इसीके अनुसार इन्द्रियों का क्रम है—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्। घ्राण में पहले गुण गन्ध का

उत्कर्ष रहता है। उत्कर्ष का तात्पर्य है विषय को अभिव्यक्त करने की क्षमता। इसलिये घ्राण-इन्द्रिय में वह प्रधान है, अर्थात् घ्राण इन्द्रिय उसी विषय का ग्राहक होसकता है। अभिप्राय है—घ्राण की रचना जिन उपादान-अवयवों से होती है, उनमें गन्ध गुण का उत्कर्ष रहता है, अतः उनसे उत्पादित घ्राण-इन्द्रिय केवल गन्ध का ग्रहण करने में समर्थ रहता है, यद्यपि वहाँ रसादि गुणों का भी अस्तित्व है।

इन्द्रियाँ एक गुणविशेष की ग्राहक क्यों—गन्ध की व्यवस्था होने पर आगे तीन गुण रहजाते हैं—रस, रूप, स्पर्श। इनमें पहला गुण रस है। उधर शेष इन्द्रियों में पहला रसन है। इसमें रस का उत्कर्ष होनेसे रसन-इन्द्रिय केवल रस को ग्रहण करने की क्षमता रखता है, यद्यपि वहाँ रूप और स्पर्श का अस्तित्व रहता है। ऐसे ही चक्षु केवल रूप को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

साधारणरूप से यह व्यवस्था इन्द्रियों से अतिरिक्त अन्य बाह्य पार्थिव आदि द्रव्यों में भी देखीजाती है। जैसे पार्थिव गाय का घी, गन्ध आदि चारों गुणों से युक्त रहता है, पर उसमें केसर मिलाने पर वह केसर के केवल गन्ध गुण को अभिव्यक्त करता है, अन्य गुणों को नहीं, ऐसे ही पार्थिव घ्राण केवल गन्ध का व्यञ्जक-ग्राहक होता है, रसादि का नहीं। इसीप्रकार बाह्य जल में शर्करा घोल देने से जल केवल उसके रस का व्यञ्जक होता है; रूप, स्पर्श का नहीं। रसन-इन्द्रिय में भी इसी सिद्धान्त को लागू समझना चाहिये। ठीक ऐसे ही बाह्य तैजस द्रव्य प्रदीप आदि, पदार्थों के रूप का व्यञ्जक होता है, स्पर्श का नहीं। इसीके अनुसार चक्षु केवल रूप का ग्राहक होता है, अन्य गुण का नहीं; यद्यपि इन सभी व्यञ्जक पदार्थों में गुण अन्य भी विद्यमान रहते हैं। इसप्रकार घ्राण, रसन, चक्षु इन्द्रियों में गन्ध, रस, रूप का उत्कर्ष होने से यथाक्रम घ्राण आदि से गन्ध, रस, रूप गुणों का ग्रहण होता है; किसी एक इन्द्रिय द्वारा सब गुणों का ग्रहण नहीं होपाता।

जो यह प्रतिज्ञा करता है कि घ्राण-इन्द्रिय से केवल गन्ध का ग्रहण इस कारण होता है कि घ्राण का अपना गुण गन्ध है; उसके मत में यह दोष दियाजासकता है कि घ्राण का गुण रस आदि होने से भी वह रस आदि का ग्रहण क्यों नहीं करता? वस्तुतः किसी इन्द्रिय द्वारा किसी गुण के ग्रहण करने का प्रयोजक उसका वह गुण होना—नहीं है; प्रत्युत उस गुण का उस इन्द्रिय में उत्कर्ष होना गुण-ग्रहण का प्रयोजक होता है। फलतः इन्द्रियों में गुणोत्कर्ष से गुण-ग्राहकता रहती है, यह तथ्य स्पष्ट होता है॥ ६७॥

इन्द्रियों की रचना—शिष्य जिज्ञासा करता है, अनेक गुणों के रहते हुए इस व्यवस्था का क्या आधार है कि एक इन्द्रिय पार्थिव है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं? अथवा कोई पार्थिव है, और कोई आप्य, तैजस, वायव्य? सब इन्द्रियाँ एक भूत

से उत्पन्न हुए क्यों न स्वीकार कियेजायें ? आचार्य सूत्रकार ने इस व्यवस्था का आधार बताया—

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६८ ॥ (२६५)

[तद्व्यवस्थानम्] उसकी व्यवस्था [तु] तो [भूयस्त्वात्] भूयस्त्व से–बहुत होने से–उत्कर्ष से होती है ।

पुरुषों के अदृष्ट–धर्म-अधर्मरूप संस्कारों के सहयोग से पुरुष के विशेष प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये विभिन्न पदार्थों का परस्पर संसर्ग होकर उपयोगी पदार्थों की रचना हुआ करती है; यही 'भूयस्त्व' का स्वरूप है । प्रत्येक पदार्थ की रचना–पुरुष के किसी विशिष्ट प्रयोजन की पूर्त्ति में उपयोग के लिये होती है । वह प्रयोजन जिस प्रकार की रचना से सिद्ध होता है, उस रचना के अनुकूल सहयोगी तत्त्वों का उसमें आधिक्य रहता है । यही सूत्र के 'भूयस्त्व' पद का तात्पर्य है । वस्तुतः जिस भाव को सूत्रकार ने गत सूत्र में 'उत्कर्ष' पद से अभिव्यक्त किया है, वही भाव प्रस्तुत सूत्र में 'भूयस्त्व' पद से प्रकट कियागया है । 'उत्कृष्ट' 'प्रकृष्ट' 'भूयान्' ये पद समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं ।

लोक में प्रत्यक्ष देखाजाता है–विभिन्न पदार्थ एक-दूसरे से पृथक् स्वरूप-वाले, पृथक् प्रयोजन वाले रहते हैं । जो कार्य किसी एक विशिष्ट पदार्थ से सम्पन्न होता है, उस कार्य को उसीरूप में पूरा करना अन्य प्रत्येक पदार्थ के सामर्थ्य से बाहर है । संसार में विविध पदार्थ विष, ओषधि, वनस्पति, रत्न–पाषाण आदि विभिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं । इनका स्वभाव एक-दूसरे से पृथक् है । इनकी रचना में पुरुषों के धर्म-अधर्म-निमित्त रहते हैं; उन्हींके अनुसार ये पुरुष की प्रयोजन-सिद्धि में उपयोगी होते हैं । प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक प्रयोजन को सिद्ध करे, यह सम्भव नहीं ।

रचना का यही सिद्धान्त इन्द्रियों की रचना में लागू समझना चाहिये । घ्राण आदि इन्द्रिय अपनी विशिष्ट रचना के अनुसार पृथक्-पृथक् विषयों के ग्रहण करने में समर्थ रहते हैं । उनकी रचना उनके उपादान तत्त्वों के आधार पर उसीप्रकार की है । घ्राण गन्ध का ग्रहण करेगा, अन्य विषय का नहीं, चक्षु केवल रूप का । कोई एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण करने में असमर्थ रहता है । घ्राण पार्थिव इन्द्रिय है, उसकी रचना में गन्धोपादान द्रव्यों का उत्कर्ष (भूयस्त्व) रहता है ; इसलिये वह अपनी रचना के अनुकूल केवल गन्ध का ग्रहण करपाता है, पृथिवी के अन्य गुणों का नहीं । चक्षु की रचना में रूपोपादान तैजस द्रव्यों का उत्कर्ष होने से वह केवल रूप का ग्रहण करने में समर्थ रहता है; वह रूप चाहे किसी द्रव्य में आश्रित हो । अन्य द्रव्याश्रित रूप सदा व्यङ्ग्य रहता है; केवल तैजस रूप अन्य रूप का व्यञ्जक होता है ॥ ६८ ॥

इन्द्रिय स्वगत गुण के ग्राहक नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है–रचना में विशिष्ट गुणोत्कर्ष से इन्द्रियों में उसी गुण को ग्रहण करने का सामर्थ्य रहता है; यदि यह ठीक है, तो इन्द्रियाँ स्वगत गुण को क्यों ग्रहण नहीं करतीं ? यदि करती होतीं, तो घ्राण से सदा गन्ध का ग्रहण होता रहता। सूत्रकार ने बताया—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ६९ ॥ (२६६)

[सगुणानाम्] गुणसहित के [इन्द्रियभावात्] इन्द्रिय होने से।

'इन्द्रिय' पद का भाव है–विषय को ग्रहण करनेवाला, 'घ्राण' इन्द्रिय पार्थिव द्रव्य है, उसमें पृथिवीगत गन्धादि गुण विद्यमान है, गन्ध गुण का तो उसमें विशेष उत्कर्ष है, जिसके अनुसार वह केवल गन्ध का ग्राहक होता है। तब वह स्वगत गन्ध को ग्रहण क्यों नहीं करता ? यह जिज्ञासा है। सूत्रकार ने बताया, घ्राण का इन्द्रियभाव–गन्धग्राहकताशक्ति गन्धगुणसहित घ्राण में है। जब घ्राण बाह्य गन्ध का ग्रहण करता है, तब घ्राणगत गन्ध ग्राहकता-कोटि में रहता है। तात्पर्य है–घ्राण द्रव्य गन्धरहित होकर गन्ध का ग्रहण नहीं करसकता। घ्राण की ग्राहकताशक्ति के उद्‌भव में उसका स्वगत गन्ध सहयोगी है। वह ग्राहक-कोटि में रहता है, ग्राह्य कोटि में नहीं। यदि वह ग्राह्य कोटि में आता है, तो ग्राहकताकोटि में गन्ध का अभाव होजाता है; तब सहयोगी के अभाव के कारण घ्राण स्वगत गन्ध के ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। इसी स्थिति को शेष इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। रसन-इन्द्रिय स्वगत रस का, चक्षु स्वगत रूप का तथा त्वक् स्वगत स्पर्श का ग्रहण नहीं करसकते ॥ ६९ ॥

ग्राह्य-ग्राहक एक नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है–घ्राण का स्वगत गन्ध उसके द्वारा बाह्य गन्ध के ग्रहण में सहकारी रहे; और उसका ग्राह्य भी हो जाय, इसमें क्या दोष है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७० ॥ (२६७)

[तेन] उससे [एव] ही [तस्य] उसका [अग्रहणात्] ग्रहण न होने से [च] तथा।

ग्रहण करनेवाला स्वयं ग्रहण होनेवाला हो, यह सम्भव नहीं। चक्षु से जैसे बाह्य द्रव्य का ग्रहण होता है, वैसे चक्षु स्वयं को ग्रहण करे; ऐसे कथन में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्येक इन्द्रिय स्वगत गुण को ग्रहण करसकती है, ऐसी मान्यता का उपपादन किसी प्रमाण से नहीं होपाता। अभिप्राय है–ग्राहक और ग्राह्य में सदा भेद रहता है। यह स्थिति प्रत्येक दशा में भेदघटित होने से अभेद में–एक वस्तु में ग्राह्यता और ग्राहकता का होना–सम्भव नहीं ॥ ७० ॥

श्रोत्र स्वगत गुण का ग्राहक—शिष्य ने उद्भंकना की–ऐसा एक उदाहरण देखाजाता है, जो स्वगत गुण का ग्राहक है। सूत्रकार ने शिष्य की भावना को सूत्रित किया—

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७१ ॥ (२६८)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [शब्दगुणोपलब्धेः] शब्द गुण की उपलब्धि से।

शब्द आकाश का गुण है, वह श्रोत्र-इन्द्रिय से उपलब्ध होता है, जो स्वयं आकाशरूप है, आकाश से अभिन्न है। आकाशरूप श्रोत्र-इन्द्रिय, आकाशगत गुण –शब्द का ग्रहण करता है। ऐसी दशा में घ्राण आदि इन्द्रियाँ भी स्वगत गन्ध आदि का ग्रहण क्यों न करें ? यदि नहीं करतीं, तो इस विशेषता का कोई कारण बताना चाहिये ॥ ७१ ॥

दयालु आचार्य सूत्रकार ने उसका कारण बताया—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७२ ॥ (२६९)

[तद्–उपलब्धिः] शब्द की उपलब्धि (होजाती है श्रोत्र द्वारा), [इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात्] अन्य-अन्य द्रव्यों के गुणों से वैलक्षण्य होने के कारण।

आकाशरूप श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा आकाशगत शब्द गुण का ग्रहण होजाता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं। कारण है, पृथिवी आदि विभिन्न द्रव्यों में गुणों की स्थिति से आकाश में गुण की स्थिति का वैलक्षण्य। पृथिवी आदि चार भूत अपने गन्ध आदि गुणों से रहित कभी नहीं होते। उनसे उत्पन्न हुए घ्राण आदि इन्द्रिय सदा गन्ध आदि गुणों से युक्त रहते हैं। घ्राण आदि इन्द्रियों से स्वगत गन्ध आदि गुणों के ग्रहण करने में दोष प्रथम बतादियेगये हैं। घ्राण आदि इन्द्रियों से विपरीत श्रोत्र की यह विलक्षणता है–उसका इन्द्रियभाव सगुण का नहीं रहता। शब्दगुणरहित आकाश, श्रोत्र-इन्द्रिय मानाजाता है। इसलिये श्रोत्र-इन्द्रियरूप में स्वगत शब्द का ग्रहण नहीं करता। तात्पर्य है–श्रोत्र समवेत शब्द कभी नहीं रहता। जो आकाशप्रदेश श्रोत्र है, उसमें समवेत न रहकर शब्द प्रदेशान्तर में समवेत रहता है। पर क्योंकि नित्य विभु आकाश में प्रदेश की कल्पना औपचारिक है, इसलिए शब्द के ग्रहण में इन्द्रिय-अर्थ का स्वसमवाय-सम्बन्ध उपचारमूलक समझना चाहिये।

शब्दगुणरहित आकाश श्रोत्र है, इस मान्यता के लिये सैद्धान्तिक आधार है–शब्द को शब्द का व्यञ्जक न मानाजाना। शब्द शब्द का व्यञ्जक नहीं होता; इस तथ्य का उपपादन द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक के शब्दविवरण-प्रसंग में कर दिया है। यदि श्रोत्र में शब्दगुणग्राहकता शक्ति शब्दगुणसहित श्रोत्र की मानीजाती है, तो श्रोत्रान्तर्गत शब्द को ग्राह्य शब्द का व्यञ्जक मानना

पड़ेगा, तब शब्द में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव को बलात् स्वीकार करना होगा, जो सिद्धान्त के विपरीत है। परन्तु गन्ध आदि गुणों में ऐसा नहीं है; उनके परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव का आचार्यों ने कहीं निराकरण नहीं किया। अतः गन्ध आदि की अभिव्यक्ति के लिये घ्राण आदि इन्द्रियों के स्वरूप के अन्तर्गत गन्ध आदि का अस्तित्व स्वीकार कियाजाता है। ऐसी दशा में जैसे घ्राण आदि से स्वगत गन्ध आदि का ग्रहण कभी नहीं होता, न प्रत्यक्ष से न अनुमान आदि से, इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रिय भी–स्वगत शब्द का अभाव होने के कारण–स्वगत शब्द का ग्रहण कभी नहीं करता। वह आकाशीय अन्य देशस्थित शब्द का ग्रहण करता है; इसी आधार पर शब्द-गुण आकाश का अनुमान कियाजाता है।

आकाशरूप श्रोत्र से शब्द का ग्रहण प्रत्यक्ष है। आकाश शब्द गुणवाला है, इसका अनुमान कियाजाता है। परिशेष-अनुमान से यह सिद्ध होजाने पर कि शब्द गुण है [द्रष्टव्य, १।१।५ सूत्र का भाष्य], गुण किसी द्रव्य में आश्रित रहता है। पृथिवी आदि स्पर्शगुणवाले चार भूत शब्द के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि पार्थिव आदि कार्यों के गन्ध आदि गुण, अपने आश्रय के कारणगत गुणों से उत्पन्न होते हैं; परन्तु शब्द ऐसा नहीं है। यह आत्मा और मन का भी गुण नहीं होसकता। आत्मा का गुण इसलिये नहीं कि आत्मा में समवेत नहीं रहता; अन्यथा 'अहं सुखी' आदि प्रतीति के समान 'अहं वाद्ये, अहं शब्दवान्'–'मैं बज-रहा हूँ, मैं शब्दवाला हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। इसके विपरीत प्रतीति यही होती है कि वीणा बजरही है, शंख फूँकाजारहा है, इत्यादि। मन के गुणों का प्रत्यक्ष न होने के कारण शब्द मन का गुण नहीं होसकता; क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, मन के गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह काल, दिशा का भी गुण नहीं, क्योंकि वे किसी विशेष गुण का आश्रय नहीं होते। शब्द विशेष गुण है। द्रव्यों में अब केवल आकाश शेष रहजाता है; उसीका यह गुण होसकता है।[1] इसप्रकार शब्द गुण से आकाश का अनुमान होता है।

श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशरूप है, यह परिशेष-अनुमान से जानाजाता है। श्रोत्र आत्मा नहीं होसकता, क्योंकि आत्मा श्रोता है, कर्त्ता है; श्रोत्र करण है। कर्त्ता और करण सर्वथा भिन्न होते हैं; अतः श्रोत्र आत्मरूप नहीं होसकता। श्रोत्र को मनोरूप नहीं मानाजासकता; क्योंकि यदि मन श्रोत्र का कार्य करे, तो कोई बहरा नहीं होना चाहिये, मन नित्य है, सदा बनारहता है, तो सुनने की शक्ति सदा बनी रहेगी। पृथिवी आदि भूतों का सामर्थ्य घ्राण आदि इन्द्रियों की रचना करने में है, श्रोत्र की रचना में नहीं। कारण है–श्रोत्र शब्द का ग्राहक होता है, परन्तु पृथिवी आदि चार भूतों में से किसीका गुण शब्द नहीं है। शब्दगुणवाले आकाश में शब्दग्राहकता सम्भव होसकती है; अतः श्रोत्र का आकाशरूप होना प्रामाणिक है।

१. द्रष्टव्य–वैशेषिक दर्शन, २।१।२५–२७॥

इस तथ्य को सिद्ध कियाजाचुका है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं। घ्राण आदि चार इन्द्रियों की सिद्धि पृथिवी आदि चार भूतों से सम्बद्ध बताईजाचुकी है। इन्द्रियों में श्रोत्र-इन्द्रिय शेष रहजाता है, और भूतों में आकाश। इस परिशेषानुमान से श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशरूप है, यह प्रमाणित होजाता है। इस प्रसंग के फलस्वरूप यह निश्चित समझना चाहिये कि 'कोई इन्द्रिय स्वगत गुण का ग्रहण नहीं करता' इस मान्यता में किसीप्रकार का दोष नहीं है ।। ७२ ।।

इति श्रीन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

बुद्धि-परीक्षा—तृतीयाध्याय के पहले आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अर्थों की परीक्षा कीगई। प्रमेयसूत्र [१।१।९] पठित क्रम के अनुसार बुद्धि की परीक्षा का अवसर है। बुद्धि के विषय में प्रथम यह परीक्षणीय है कि वह नित्य है, अथवा अनित्य ? इस संशय का कारण है–नित्य और अनित्य के समानधर्मों का बुद्धि में उपलब्ध होना। सूत्रकार ने उसीको बताया—

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ।। १ ।। (२७०)

[कर्माकाशसाधर्म्यात्] कर्म और आकाश के साधर्म्य से [संशयः] संशय है (बुद्धि के नित्य-अनित्य होने के विषय में)।

बुद्धि का स्वरूप—बुद्धि की परीक्षा के प्रसंग में इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ 'बुद्धि'-पद से अभिप्रेत वह ज्ञान है, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से किसी विषय का हुआ करता है। इस भाव को सूत्रकार ने स्वयं [१। १। १५] स्पष्ट किया है। परन्तु सांख्यदर्शन में 'बुद्धि'-पद प्रकृति के आद्य-कार्य महत्तत्त्व नामक अन्तःकरण का वाचक है। न्याय में प्रयुक्त 'ज्ञान'-पद जानकारी की जिस स्थिति को अभिव्यक्त करता है, सांख्य में उसके लिये प्रायः 'उपलब्धि' अथवा 'बोध'-पद का प्रयोग कियाजाता है। उस बोध के लिये जो करणों [बाह्यकरण इन्द्रिय तथा अन्तःकरणों] का व्यापार होता है, उसके लिये सांख्य में 'ज्ञान'-पद का प्रयोग होता है। बोध होने की इस पद्धति को वहाँ 'ज्ञान-व्यापार' अथवा 'वृत्तिरूपज्ञान' कहाजाता है। बोध के लिये करणों का वर्त्तना, हरकत करना, व्यापार करना आदि। चेतन आत्मा को बाह्यविषय

की जो जानकारी होती है, वह 'बोध', तथा उसके लिये करणों का व्यापार 'वृत्तिज्ञान' है। सांख्य की प्रक्रिया व मान्यताओं के अनुसार इसीको 'करणों का विषयाकार परिणाम' कहाजाता है।

बुद्धि नित्य या अनित्य—बुद्धि के नित्य-अनित्य होने की परीक्षा में अध्येता के लिए यह झमेला सामने रहता है कि प्रस्तुत प्रसंग में बुद्धितत्त्व क्या समझना चाहिये ? स्पष्ट है, यहाँ बुद्धि पद से वह ज्ञान अभीष्ट है, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी विषय का ज्ञान आत्मा को होता है। उस ज्ञान में एक ऐसा धर्म जानाजाता है, जो नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में समान रूप से विद्यमान रहता है। वह धर्म है–ज्ञान का 'स्पर्शरहित होना'। अस्पर्श-वत्व धर्म अनित्य कर्म [उत्क्षेपण आदि] और नित्य आकाश दोनों में विद्यमान रहने से संशय का जनक है–स्पर्शरहित बुद्धि को कर्म के समान अनित्य माना जाय, अथवा आकाश के समान नित्य ? यद्यपि बुद्धि में विशेष धर्म उत्पन्न व विनाश होना–देखाजाता है, जो उसके अनित्य होने का साधक है। तथापि अनित्य और नित्य पदार्थों में यथायथ साधर्म्य का विपर्यय बुद्धि में नहीं देखा जाता। अनित्य कर्म का साधर्म्य स्पर्शराहित्य का विपर्यय–अभाव है–अनित्य घट आदि पदार्थों में; अर्थात् अनित्य घट आदि पदार्थ स्पर्शवाले हैं, वह स्पर्श-वत्ता बुद्धि में उपलब्ध नहीं होती। इसके अनुसार बुद्धि में अनित्यत्व का अभाव प्राप्त होना है। इसीप्रकार नित्य आत्मा आदि पदार्थों में अस्पर्शवत्व होने पर भी उत्पत्ति-विनाश धर्म का विपर्यय अभाव है; वह भी बुद्धि में उपलब्ध नहीं होता; इसके अनुसार बुद्धि में नित्यत्व का अभाव प्राप्त होता है। इसप्रकार स्पर्शराहित्य और उत्पत्ति-विनाश धर्म से बुद्धि में नित्य-अनित्य होने का संशय होजाता है।

वस्तुतः बुद्धि के नित्य-अनित्य होने का संशय कोई विशेष आधार नहीं रखता। प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसकी उत्पत्ति-विनाशशीलता के आधार पर सुख-दुःख आदि के समान इसे अनित्य जानता है। 'ज्ञान हुआ था, ज्ञान होरहा है, ज्ञान होगा' इसप्रकार बुद्धिविषयक त्रैकाल्यव्यवहार बुद्धि के उत्पत्ति और विनाश के बिना संभव नहीं; यह स्थिति बुद्धि को स्पष्टरूप से अनित्य सिद्ध करदेती है। शास्त्र भी इसको इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि से [१।१।४] उत्पन्न हुआ बताता है। मन के लक्षण [१।१।१६] में एकसाथ अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति बताना, ज्ञान की उत्पत्ति का निश्चायक है। इसलिये संशय की उक्त प्रक्रिया अधिक महत्त्व नहीं रखती। फिर भी कुछ प्रचलित दार्शनिक प्रवादों को लक्ष्यकर इस प्रसंग का प्रारम्भ कियागया है।

कहाजाता है–सांख्य पुरुष के अन्तःकरणरूप बुद्धि को नित्य मानता है ।[1] आगे विवेचन से पहले इस कथन के स्वारस्य को समझलेना उपयुक्त होगा ।

पहली बात यह है–सांख्य के अन्तःकरणभूत बुद्धितत्त्व और न्याय के इस विवेच्य बुद्धि में बहुत अन्तर है । अन्तःकरण ज्ञान का साधन है; न्याय में विवेच्य ज्ञान, साधन न होकर स्वयं साध्य है । इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि न्याय में विवेच्य बुद्धि गुण की सीमा में आता है; परन्तु सांख्यप्रतिपादित बुद्धितत्त्व न्यायपरिभाषा के अनुसार द्रव्य के अन्तर्गत मानाजायगा । जैसे न्याय में मन अन्तःकरण है, वैसे सांख्य में मन के समान बुद्धितत्त्व अन्यतम अन्तःकरण है । इसप्रकार दो भिन्न–असमान पदार्थों को एक स्तर पर रखकर परस्पर प्रतियोगी के रूप में विवेचन करना आधारहीन होजाता है ।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात है–सांख्यद्वारा 'बुद्धि' नामक अन्तःकरण को नित्य मानना । यह कथन अपने रूप में यथार्थ प्रतीत नहीं होता । 'बुद्धि' नामक महत्तत्त्व को सांख्य में जगत् के मूल उपादान प्रकृति का आद्यकार्य बतायागया है । जो कार्य है, वह नित्य कैसे ? ऐसी स्थिति में भाष्यकार वात्स्यायन के उक्त कथन–तथा सूत्रकार के विवेच्य प्रसंग–के स्वारस्य को समझना आवश्यक होजाता है ।

न्याय में प्रत्यक्षादि-प्रमाणजन्य ज्ञान (बुद्धि) को द्विक्षणावस्थायी (दो क्षण तक ठहरनेवाला) मानागया है । परन्तु सांख्यप्रतिपादित बुद्धितत्त्व आदिसर्ग में उत्पन्न होकर चिरकाल तक उसी अवस्था में बना रहता है । अनित्य होने पर वह चिरस्थायी तत्त्व है, जैसे लोक में अन्य भूत-भौतिक तत्त्व हैं, जो चिरकाल तक स्थायी रहते हैं । सांख्यीय बुद्धितत्त्व की इस चिरस्थायिता को नित्यत्व का प्रतीक मानकर प्रस्तुत प्रसंग का आधार बनायाजासकता है । इसके अतिरिक्त दोनों के 'बुद्धि' नाम की समानता को यथाकथञ्चित् आधार कहा जासकता है । यद्यपि सांख्य और न्याय में विवृत 'बुद्धि' नामक पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न तथा असमानजातीय तत्त्व हैं । इन आधारों पर बुद्धि के नित्य व अनित्य होने का विचार प्रस्तुत है ॥ १ ॥

बुद्धि की नित्यता में सांख्याचार्यों की ओर से हेतु प्रस्तुत कियाजाता है—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥ (२७१)

[विषयप्रत्यभिज्ञानात्] विषय के प्रत्यभिज्ञान से (जानाजाता है, बुद्धि नित्य है) ।

---

१. **"एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः–'पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिः' इति", वात्स्यायनभाष्य ।**

प्रत्यभिज्ञान–पहले और वर्त्तमान काल के–मिलित ज्ञान को कहते हैं। 'जिस पदार्थ को पहले देखा था, उसीको अब देखरहा हूँ' इसप्रकार किसी एक पदार्थ के विषय में जो मिलित ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान कहाता है। ऐसी प्रतीति का होना तभी संभव है, जब प्रतीति के साधन बुद्धि को अवस्थित मानाजाय। यदि उत्पन्न और नष्ट होते रहने से बुद्धि एक-दूसरे से भिन्न हैं, अनेक हैं, तो प्रत्यभिज्ञा का होना सम्भव नहीं; क्योंकि एक के जाने हुए पदार्थ के विषय में दूसरे को प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता ॥ २ ॥

बुद्धि के नित्य होने का सूत्रकार निराकरण करता है—

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥ (२७२)

[साध्यसमत्वात्] साध्य के समान होने से [अहेतुः] उक्त हेतु ठीक नहीं है (साध्य को सिद्ध नहीं करता)।

जैसे अभी बुद्धि का नित्यत्व साध्य है; ऐसे यह साध्य है कि प्रत्यभिज्ञान बुद्धि को होता है, अथवा अन्य किसी को? वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान चेतन का धर्म है; बुद्धि अचेतन है, करण है, केवल ज्ञान या प्रत्यभिज्ञान का साधन। चेतन के धर्म का करण में कथन करना अनुपपन्न है। ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध, अध्यवसाय, प्रत्यय आदि सब पर्यायवाची पद हैं, समान अर्थ को कहते हैं, जो चेतन पुरुष का धर्म है; क्योंकि वही पहले जाने हुए अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करता है। प्रत्यभिज्ञान-हेतु चेतन आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करने के लिये सर्वथा युक्त है। यदि प्रत्यभिज्ञान आदि को बुद्धिरूप अचेतन करण का धर्म मानाजाता है, तो चेतन का स्वरूप क्या होगा?–यह बताना चाहिये। चेतन के स्वरूप को समझे-बताये बिना इसप्रकार (ज्ञान को करण का धर्म बताकर) एक शरीर में दूसरे आत्मा का होना स्वीकार करना होगा, जो अनिष्ट है। यदि ज्ञान बुद्धि को होजाता है, तो वह चेतन आत्मा शरीर में क्या करता है?

कहाजासकता है, यह चेतन आत्मा अपने सान्निध्य से बुद्धि को चेताता है, चेतन-जैसा बनादेता है।[1] शरीर में चेतन पुरुष की उपस्थिति का यही लाभ

---

१. सांख्य के प्रसंगों में कपिल के शिष्य आसुरि के नाम से एक श्लोक उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

विविक्त अर्थात् पुरुष के असंग रहते हुए, बुद्धि के दृक्-[द्रष्टा]-रूप में परिणत होने पर जो स्थिति बनती है, वही पुरुष का भोग है। तात्पर्य है– बुद्धि अपने सब धर्मों को लेकर असंग चेतन पुरुष में प्रतिबिम्बित होजाती

है। यह कथन युक्त नहीं; क्योंकि चेताना, ज्ञान होने से भिन्न नहीं। संस्कृत के ये क्रियापद–'चेतयते, जानीते, पश्यति, उपलभते' आदि सब समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि यही कहाजाता है कि ज्ञान बुद्धि को होता है, अर्थात् ज्ञानवृत्ति बुद्धि का धर्म है, तब प्रश्न वही बना रहता है कि फिर पुरुष का क्या कार्य है ?

यदि कहाजाता है कि बुद्धि ज्ञान कराती है, अर्थात् बुद्धि ज्ञान का साधन है, वह ज्ञान होता है पुरुष को, तब यह कथन ठीक है। ज्ञान चेतन पुरुष का धर्म है, गुण है; अन्तःकरण बुद्धि का नहीं। वह तो ज्ञान होने का साधनमात्र है।

प्रस्तुत प्रसंग में यदि यह कहाजाय कि चेतना, ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि आदि धर्म एक आत्मा के नहीं हैं, ये परस्पर भिन्न धर्म हैं, और धर्मभेद के अनुसार इनके धर्मी भिन्न हैं, तब यह कहाजासकेगा–'चेतना' जिसका धर्म है, 'ज्ञान' उसका धर्म नहीं है। ऐसी दशा में 'चेतना' आत्मा का धर्म और 'ज्ञान' बुद्धि का धर्म मानाजासकेगा।

ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस कथन में–ज्ञान आत्मा का धर्म है–इसका प्रतिषेध होता है; ऐसी दशा में इस प्रतिषेध का कोई हेतु अवश्य बताना चाहिये। जो यह प्रतिज्ञा करता है कि–चेतन, बोद्धा, ज्ञाता, उपलब्धा, द्रष्टा–ये भिन्न पुरुष हैं; चेतना, बोध, ज्ञान आदि एक धर्मी (पुरुष) के धर्म नहीं होसकते। उसे इस प्रतिषेध में हेतु कहना चाहिये; अन्यथा यह प्रतिषेध अहेतुक होने से अमान्य होगा।

यदि कहाजाय–चेतना, ज्ञान आदि के एक धर्मी का धर्म होने में हेतु है–इन पदों के अर्थ का अभेद। चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि अभिन्नार्थक पद हैं;

हैं, इसीको बुद्धि का दृक्परिणाम कहाजाता है। जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र अपने धर्मों को लेकर प्रतिबिम्बित होजाता है। इसी आशय का एक श्लोक विन्ध्यवासी का उपलब्ध होता है—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥

अविकारी अथवा असंग रहता हुआ चेतन पुरुष, अपने सान्निध्य से अचेतन मन [–बुद्धि] को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन-जैसा करदेता है; जैसे उपाधि–लाल कमल, स्फटिक को सान्निध्य से लाल-जैसा बनादेता है।

मूल में–चेतन पुरुष बुद्धि को चेताता है–इत्यादि कथन सांख्य के इन्हीं विचारों के आधार पर है। इस विषय में सांख्यदर्शन के दूसरे अध्याय के सूत्र ३५-३६ तथा ४५-४६ द्रष्टव्य हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमारी रचना–'सांख्य-सिद्धान्त' में देखाजासकता है।

इनका अर्थ एक है। जैसे शुक्ल और गौर पद एकार्थक हैं; जब कहाजाता है– चैत्र शुक्ल है, तब उसे 'चैत्र गौर है'-यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती; अन्यथा वैसा कहना पुनरुक्त होगा। पर यह कहाजासकता है–चैत्र शुक्ल है, और मैत्र गौर है। इससे यह स्पष्ट है-शुक्ल, गौर धर्मों के अभिन्न होने पर इनका धर्मी एक नहीं है। इसीप्रकार जब कहाजाता है–कश्चित् चेतयते, कश्चिद् बुध्यते–कोई चेतनायुक्त है, कोई बोध (ज्ञान) युक्त है, तब चेतना और बोध का अर्थ एक होते हुए भी धर्मी भिन्न रहता है, अन्यथा कथन में पुनरुक्त-दोष होगा। इसलिये धर्मी का भेद होने पर भी चेतना, बोध, दर्शन आदि धर्मों का भेद सम्भव नहीं होता। तब चेतना के आत्मधर्म होने पर, ज्ञान बुद्धि का धर्म होगा, आत्मा का नहीं। अर्थ समान होने पर भी ज्ञान, चेतना से भिन्न है; क्योंकि इनके धर्मी भिन्न हैं, ज्ञान के क्रियारूप होने से आत्मा में उसका होना सम्भव नहीं। इसीकारण प्रत्यभिज्ञान–ज्ञान होने से वह आत्मा का धर्म न होकर बुद्धि का धर्म होगा। इससे प्रत्यभिज्ञान के आधार पर बुद्धि का नित्य होना सिद्ध होता है। प्रत्यभिज्ञान के लिये प्रत्यभिज्ञाता का नित्य होना आवश्यक है।

बुद्धिनित्यत्ववादी के उक्त उपपादन में यह महान् दोष है कि एक देह में समानरूप से दो चेतन तत्त्वों का अस्तित्व उक्त उपपादन से प्राप्त होजाता है, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। जब चेतना, बोध, ज्ञान, दर्शन आदि सब पद समान अर्थ के वाचक हैं, तब जैसे–'पुरुषश्चेतयते' कहने पर पुरुष का चेतन होना प्राप्त होता है, इसीप्रकार 'बुद्धिर्जानीते' कहने पर 'चेतना' और 'ज्ञान' के एकार्थक होने से 'बुद्धि' का चेतन होना प्राप्त होता है। तब एक देह में दो चेतन की असम्भावना से एक का विलोप मानना होगा। अथवा बुद्धिनित्यत्व-वादी की इस मान्यता का विलोप होजायगा कि बुद्धितत्त्व एक जड़ पदार्थ है। उसको मानते हुए जड़तत्त्व बुद्धि में ज्ञान का होना असम्भव है, उसमें प्रत्यभि-ज्ञान का होना नहीं मानाजासकता। तब उसका नित्य होना असिद्ध होजाता है।

यदि 'बुद्धि' पद का–'बुध्यते अनया' यह करणार्थक निर्वचन करके ज्ञान का साधन बुद्धि को मानाजाता है, तो वह 'मन' ही है, और वह नित्य है; परन्तु उसके नित्य होने का कारण विषय का प्रत्यभिज्ञान नहीं है। प्रत्यभिज्ञान, ज्ञान के साधन मन का धर्म न होकर वह आत्मा में होता है, आत्मा का धर्म है। मन की नित्यता उसके अपने किसी उपादान (समवायि) कारण के न होने से है। उसका अणुपरिमाण होना नित्य होने में उपोद्बलक है। ज्ञान के युगपत् न होने से उसका अणु होना सिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान ज्ञाता आत्मा को होता है, यह इस प्रत्यक्ष व्यवहार से सिद्ध है कि दाईं आँख से देखे विषय का बाईं आँख से प्रत्यभिज्ञान होजाता है। तात्पर्य है–करण का भेद होने पर प्रत्यभिज्ञान होता

देखाजाता है। यदि प्रत्यभिज्ञान करण को होता, तो–एक के देखे का दूसरे को स्मरण या प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता–इस व्यवस्था के अनुसार दाएँ चक्षु से देखे का बाएँ चक्षु से देखने पर प्रत्यभिज्ञान असंभव होता। परन्तु प्रत्यभिज्ञान होता है। इसीप्रकार बाह्य साधन एक प्रदीपप्रकाश के द्वारा देखेगये विषय का अन्य प्रदीप के द्वारा देखेजाने पर उस विषय का प्रत्यभिज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है–प्रत्यभिज्ञान करण को न होकर ज्ञाता आत्मा को होता है, इसप्रकार वह आत्मा के नित्यत्व का साधक मानाजासकता है ॥ ३ ॥

वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद नहीं—जो यह मानता है कि बुद्धि अवस्थित है, और जैसा विषय अथवा जो विषय उसके सामने आता रहता है, उसीके अनुरूप अथवा तदाकार होती हुई बुद्धि 'ज्ञान'-रूप में प्रसार पाती है; अर्थात् विषय में प्राप्त हो, विषयाकार होकर 'ज्ञान' रूप में भासती है, तथा वह वृत्ति वृत्तिमान् से भिन्न नहीं। तात्पर्य है–कार्यकारण का परस्पर अभेद होने से–बुद्धि का कार्य बुद्धिवृत्ति अपने कारण बुद्धि से भिन्न नहीं होती। इस मान्यता के विषय में सूत्रकार ने बताया—

न युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥ (२७३)

[न] नहीं (युक्त, उक्त मान्यता), [युगपत्] एक साथ [अग्रहणात्] ग्रहण न होने से (अनेक विषयों के)।

बुद्धि अवस्थित है; बुद्धि और बुद्धिवृत्ति (बुद्धि का विषयाकार होकर उस विषय का ज्ञान) अभिन्न हैं, तो बुद्धि के अवस्थित (नित्य) होने से वह वृत्ति (विषयज्ञान) भी अवस्थित होनी चाहिये। जब इसप्रकार वृत्तियों (विषय-ज्ञानों) को अवस्थित मानाजायगा, तो एकसाथ अनेक ज्ञानों का होना प्राप्त होगा; परन्तु एकसाथ अनेकज्ञान कभी होते नहीं; इसलिए वृत्तिमान् और वृत्ति का–अर्थात् बुद्धि और बुद्धिवृत्ति (विषयज्ञान) का अभिन्न होना सम्भव नहीं। बुद्धि साधन है, वृत्ति साध्य है; साधन और साध्य (कारण और कार्य) कभी एक (अभिन्न) नहीं होते ॥ ४ ॥

आचार्य सूत्रकार ने वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद में अन्य दोष बताया—

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ (२७४)

[अप्रत्यभिज्ञाने] प्रत्यभिज्ञान के न रहने पर [च] तथा [विनाशप्रसङ्गः] विनाश प्राप्त होता है (बुद्धि का)।

प्रत्यभिज्ञान (अतीत-वर्त्तमान ज्ञानों का मिलित ज्ञान) स्वयं एक ज्ञानरूप है, वृत्तिरूप है। बुद्धिनित्यत्ववादी ने बुद्धि और बुद्धिवृत्ति का अभेद माना है। युगपत् वृत्तियों–ज्ञानों के न होने के कारण ज्ञान अनित्य हैं, नष्ट होते रहते हैं। तब उनसे अभिन्न होने के कारण बुद्धि का विनाश प्राप्त होगा। बुद्धि को नित्य

सिद्ध करने चला था वादी, पर वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानकर बुद्धि का विनाश करलिया। यदि बुद्धि को नित्य मानाजाता है, तो वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद होना सम्भव नहीं; इनको परस्पर नाना मानना होगा ॥ ५ ॥

ज्ञान युगपत् नहीं होते—अनेक विषयों के एकसाथ ग्रहण न होने के विषय में सूत्रकार ने बताया कि समस्त बाह्य इन्द्रियों के पीछे अन्तःकरण एक अणु-परिमाण मन है, उसका बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध क्रमपूर्वक होपाता है। जब जिस इन्द्रिय से मन का सम्बन्ध रहता है, तब उसी इन्द्रिय द्वारा विषय का ग्रहण होता है; इसप्रकार—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ ६ ॥ (२७५)

[क्रमवृत्तित्वात्] पर्याय से (मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध) होने के कारण [अयुगपद्ग्रहणम्] युगपत्–एकसाथ ज्ञान नहीं होता (अनेक विषयों का)।

विभिन्न इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण एक समय में एक इन्द्रिय से होपाता है। कारण है–ज्ञान होने के लिए इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध। मन अणु होने से एक समय में एक इन्द्रिय से सम्बद्ध होसकता है। जिस इन्द्रिय से सम्बद्ध होता है, उस समय उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होता है, अन्य इन्द्रिय के विषय का नहीं। यह स्थिति वृत्ति और वृत्तिमान् के भेद को सिद्ध करती है। यदि इनका भेद न मानाजाय, तो वृत्तिमान् के नित्य होने से वृत्तियाँ नित्य बनी रहेंगी। तब किसी समय में किसी ज्ञान का प्रादुर्भाव होना, तथा किसीका तिरोभाव होना सम्भव न होगा। ज्ञानों के इस अनुभूत क्रम का अभाव होजायगा, जो अनिष्ट है। इस आधार पर वृत्ति और वृत्तिमान् का परस्पर भेद सिद्ध होजाता है ॥ ६ ॥

आचार्य सूत्रकार वृत्ति और वृत्तिमान् के नाना होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥ (२७६)

[अप्रत्यभिज्ञानम्] प्रत्यभिज्ञान नहीं होता [च] तथा [विषयान्तर-व्यासङ्गात्] अन्य विषय में व्यासङ्ग (आसक्त होने) से (मन के)।

किसी विषय का ग्रहण न होना उस समय सम्भव होता है, जब मन किसी अन्य विषय में आसक्त हो। यह एक व्यवस्था है–अर्थ, इन्द्रिय, मन के परस्पर सन्निकर्ष से एक समय में एक ज्ञान होसकता है। तब स्वभावतः यह स्थिति आती है कि मन जिस विषय में आसक्त होगा, उस विषय की उपलब्धि ज्ञाता आत्मा को होजायगी, अन्य विषयों की उपलब्धि न होगी। इसप्रकार उपलब्धि का न होना–उपलब्धि और उपलब्धिसाधन में भेद को सिद्ध करता है, अर्थात् वृत्ति

और वृत्तिमान् में परस्पर भेद है। यदि ये नाना न हों, तो मन [वृत्तिमान्] का एक विषय में व्यासक्त होना तथा अन्य विषयों से निरपेक्ष रहना निरर्थक होजायगा। तात्पर्य है—एक विषय में मन के व्यासङ्ग का अवसर नहीं आसकता। वृत्तिमान् के नित्य होने से—उससे अभिन्न वृत्तियाँ [ज्ञानरूपा] सदा बनी रहेंगी, तब किसी एक विषय में व्यासक्ति की सम्भावना नहीं रहती। इसीके साथ विभिन्न विषयों के युगपत् ग्रहण होजाने का दोष उपस्थित होजाता है। अतः वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद मानना असंगत है ॥ ७ ॥

मन विभु नहीं—इन्द्रियों के साथ क्रमशः अन्तःकरण मन का संयोग तभी सम्भव है, जब मन को अणुपरिमाण मानाजाता है। मन को विभु मानने पर यह सम्भव नहीं। इस तथ्य को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

न गत्यभावात् ॥ ८ (२७७)

[न] नहीं है (विभु मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग), [गत्य-भावात्] गति के न होने से (विभु पदार्थ में)।

इन्द्रियाँ मन के साथ सम्बद्ध होकर विषय का ग्रहण करापाती हैं। यदि मन को विभु मानाजाता है, तो मन और इन्द्रियों का प्राप्तिरूप सम्बन्ध सदा बना रहेगा। तब क्रमशः संयोग न होने से अनेक विषयों का एकसाथ ग्रहण होते रहना प्राप्त होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है। विभु मन में—एक देश का त्याग और देशान्तर की प्राप्तिरूप—गति का अभाव रहेगा, तब क्रमशः मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध न होने के कारण विषयों का अयुगपत् ग्रहण किसी तरह सम्भव न होगा। ऐसी दशा में अन्य किसी हेतु के आधार पर विषयों के अयुगपत् ग्रहण का अनुमान नहीं कियाजासकता।

जैसे चक्षु के द्वारा विषयग्रहण के लिए प्रत्यक्षतः चक्षु का विषयदेश के साथ सम्बन्ध प्रतिषिद्ध समझाजाता है, क्योंकि समीप और दूर के पदार्थ का समानकाल में ग्रहण होता देखाजाता है। आँखों के सामने हाथ फैलाकर हथेली देखने में जितना समय लगता है, उतने समय में चाँद को देखलियाजाता है। यदि चक्षु का विषय-देश के साथ सम्बन्ध होता, तो हथेली के देखने में जितना समय लगा है, उससे बहुत अधिक समय चाँद को देखने में लगता; क्योंकि वह हथेली की अपेक्षा बहुत अधिक दूर है। परन्तु समानकाल में दोनोंका ग्रहण होने से प्रत्यक्षतः चक्षु के विषयदेश में जाने का प्रतिषेध होता है। परन्तु व्यवहित वस्तु का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष न होने से, इस अनुमान के आधार पर चक्षु का विषय देश के साथ सम्बन्ध जानलियाजाता है। उसप्रकार विभु अन्तःकरण का गति के अभाव से प्रतिषिद्ध अयुगपत्- ग्रहण अनुमान से भी जाना नहीं जाता। अतः अन्तःकरण का विभु मानाजाना प्रामाणिक नहीं।

वस्तुतः यह विपरीत चर्चा अन्तःकरण अथवा उसके नित्य होने के विषय में नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि यह प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध है कि अन्तःकरण मन है, और वह नित्य है। यह चर्चा अन्तःकरण के विभु होने के विषय में है। जिसकी उपलब्धि किसी प्रमाण से न होने के कारण वह सर्वथा प्रतिषिद्ध है। इसप्रकार अन्तःकरण एक है, और वह ज्ञानरूप नाना वृत्तियों के होने में निमित्त रहता है। चक्षु द्वारा होनेवाला ज्ञान–रूपज्ञान; घ्राण द्वारा होनेवाला ज्ञान–गन्धज्ञान। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञानों में मन का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध रहता है। यह स्थिति मन तथा इन्द्रिय को साधन एवं ज्ञान को साध्य प्रकट करती है। साधन वृत्तिमान् तथा साध्य को वृत्ति कहागया है। इसप्रकार वृत्ति और वृत्तिमान् का एक होना सर्वथा अनुपपन्न है।

ज्ञाता चेतन तत्त्व—किसी ज्ञान का ज्ञाता सदा चेतन पुरुष रहता है, अन्तःकरण नहीं। इससे अन्तःकरण का विषयान्तर में (किसी एक विषय में) व्यासक्त रहना खण्डित होजाता है। वस्तुतः अन्तःकरण मन का व्यासङ्ग–सम्बन्ध एक समय में किसी एक इन्द्रिय के साथ होसकता है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का सान्निध्य रहता है, उस इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का आत्मा को ग्रहण होजाता है; जिन इन्द्रियों के साथ जिस समय मन का सान्निध्य नहीं है, उस समय उन विषयों का ग्रहण नहीं होता। मन के ऐसे व्यासङ्ग को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ॥ ८ ॥

वृत्ति-वृत्तिमान् का भेद भ्रान्तिमूलक—यह ठीक है, अन्तःकरण एक है; इन्द्रियग्राह्य विषयों के अनुसार उसका व्यापार (वृत्तियां) अनेक रूप हैं। वृत्तियों की अनेकता वस्तुतः यथार्थ नहीं होती, एक में अनेकता का अभिमान होजाता है, इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद मानने में कोई आपत्ति नहीं समझनी चाहिये। पूर्वपक्ष की इस भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥ (२७८)

[स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्] स्फटिक के अन्य होने की प्रतीति के समान [तद्–अन्यत्वाभिमानः] वृत्ति के अन्य होने का अभिमान (भ्रम-प्रत्यय) होजाता है (वृत्ति के वृत्तिमद्रूप होने से एक होने पर भी)।

स्फटिक स्वच्छ शुक्ल एक है, पर उसके सामने रक्त, नील, पीत आदि उपाधि के आजाने से एक स्फटिक रक्त, नील, पीत आदि नानारूप में प्रतीत होता है। स्फटिक का नील-पीत आदि रूप में जानना भ्रान्त प्रत्यय है; स्फटिक वस्तुतः अपनेरूप में एक रहता है। इसीप्रकार अन्तःकरण एक है, इन्द्रिय-प्रणाली से उसके सामने घट-पट आदि विषय आने पर उसमें अनेकता का अभिमान होजाता है। यह अनेकता का अभिमान विभिन्न विषयों के उपधान से होता है,

अन्तःकरण की इसी स्थिति को 'व्यापार' अथवा 'वृत्ति' कहाजाता है; पर अन्तःकरण वृत्तिमान् से इसका भिन्न अस्तित्व कुछ नहीं। फलतः वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेदवाद वस्तुतः युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है--एक स्फटिक में अन्यता के अभिमान के समान ज्ञानात्मक वृत्तियों में नाना होने का गौण प्रत्यय होता है; तथा गन्ध, रस, रूप आदि के नानात्व के समान यथार्थ प्रत्यय नहीं है; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं। क्यों न गन्ध, रस आदि के यथार्थ भेद के समान ज्ञानात्मक वृत्तियों का वास्तविक भेद मानाजाय ? वृत्ति-भेद के गौण न मानेजाने पर उसके मुख्य होने का कारण यह है कि गन्ध आदि विषयों का ज्ञान क्रमपूर्वक उत्पन्न व विनष्ट होता प्रत्यक्षतः देखाजाता है। इससे वृत्तियों का उत्पाद-विनाशशील होना स्पष्ट है। परन्तु वृत्तिमान्--अन्तःकरण उत्पाद-विनाशशील नहीं मानागया; वह नित्य-स्थायी स्वीकार कियाजाता है। ज्ञानात्मक वृत्तियों का क्रमशः उत्पाद-विनाश होना उनके नाना मानेजाने पर सम्भव है। फलतः उनका नाना होना गन्ध, रस, रूपादि के समान मुख्य है, गौण नहीं। ऐसी दशा में नित्य अन्तःकरण--वृत्तिमान् के साथ उनका अभेद बताना असंगत है ॥ ९ ॥

वस्तुमात्र स्थायी न होकर प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील--यदि स्फटिक में भेद की प्रतीति को गौण न मानकर--पदार्थ के प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मानेजाने के आधार पर उसे--मुख्य मानाजाय, तो वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानने में उक्त बाधा किसी अंश तक दूर होजाती है, क्योंकि इस दशा में दोनों उत्पाद-विनाश-शील होने से समान हैं। आचार्य सूत्रकार ने इसी भावना को सूचित किया--

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्
व्यक्तीनामहेतुः ॥ १० ॥ (२७९)

[स्फटिके] स्फटिक में [अपि] भी [अपरापरोत्पत्तेः] अपर-अपर--अन्य-अन्य उत्पत्ति से, [क्षणिकत्वात्] क्षणिक होने के कारण [व्यक्तीनाम्] व्यक्तियों के, (व्यक्त पदार्थमात्र के) [अहेतुः] उक्त हेतु असंगत है (स्फटिक में नानात्व के गौण होने का गतसूत्रनिर्दिष्ट हेतु असंगत है)।

वादी कहता है, जितने व्यक्त पदार्थ हैं, सब क्षणिक हैं। प्रत्येक क्षण में वे परिवर्त्तित होते रहते हैं। स्फटिक उनसे बाहर नहीं है; उसमें प्रतिक्षण एक व्यक्तरूप नष्ट होता, तथा अन्य व्यक्तरूप उत्पन्न होता रहता है। नील, पीत उपाधि के आने से स्फटिक का नील, पीत प्रतीत होना गौण तभी कहाजासकता है, जब स्फटिक का स्थायी होना प्रमाणित होसके। प्रत्येक व्यक्त पदार्थ के क्षणिक होने से स्फटिक प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है।

'क्षण' काल का एक बहुत छोटा भाग है। उतने समय जिस पदार्थ की स्थिति हो, वह 'क्षणिक' कहाजाता है। प्रत्येक व्यक्त पदार्थ का क्षणिक होना उसके उपचय और अपचय के देखेजाने से प्रमाणित होता है। शरीर आदि में यह उपचय-अपचय अत्यन्त स्पष्ट हैं। जो आहार आदि लियाजाता है, वह पककर-रुधिर आदि रसों के रूप में परिणत होजाता है। कालान्तर में इससे शरीर की वृद्धि स्पष्ट प्रतीत होती है। आहार का रुधिर आदि के रूप में परिणत होना, उसके प्रतिक्षण परिणाम को प्रमाणित करता है। यदि ऐसा न मानाजाय, तो यह सम्भव नहीं कि उपभुक्त आहार-द्रव्य किसी एक क्षण में रुधिर आदि रूप में परिवर्त्तित होजाता हो। वह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता हुआ कालान्तर में उस दशा को प्राप्त हुआ ज्ञात होता है। जो स्थिति एक द्रव्य में देखीजाती है, उसे द्रव्यमात्र में समझलेना चाहिये।

शरीर में ह्रास की ओर परिवर्त्तन होने पर जो शरीर कभी वृद्धि की ओर परिवर्त्तित होरहा था, वही अब प्रतिक्षण क्षीणता की ओर जाने से कालान्तर में पूर्णरूप से परिवर्त्तित होजाता है। उस अवस्था को कहते हैं-शरीर नष्ट होगया। यह परिवर्त्तन संसार के अन्दर प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण होता रहता है। चाहे वह आपाततः कुछ काल तक प्रतीत न हो, और तब वस्तु को भ्रान्ति से स्थायी समझलियाजाय; परन्तु वस्तु की उत्पत्ति से लेकर नाश तक उसके उपचय-अपचय का क्रम निरन्तर चलता रहता है। उत्पत्ति और विनाश स्वयं अपने रूप में निरन्तर वस्तु-परिणाम का फल हैं। ऐसी स्थिति में स्फटिक को स्थायी मानकर उसमें नील, पीत आदि प्रतीति को भ्रान्त व गौण बतानेवाला हेतु असंगत है। तब उसके दृष्टान्त से वृत्तियों के भेद को गौण बताना निराधार है॥ १०॥

पदार्थ की स्थिति यथादृष्ट—आचार्य सूत्रकार ने इन वादों के विषय में यथार्थ विचार प्रस्तुत किया—

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ ११ ॥ (२८०)

[नियमहेत्वभावात्] नियम में (पदार्थमात्र के क्षणिक होने के नियम में) हेतु न होने से [यथादर्शनम्] देखेजाने के अनुसार [अभ्यनुज्ञा] स्वीकार करना चाहिये (पदार्थ के यथादृष्ट स्वरूप को)।

प्रत्येक व्यक्त पदार्थ क्षणिक है, इस नियम में-इस व्यवस्था के मानने में-कोई विशेष हेतु प्रतीत नहीं होता। इसलिये जो पदार्थ जैसा देखाजाता है-स्थायी अथवा अस्थायी-उसको उसी रूप में स्वीकार कियाजाना चाहिये। समस्त व्यक्त पदार्थों में शरीर के समान उपचय-अपचय का क्रम-सिलसिला निरन्तर बना रहता हो, ऐसा नियम नहीं है। ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादक कोई प्रत्यक्ष या

अनुमान आदि प्रमाण नहीं है। इसलिए जो पदार्थ जैसा देखाजाय, उसको वैसा स्वीकार करना यथार्थ है। जहाँ उपचय-अपचय निरन्तर होते प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानेजाते हैं, वहाँ अन्य-अन्य व्यक्ति का परिवर्त्तित होते रहना ठीक है। ऐसे शरीर आदि की सर्वात्मना एकत्व के रूप में स्थायिता स्वीकार नहीं कीजाती। परन्तु जहाँ उपचय-अपचय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जानेजाते, वहाँ प्रतिक्षण परिवर्त्तन का मानाजाना नितान्त असंगत है; जैसे कठोर पाषाण आदि में। स्फटिक में उपचय-अपचय का क्रम नहीं देखाजाता। तब उसे स्थायी मानना होगा, उसमें प्रतिक्षण अन्य-अन्य व्यक्तस्वरूप का उत्पन्न होना स्वीकार करना सर्वथा अयुक्त है। यह ऐसी बात है, जैसे आखे (अर्क-क्षुप) की कड़ुआहट का स्वाद लेकर अन्य सब पदार्थों को कड़ुआ बताने लगना। आक कड़ुआ है, तो उसे कड़ुआ कहो; आम मीठा है, तो उसे मीठा कहो। यही वास्तविकता है॥ ११॥

वस्तु के स्थायित्व में उपपत्ति—द्रव्यस्थिति के अनुक्रम में जो वादी यह समझता है कि वस्तु का सर्वात्मना नाश होकर क्षणान्तर में अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति होती है, वहाँ अन्वित धर्मी कोई नहीं रहता। इस मान्यता के विषय में आचार्य सूत्रकार बताता है—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः॥ १२॥ (२८१)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद), [उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः] उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि से (विभिन्न पदार्थों के सन्दर्भ में)।

विभिन्न पदार्थों के उत्पत्ति एवं विनाश के विविध कारण उपलब्ध होते हैं। किसी पदार्थ के कारणभूत अवयवों का उपचय उत्पत्ति का कारण होता है, और अवयवों का अपचय विनाश का कारण। जब पदार्थ का निर्माण होता है, उसमें अवयवों का जैसे-जैसे उपचय (संकलन-संमिलन) होता है, उसके अनुसार पदार्थ की उत्पत्ति होती रहती है। दीमक-कीट मृदवयवों को संकलित कर वल्मीक को बनाता रहता है; गृह आदि का निर्माण ऐसा ही होता है। इसीप्रकार वस्तु के विनाश के कारण स्पष्ट देखेजाते हैं। अवयवों का अपचय-बिखरजाना-टूटफूटजाना विनाश का कारण है। घट, पट, गृह आदि उत्पन्न पदार्थ टूटते-फूटते देखेजाते हैं। जबतक अवयवों का अपचय नहीं होता, वस्तु अपने रूप में विद्यमान रहती है। अवयवों से वस्तु के उत्पन्न होने पर वहाँ अन्वयी धर्मी अवश्य विद्यमान रहता है। उत्पन्न पदार्थ सीमित काल तक बने रहने से स्थायी देखाजाता है। प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण उत्पाद-विनाशशील मानने पर वहाँ उपचय-अपचय का होना अनुपपन्न है। पदार्थ के स्थायी होनेपर उपचय-अपचय का होना सम्भव है। इसप्रकार पदार्थों में उत्पत्ति और विनाश के कारण उपचय-

अपचय के देखेजाने से वस्तु का स्थायी होना सिद्ध होता है, क्षणिक होना नहीं। वस्तु के क्षणिक न होने पर अन्वयहीन अशेष का निरोध और अपूर्व वस्तु का उत्पाद सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में स्फटिक में अन्य-अन्य उत्पत्ति की सम्भावना निराधार होजाती है; क्योंकि स्फटिक स्थायी पदार्थ है। वहाँ नानात्व की प्रतीति को मुख्य नहीं मानाजासकता। फलतः निरन्वय उत्पाद-विनाश किसी हेतु से पुष्ट न होने के कारण अमान्य है॥ १२॥

क्षणिकत्व-कारणानुपलब्धि में उदाहरण—स्फटिक आदि में अन्य-अन्य उत्पत्ति के निराकरण के–वादी द्वारा कियेगये–समाधान को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः॥ १३॥ (२८२)

[क्षीरविनाशे] दूध के विनाश में [कारणानुपलब्धिवत्] कारण की अनुपलब्धि के समान [दध्युत्पत्तिवत्] दही की उत्पत्ति के समान [च] और [तद्उपपत्तिः] स्फटिक में अन्य-अन्य उत्पत्ति की उपपत्ति जानलेनी चाहिये।

दूध का दही बनजाता है; यहाँ दूध का नाश और दही का उत्पाद देखा-जाता है। परन्तु दूध के विनाश और दही के उत्पाद के कारणों की उपलब्धि नहीं होती। उत्पाद-विनाश के कारणों की उपलब्धि न होने पर भी उनके विनाश और उत्पाद को स्वीकार कियाजाता है। इसीप्रकार स्फटिक आदि में अन्य-अन्य व्यक्ति की उत्पत्ति व विनाश के कारणों की अनुपलब्धि में भी वहाँ अन्य-अन्य व्यक्ति के उत्पाद व विनाश का उपपादन समझना चाहिये। तब जैसे स्फटिक में नाना प्रतीति मुख्य होगी, वैसे वृत्तियों में भी उनका नाना होना मुख्य मानाजायगा। ऐसी दशा में वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये॥ १३॥

दध्युत्पत्ति में कारण अनुपलब्ध नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त मान्यता का निराकरण करता है—

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः॥ १४॥ (२८३)

[लिङ्गतः] लिङ्ग से–हेतु से [ग्रहणात्] ग्रहण-उपलब्धि होजाने से (उत्पाद-विनाश कारणों की) [न] नहीं है [अनुपलब्धिः] अनुपलब्धि।

वादी ने कहा–दूध के विनाश और दही के उत्पाद के कारणों की उपलब्धि नहीं होती। यह कथन निराधार है; क्योंकि दूध का दही बनजाना, अर्थात् दूध का नाश और दही का उत्पन्न होजाना इस बात का लिङ्ग है; अर्थात् इस तथ्य के मानेजाने में हेतु है कि उनके विनाश और उत्पत्ति के कारण आवश्यकरूप से

वहाँ विद्यमान हैं। कारण के बिना किसी कार्य का होना सम्भव नहीं होता, चाहे वह कार्य विनाश हो अथवा उत्पाद। स्फटिक की दशा में वहाँ कोई ऐसा कार्य-विनाश या उत्पाद-नहीं देखाजाता, जिससे उसके कारण का अनुमान करने की अपेक्षा हो। वहाँ स्फटिक स्थायी पदार्थ एकरूप विद्यमान रहता है। उपाधि के कारण रक्त, पीत, नील आदि प्रतीति औपचारिक हैं, गौण हैं। परन्तु दूध-दही के दृष्टान्त में यह स्थिति नहीं है। यहाँ दूध का विनाश और दही का उत्पाद स्पष्ट रूप से अपने कारणों का अनुमान कराते हैं। अनुमान से कारण की उपलब्धि होजाने पर कारण की अनुपलब्धि बताना सर्वथा निराधार है। फलतः स्फटिक आदि में अन्य-अन्य व्यक्ति की उत्पत्ति का कोई लिङ्ग न होने से वहाँ पूर्व का अशेष नाश और अपर-अपूर्व की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया-जासकता। इस कारण स्फटिक आदि पदार्थों को अनुवृत्त-स्थायी-निरन्तर विद्यमान रहनेवाले-मानना युक्तियुक्त है॥ १४॥

दूध-दही का विनाशोत्पाद गुणान्तरपरिणाम—प्रस्तुत प्रसंग में अन्य एक वादी के विचार को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १५ ॥ (२८४)

[न] नहीं युक्त, क्षीरविनाश और दधि-उत्पाद के कारण की उपलब्धि का उक्त समाधान), [पयसः] दूध के [परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात्] परिणाम द्वारा गुणान्तर के प्रादुर्भाव से।

गतसूत्रों में कहागया- दूध के विनाश और दही की उत्पत्ति में कोई कारण अवश्य रहता है। कारण का प्रत्यक्ष न होने पर भी दूध-दही के विनाश-उत्पाद से उसका अनुमान कियाजाता है। प्रस्तुत वादी का कहना है कि वहाँ न दूध का विनाश होता, और न दही का उत्पाद; तब विनाश-उत्पाद के कारण को ढूंढना व्यर्थ है। द्रव्य और उसके धर्मों का सद्भाव बराबर बना रहता है। दूध की दशा में द्रव्य और उसके धर्म विद्यमान हैं, दही की दशा में भी। दूध की दशा में माधुर्य, तारल्य आदि धर्म उद्भूत रहते हैं। दूध जब दही के रूप में परिणत होजाता है, तब वहाँ माधुर्य और तारल्य आदि धर्म अन्तर्निहित होजाते हैं, उद्भूत नहीं रहते; तथा जो धर्म अभीतक अनुद्भूत थे-अम्लता, पिच्छिलता आदि; उनका उद्भव होजाता है। द्रव्य और उसके सब धर्म तब भी विद्यमान थे, अब भी हैं। कभी कोई धर्म उद्भूत रहते हैं, दूसरे अनुद्भूत। इसप्रकार न दूध का नाश होता है, न दही का उत्पाद। द्रव्य की ऐसी स्थिति को परिणाम कहाजाता है। परिणाम का तात्पर्य है-द्रव्य और उसके धर्म अवस्थित रहते हैं, निमित्तविशेष से कभी उद्भूत पूर्वधर्म अनुद्भूत होजाते हैं, और जो धर्म अभी तक अनुद्भूत थे, उनका उद्भव होजाता है।

प्रस्तुत वादी का तात्पर्य है--वस्तुमात्र सदा अवस्थित रहता है। किसी का सर्वात्मना विनाश एवं अपूर्व उत्पाद सम्भव नहीं। सत् का असद्भाव और असत् का सद्भाव कभी नहीं होता। यह विवेचन वादी और सिद्धान्ती के सत्कार्य और असत्कार्य-वाद पर आधारित है[1] ॥ १५ ॥

वादी द्वारा प्रस्तुत उत्पाद-विनाश के अभाव का–आचार्य सूत्रकार ने–प्रतिषेध प्रस्तुत किया—

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १६ ॥ (२८५)

[व्यूहान्तरात्] रचना-विशेष (एक अवयव-समुदाय के संयोगविशेष) से [द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनम्] भिन्न द्रव्य की उत्पत्ति का देखाजाना [पूर्वद्रव्य-निवृत्तेः] पहले द्रव्य की समाप्ति का [अनुमानम्] अनुमान कराता है।

यह देखाजाता है, कुछ कारण-द्रव्य इकट्ठे होते हैं, अथवा इकट्ठे किये-जाते हैं। वे अपने रूप में यद्यपि स्वतन्त्र अवयवी हैं, परन्तु आगे उनसे जो कार्य उत्पन्न होना है, उसके वे अवयवरूप कारणद्रव्य हैं। इनका अपना व्यूह, अपनी विशेष रचना है। इस पूर्व-अवस्थित अवयवसमुदाय से–दूध आदि द्रव्यविशेष से एक अन्य द्रव्य दही आदि की उत्पत्ति देखीजाती है। द्रव्य की यह स्थिति पहले द्रव्य के विनाश का अनुमान कराती है। दूध की अवस्था में दही नहीं देखाजारहा था; जब दूध की अवस्था नहीं रही, तब दही देखाजाता है। इससे यह सिद्ध है, किसी कारणविशेष से दूध का विनाश और दही का उत्पाद होता है। कारण का निश्चय इसीसे होजाता है; क्योंकि कारण के बिना किसीका विनाश अथवा उत्पाद सम्भव नहीं। दूध के विनाश के बिना दही का उत्पाद नहीं होसकता; दूध की विद्यमानता में दही कहाँ है? दही का उत्पन्न होजाना, इस तथ्य का निश्चायक है कि दूध का विनाश होगया है। ये उत्पाद और विनाश अपने कारण का अनुमान करादेते हैं।

यह देखाजाता है, मृत्पिण्ड (पानी से सना-गुथा मिट्टी का ढेर-लौंदा) अपने अवयवों के विशेष संयोग के कारण एक विशिष्ट आकृति को ग्रहण किये रहता

---

१. भाष्यकार वात्स्यायन ने उक्त विचार सांख्य-योग के अनुसार प्रकट करते हुए पातञ्जल योगसूत्र [३ । १३] के व्यासभाष्य की एक पंक्ति को 'एक आह' यह कहकर इसप्रकार उद्धृत किया है—"परिणामश्च–अवस्थितस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः–इति।" द्रष्टव्य, योगसूत्र [३ । १३] पर व्यासभाष्य की अन्तिम पंक्ति। न्यायसूत्र [१ । २ । ६] पर भी व्यासभाष्य [३ । १३] के कतिपय अंश उद्धृत हैं। इससे योगभाष्यकार व्यास का काल न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन से पहले है; यह प्रमाणित होता है।

है। पर जब उस मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होजाता है, तब मृत्पिण्ड की दशा में जो अवयव-संयोग था, वह अब दिखाई नहीं देता। उन अवयवों का विभाग होजाने से निश्चित ही पूर्वावयवसंयोग का नाश होजाता है। यह पूर्वद्रव्य–मृत्पिण्ड के नाश का प्रयोजक है। उससे उत्पन्न घट-द्रव्य के अवयवसंयोग का जब नाश होजाता है, अर्थात् घटावयवों में किसी कारण विभाग उत्पन्न होजाने से अवयव बिखर जाते हैं, पूर्व-अवयवसंयोग का नाश होजाता है; तब कहाजाता है–घट नष्ट होगया। इस उत्पाद-विनाश की परम्परा में जैसे मृत्पिण्ड और घट में मृद्रूप द्रव्य अन्वित रहता है; ऐसे दूध-दही में कारण-अवयव द्रव्य अन्वित रहते हैं। निरन्वय अशेष का विनाश तथा सर्वथा अपूर्व द्रव्य का उत्पाद-सिद्धान्त-पक्ष को भी अभिमत नहीं है। परिणामवाद और आरम्भवाद में शाब्दिक ऊपरी बहस बहुत रहती है। गम्भीरता से विचारने पर इनमें मौलिक भेद नहीं के बराबर है[1]॥ १६॥

दूध-दही का विनाशोत्पाद अकारण नहीं—जो वादी दूध का बिनाश और दही का उत्पाद विना कारण के होना स्वीकार करता है; आचार्य सूत्रकार ने उसकी इस मान्यता में अनेकान्त दोष प्रस्तुत किया—

क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोप-लब्धेरनेकान्तः ॥१७॥ (२८६)

[क्वचित्] कहीं (दूध-दही आदि में) [विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाश के कारण की उपलब्धि न होने से [क्वचित्] कहीं [च] और (घट आदि में) [उपलब्धेः] उपलब्धि होने से (विनाश आदि के कारण की), [अनेकान्तः] अनेकान्त है (व्यभिचार-दोष से दूषित है, वादी का उक्त कथन)।

वादी ने कहा–दूध आदि में विनाश का कारण उपलब्ध नहीं होता, यह प्रथम कहाजाचुका है यद्यपि प्रत्यक्ष से दूध आदि में विनाशकारण उपलब्ध नहीं होता, पर अनुमान से उसकी उपलब्धि होजाती है। कार्यमात्र के सकारणक होने से विनाशरूप कार्य भी विना कारण नहीं होसकता; अतः विनाश स्वयं अपने कारण का अनुमान करादेता है। परन्तु सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रद्वारा वादी के उक्त कथन में अनेकान्त-दोष की उद्‌भावना कर प्रकारान्तर से उसका प्रतिषेध करता है।

---

१. असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद के रूप में आरम्भवाद व परिणामवाद का संक्षिप्त व स्पष्ट विवेचन, हमारी रचना 'वैशेषिक दर्शन–विद्योदयभाष्य' के परिशिष्ट–१ में पृ० ३७६ से ३८२ तक कियागया है। वहाँ देखा-जासकता है।

यदि दूध आदि के विनाश का कारण उपलब्ध नहीं होता, तथापि घट आदि के उत्पाद-विनाश का कारण तो उपलब्ध होता है। घट आदि के उत्पाद-विनाश में कारण का प्रत्यक्षतः ग्रहण प्रत्येक व्यक्ति करसकता है। ऐसी स्थिति में–वस्तुमात्र के उत्पाद-विनाश निष्कारण होते हैं–यह कथन अनेकान्त होजाता है। यदि दूध-दही के निष्कारण उत्पाद-विनाश के समान स्फटिक आदि में अन्य-अन्य व्यक्ति का विनाश-उत्पाद निष्कारण कहाजाता है, घट आदि के सकारण उत्पाद-विनाश के समान स्फटिक आदि में भी अन्य-अन्य व्यक्ति का उत्पाद-विनाश सकारणक क्यों नहीं मानाजाता ? तात्पर्य है, सकारणक उत्पाद-विनाश के देखेजाने से निष्कारण उत्पाद-विनाश को एकान्त नियम नहीं कहाजासकता।

स्फटिक में विनाशोत्पाद नहीं—उक्त मान्यता में न केवल अनेकान्त-दोष है, अपितु आश्रयासिद्ध दोष भी है। स्फटिक आदि में उत्पाद-विनाश निष्कारण हैं, इसमें दूध-दही के विनाश-उत्पाद का दृष्टान्त दिया। यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध है। इस दृष्टान्त का आश्रय अर्थात् पक्ष असिद्ध है। जैसे दूध-दही में विनाश-उत्पाद गृहीत होते हैं, ऐसे स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद गृहीत कहाँ होते हैं ? यदि दूध-दही के समान स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद गृहीत होते, तो दूध-दही के विनाश-उत्पाद-दृष्टान्त का आश्रय यथार्थ होता। परन्तु स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद गृहीत नहीं होते; अतः इस दृष्टान्त का आश्रय असिद्ध होने से इस आधार पर किया गया कथन असंगत होजाता है।

एक बात और है, वादी स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद को स्वीकार करता है, तो यह उसीके समान मानाजाना चाहिये, जहाँ घट आदि में उत्पाद-विनाश प्रत्यक्षतः गृहीत होते हैं। घट आदि में उत्पाद-विनाश की सकारणकता सिद्ध है, उसका प्रतिषेध नहीं कियाजासकता। तब स्फटिक आदि में यदि उत्पाद-विनाश सम्भव हैं, तो उन्हें सकारणक मानना होगा। इसप्रकार उत्पाद-विनाश को निष्कारणक मानाजाना सर्वथा असंगत है, निराधार है।

ऐसी स्थिति में दूध-दही के विनाश-उत्पाद को निष्कारण नहीं कहाजा-सकता। प्रत्येक कार्य सकारणक होता है, यह एक निश्चित व्यवस्था है। यदि दूध-दही के विनाश-उत्पाद के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होते, तो उक्त व्यवस्था के आधार पर उनका अनुमान कियाजासकता है; क्योंकि कार्य अपने कारण के अस्तित्व का अनुमापक (लिङ्ग) होता है।

इस समस्त विवेचन के आधार पर परिणाम निकलता है कि वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद है; तथा वृत्तिरूप ज्ञान–जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि के द्वारा उत्पन्न होता है–वह अनित्य है। उसी ज्ञान का अपरनाम आचार्य ने बुद्धि बताया है [१।१।१५], अतः बुद्धि को अनित्य मानाजाना सर्वथा प्रामाणिक है ॥ १७ ॥

बुद्धि (ज्ञान) किसका गुण है—बुद्धि की अनित्यता का निश्चय होजाने पर बुद्धिविषयक अन्य अवशिष्ट परीक्ष्य अंशों को समझने की भावना से शिष्य जिज्ञासा करता है, बुद्धि को किसका गुण मानाजाना चाहिये ? संशय का कारण यह है—बुद्धि का उत्पाद इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि से मानागया है। उसमें आत्मा और मन का सम्बन्ध आवश्यकरूप से रहता है। अब बुद्धि की उत्पत्ति में ये चार कारण साधारणतः सामने आते हैं–आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ। इन चारों में से किसका गुण बुद्धि को मानाजाय ? यह जिज्ञासा है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानाऽवस्थानात् ॥ १८ ॥ (२८७)

[न] नहीं (गुण, बुद्धि) [इन्द्रियार्थयोः] इन्द्रिय और अर्थों का, [तद्विनाशे] इन्द्रिय और अर्थ के विनाश होने पर [अपि] भी [ज्ञानाऽवस्थानात्] ज्ञान के अवस्थान से-विद्यमान रहने से।

बुद्धि, इन्द्रिय–अर्थ का गुण नहीं—ज्ञान (-बुद्धि) की उत्पत्ति में निमित्त उक्त चारों पदार्थों में से इन्द्रिय और अर्थों [गन्ध, रस, रूप आदि तथा घट, पट आदि] का गुण ज्ञान नहीं होसकता; क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के न रहने पर ज्ञान बना रहता है। यदि ज्ञान इनका गुण होता, तो इनके न रहने पर ज्ञान नहीं रहसकता था। कारण यह है–गुण अपने आश्रय-द्रव्य के बिना नहीं रह-सकता। एक वस्तु को किसी व्यक्ति ने आँखों से देखा; देखने के कुछ काल अनन्तर किसी अनिवार्य कारण से उस व्यक्ति की आँखें जाती रहीं। वह वस्तु भी–जो पहले देखी थी-न रही। फिर भी उस व्यक्ति को वस्तु के विषय में 'ज्ञान' बनारहता है, उसे यह निश्चित प्रतीति होती है कि–मैंने उस वस्तु को देखा था। ज्ञाता अर्थात् ज्ञान के आश्रय का विनाश होजाने पर ज्ञान का होना सर्वथा असम्भव है।

इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'अनुभव' ज्ञान कहाजाता है। उस ज्ञान के होने में इन्द्रिय साधन और अर्थ विषय रहता है, ज्ञान का आश्रय नहीं। उस ज्ञान का आश्रय इन्द्रिय और अर्थ के अतिरिक्त कोई अन्य है। परन्तु अनन्तर-काल में 'देखा था' (-अद्राक्षम्) रूप से जो ज्ञान होता है, यह अनुभवात्मक न होकर स्मृतिरूप है। इस ज्ञान के होने में इन्द्रिय और अर्थ का तात्कालिक अस्तित्व अपेक्षित नहीं होता। यदि इन्द्रिय और अर्थ इस ज्ञान के आश्रय होते, तो उनके अभाव में इस ज्ञान का होना सम्भव नहीं था। यह स्मृतिरूप ज्ञान आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होजाता है। यह (स्मृति-ज्ञान) उसीको हो सकता है, जिसको प्रथम अनुभव हुआ हो। अन्य के अनुभूत विषय का अन्य को स्मरण नहीं होसकता। चैत्र के अनुभव का मैत्र

स्मरण नहीं करसकता। यह स्थिति स्पष्ट करती है-अनुभव-काल में ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ को नहीं हुआ। तब उसके आगे मन को ज्ञाता मानलेने की सम्भावना में इन्द्रिय और अर्थ को ज्ञाता [-ज्ञान का आश्रय] प्रतिपादित नहीं कियाजा-सकता ॥ १८ ॥

बुद्धि, मन का गुण नहीं—यह सुनकर शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है-अच्छी बात है, इन्द्रिय और अर्थ का गुण ज्ञान न रहे; तब क्या मन का गुण ज्ञान को मानलेना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ १९ ॥ (२८८)

[युगपत्] एक-साथ [ज्ञेयानुपलब्धेः] ज्ञेय (अनेक विषयों) की उपलब्धि न होने से [न] नहीं है, [मनसः] मन का (गुण, ज्ञान)।

आत्मा चेतन-तत्त्व है; अपने चैतन्य के कारण स्वभावतः वह वैभवशाली है, विशिष्ट प्रभावी शक्तियों से सम्पन्न। शरीर में उसकी स्थिति ऐसी है कि एक जगह बैठे भी उसका सम्पर्क समस्त इन्द्रियों से रहता है। इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों के साथ सन्निकृष्ट होकर उस विषय के ग्रहण कराने में साधन होती हैं। शरीर में विशिष्ट स्थिति के कारण आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ निरन्तर संपर्क बना रहने से प्रतिक्षण अनेक ज्ञानों का होना प्राप्त होता है, जो अनुभव के अनुकूल नहीं है। इस व्यवस्था के लिये आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में एक ऐसे साधन-तत्त्व की कल्पना करनी पड़ती है, जो एक क्षण में एक ही इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान कराने में उपयोगी है। वह साधन 'मन' है। उसीको अन्तःकरण कहाजाता है। घ्राण आदि इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं। जिस इन्द्रिय के साथ जिस क्षण मन का सन्निकर्ष रहता है, उस क्षण में उसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का ज्ञान ज्ञाता को होपाता है। इसप्रकार मन के अस्तित्व की कल्पना ज्ञान के साधनरूप में कीगई है, ज्ञातारूप में नहीं। ज्ञेय की युगपत् उपलब्धि न होने में मुख्य साधन मन है। इसलिये मन को ज्ञाता [ज्ञान का आश्रय] न मानाजाकर ज्ञान का साधन मानाजासकता है।

बुद्धि आत्मा का गुण है—युगपत् विषय का ग्रहण न होना अन्तःकरण मन का लिङ्ग है। ज्ञान उस अन्तःकरण का गुण नहीं। वह ज्ञाता का गुण है, जो इन सभी साधनों [करणों] पर नियन्त्रण रखता है। करण सब नियम्य हैं। यदि इनमें से किसीका गुण ज्ञान को मानाजाय, तो उसका करणभाव समाप्त होजायगा। ज्ञाता को गन्ध आदि का ज्ञान कराने में बाह्य करण घ्राण आदि साधनों से अनुमान होता है-ज्ञाता को सुख-दुःख आदि तथा स्मृतिरूप ज्ञान के कराने में उपयोगी साधन कोई अन्तःकरण अवश्य होना चाहिये। वही साधन अन्तःकरण मन है। यदि उसीका गुण ज्ञान मानलियाजाय, तो वह ज्ञाता के स्थान

पर आत्मा-रूप में आ बैठता है; तब युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि तथा सुखादि की उपलब्धि के साधनरूप में अन्य तत्त्व की कल्पना करनी होगी। तब अर्थ-तत्त्व तो वैसा ही रहा, केवल उनके नाम में भेद होगया। फलतः यह निश्चित हुआ– मन, ज्ञान सुख आदि का साधनमात्र है; इनका आश्रय ज्ञाता आत्मा है; अतः ज्ञान आत्मा का गुण है।

सूत्र में एक 'च' पठित है–'युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः 'च' मनसः'। व्याख्याकारों ने इस चकार के प्रयोग का यहाँ एक विशेष प्रयोजन बताया है। उनका कहना है, युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि का जो उल्लेख हुआ है, वह अयोगी [–जो योग-समाधिसम्पन्न नहीं है, अर्थात् सर्वसाधारणजन] के विषय में समझना चाहिये। इसी भावना को अभिव्यक्त करने के लिये यहाँ सूत्रकार ने 'च' पद का प्रयोग किया है। क्योंकि वस्तुतः योगी इस परिस्थिति से परे होता है।

जब योगी योग-समाधि-सम्पन्न होजाता है, तब उस आत्मा की प्रसुप्त अनुपम विभूतियाँ जागृत होजाती हैं। उस वैभव के प्रादुर्भूत होजाने पर आत्मा विकरणधर्मा होजाता है। किन्हीं विषयों को ग्रहण करने के लिये उसे इन्द्रिय जैसे बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। वह युगपत् अनेक विषयों को वैसे ही ग्रहण कर सकता है, जैसे इन्द्रियसहित अन्य अनेक शरीरों में आत्मा उपलब्ध करता है। वह व्यवहित, विप्रकृष्ट तथा अतिसूक्ष्म विषयों का ग्रहण करलेता है, जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। उसमें अयोनिज शरीरों के निर्माण करने का सामर्थ्य होजाता है। यह सब वैभवशालिताप्राप्त आत्मा के चैतन्यस्वरूप का चमत्कार समझना चाहिये। अचेतन-जड़ वैभवहीन मन में यह सब सम्भव नहीं। यदि मन को ऐसा वैभवशाली मानलियाजाता है, तो वह आत्म-स्थानीय तत्त्व होगया। इसमें ज्ञान अथवा चैतन्य आत्मगुण है, इसका प्रतिषेध नहीं हुआ। उस तत्त्व का केवल नाम बदलदियागया। यदि साधनभूत मन को ऐसा वैभवशाली मानलिया-जाता है, तो फिर समस्त इन्द्रियों द्वारा युगपत् ज्ञान होने को कोई रोक नहीं सकता। क्योंकि आत्मा और इन्द्रियों के बीच में मन नामक वैसा तत्त्व आगया, जैसा स्वयं आत्मा है। इसलिये चैतन्य की वैभवशालिता से रहित साधन की कल्पना युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि में उपयोगी होसकती है। जो वैभव चैतन्य में सम्भव है, वह जड़ मन में कभी नहीं होसकता। अतः चेतन आत्मा और इन्द्रियों के बीच में एक ऐसे जड़ साधन की कल्पना कीगई है, जो आत्मा को इन्द्रियों द्वारा युगपत् ज्ञान होने में रोक लगाता है। इस विवेचन के फलस्वरूप ज्ञान आत्मगुण है, यह निश्चय होजाता है[1] ॥ १९ ॥

---

१ **इस प्रसंग को समझने के लिये आवश्यक है कि देह में आत्मा की स्थिति अथवा आत्मा के निवास को समझ लियाजाय। व्यापकरूप में देहस्थित**

ज्ञान के आत्म-गुण होने में दोष—वादी कहता है, ज्ञान को मन का गुण मानने पर जो दोष गत सूत्र द्वारा प्रकट कियागया, वह दोष–ज्ञानको आत्मा का गुण मानने पर भी सम्भव है। आचार्य सूत्रकार ने वादी की इस भावना को सूत्रित किया—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २० ॥ (२८६)

[तत्] वह (–युगपत् ज्ञेय की उपलब्धिरूप) दूषण [आत्मगुणत्वे] आत्मा का गुण होने पर (ज्ञान के) [अपि] भी [तुल्यम्] तुल्य–समान है।

आत्म-चैतन्य के समस्त देह में व्याप्त होने के कारण उसका सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ रहता है। तब प्रतिक्षण प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का ज्ञान आत्मा को होता रहना चाहिये। जब दोनों में समान दोष है, तो ज्ञान को मन का गुण मानाजाय, अथवा आत्मा का, इसमें क्या अन्तर आता है ? ॥ २० ॥

आत्मा को विभु कहना प्रामाणिक नहीं है। देह में आत्मा एकदेशी है, इसकी विभुता चैतन्यस्वरूप के कारण इसकी शक्तियों पर निर्भर है। वे शक्ति व सामर्थ्य साधारण स्थिति में सदा अन्तर्हित रहते हैं। उपलब्ध उपयुक्त साधनों द्वारा साधारण अवस्था में भी वह सामर्थ्य अपना चमत्कार दिखाता है। समाज में महान् लोककर्त्ता पुरुष समाधिसम्पन्न न होने पर भी चैतन्य के विशिष्ट प्रतिभाजन्य स्तर पर पहुँचकर समाज का नेतृत्व करते हैं। परन्तु आत्मा के योग-समाधि से सम्पन्न होजाने पर चैतन्य की वे आश्चर्यजनक शक्तियाँ–जो अभीतक अन्तर्हित थीं–जागृत होजाती हैं। तब आत्मा, देह और इन्द्रिय आदि साधनों की परिधि से परे होजाता है। उसे समस्त व्यवहित, विप्रकृष्ट, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी के लिये वह 'सामर्थ्य' मिलजाता है, जहाँ इन्द्रियादि साधन नगण्य हैं। अथवा, जिसकी तुलना में ये साधन हेय हैं।

आत्मा देह के एक देश में स्थित रहता है। यह मस्तिष्कगत हृदय-देश है। सूक्ष्मशरीर आत्मा का परिवेष्टन (एक प्रकार का खोल) है, जिसमें आत्मा आ-सर्गप्रलय अवस्थित रहता है। उसीमें समस्त करण अवस्थित हैं। देह में बाहर को खुले आँख, नाक आदि उन इन्द्रियों के गोलकमात्र हैं, जो इन्द्रियाँ आत्मा के निवास-क्षेत्र में सीमित हैं। इन्द्रियों का अपने गोलकों के साथ सम्बन्ध ज्ञानवहा नाड़ियों द्वारा सम्पन्न होता है, जिनका जाल आत्म-निवास के मस्तिष्क केन्द्र से समस्त देह में फैला हुआ है। देह में आत्म-निवास की अधिक जानकारी के लिये हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' के पृष्ठ ११५–१२१ द्रष्टव्य हैं।

बुद्धि के आत्मगुण होने में कोई दोष नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इस आपत्ति का समाधान किया—

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुपपत्तिः ॥ २१ ॥ (२६०)

[इन्द्रियैः] इन्द्रियों के साथ [मनसः] मन का (युगपत्) [सन्निकर्षाभावात्] सन्निकर्ष के अभाव से [तद्-अनुपपत्तिः] उस युगपत् ज्ञान) की उपपत्ति-सिद्धि नहीं होती।

गन्ध आदि विषयों की उपलब्धि में जैसे घ्राण आदि इन्द्रिय का अर्थ (विषय) के साथ सन्निकर्ष आवश्यक कारण है, इसीप्रकार इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष कारण है। अचेतन अणु मन का सन्निकर्ष एक समय में एक इन्द्रिय के साथ होसकता है। जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होगा, उस समय उसी इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होगा। मनःसंयोगरूप कारणवैकल्य से उस समय अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान न होगा। यद्यपि आत्मचैतन्य का इन्द्रियों से स्वतः, तथा ज्ञानवहा नाड़ीजाल के द्वारा प्रत्येक बाह्य इन्द्रियगोलक के साथ सम्बन्ध सदा बनारहता है। मन का स्वभाव है, वह एक समय में एक इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होसकता है। इसलिये ज्ञान आत्मा का गुण होने पर भी मनोरूप माध्यम के कारण युगपत् ज्ञान आत्मा को नहीं होपाते ॥ २१ ॥

मन ज्ञान-साधन—वादी पुनः आशङ्का करता है, यदि ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रिय ज्ञान का साधन है, अर्थ ज्ञान का विषय है, तो—'आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ' इन तीन को ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मानना चाहिये। मन का न तो गुण है ज्ञान, न वह गन्धज्ञान आदि में घ्राण आदि के समान ज्ञान का साधन है, और न ज्ञान का विषय। तब ज्ञानोत्पत्ति के क्षेत्र से मन का बहिष्कार होना चाहिये। ऐसा होने पर युगपत् ज्ञान होने की प्रसक्ति होगी। उससे बचने के लिये यह अच्छा है कि ज्ञानोत्पत्ति की सीमा से आत्मा को बाहर निकालकर वहाँ मन को बैठादियाजाय। तब ज्ञान आत्मा का गुण न मानाजाकर मन का गुण मानलियाजाय। इससे मन के अचेतन अणु होने के कारण युगपत् ज्ञानोत्पत्ति की प्रसक्ति भी न होगी। इस आशंका का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २२ ॥ (२६१)

[न] नहीं (युक्त, उक्त आशंका) [उत्पत्तिकारणानपदेशात्] उत्पत्ति (ज्ञानोत्पत्ति) के कारणों में (आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ केवल इन तीन के) कथन न होने से।

प्रस्तुत शास्त्र में जहाँ ज्ञानोत्पत्ति के निमित्तों का निर्देश कियागया है, वहाँ केवल 'आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ' इन तीन का उल्लेख हुआ हो, ऐसा नहीं है। सूत्रकार ने प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख किया है [१।१।४]। अन्यत्र युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति में मन को साधन बताया है [१।१।१६]। इससे ज्ञान की उत्पत्ति में मन को साधनरूप से स्पष्ट स्वीकार कियागया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग ज्ञान को आत्मा का गुण सिद्ध करता है। शास्त्र की सकल भावना को हृदयंगम कर भाष्यकार आचार्यों ने ज्ञानोत्पत्ति में 'इन्द्रिय-अर्थ' के सन्निकर्ष के समान मनःसन्निकर्ष को साधनरूप से तथा आत्म-सन्निकर्ष को ज्ञानाश्रयरूप से स्वीकारकर उसका स्पष्ट उल्लेख किया है [१।१।४ का वात्स्यायन-भाष्य]। इसप्रकार ज्ञानोत्पत्ति के निमित्तों की सीमा में 'आत्मा-मन-इन्द्रिय-अर्थ' इन सबका समावेश है। मन का इससे बहिष्कार नहीं कियाजासकता। ज्ञानोत्पत्ति की कारणता में मन साधनरूप से समाविष्ट है, ज्ञानाश्रयरूप से नहीं। ऐसी स्थिति में वादी द्वारा उद्भावित-युगपत् ज्ञानोपलब्धिप्रसङ्ग-दोष सिद्धान्त-पक्ष को दूषित नहीं करता। मन के साधनरूप में उपस्थित रहने से अनेक इन्द्रियों के साथ उसका युगपत् सन्निकर्ष असम्भव होता है। अतः एक समय में एक ही ज्ञान होपाता है ॥ २२ ॥

नित्य आत्मा का गुण ज्ञान नित्य हो—ज्ञान को आत्मा का गुण मानने में वादी पुनः दोष प्रस्तुत करता है कि आत्मा के नित्य होने से उसके गुण ज्ञान को नित्य मानाजाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने वादी की भावना को सूत्रित किया—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ २३ ॥ (२६२)

[विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाश के कारणों की उपलब्धि न होने से (ज्ञान के), [च] तथा [अवस्थाने] अवस्थान—ज्ञान का स्थित रहना प्राप्त होने पर [तन्नित्यत्वप्रसङ्गः] ज्ञान का नित्य होना प्रसक्त होता है।

आत्मा नित्य है; ज्ञान को आत्मा का गुण मानाजाता है, तो ज्ञान नित्य होना चाहिये। ऐसी स्थिति में सूत्रपठित 'च' पद गत बीसवें सूत्र से प्रकट कियेगये—युगपत् ज्ञान होने रूप—दोष की प्रसक्ति का समुच्चय करता है। तात्पर्य है—ज्ञानों के नित्य होने पर युगपत् अनेक ज्ञानों का विद्यमान रहना प्राप्त होगा, जो अवाञ्छनीय है। ज्ञान को आत्मा का नित्यगुण मानने पर इस अवाञ्छनीयता को हटाया नहीं जासकता।

गुण-विनाश के कारण दो प्रकार के हैं। एक है—गुणों के आश्रय का न

रहना। दूसरा है–किसी विरोधी गुण का उपस्थित होजाना। पहला कारण यहाँ सम्भव नहीं; क्योंकि ज्ञान गुण का आश्रय 'आत्मा' नित्य द्रव्य है; उसका नाश कभी सम्भव नहीं। इसलिये आश्रयनाश से ज्ञान-गुण के नाश की कल्पना करना निराधार है। दूसरा कारण है–विरोधी गुण का उपस्थित होना। बुद्धि (ज्ञान) का कोई विरोधी गुण जाना नहीं जाता। कोई ऐसा गुण आजतक गृहीत नहीं है, जिसे बुद्धि का विरोधी कहाजासके। ऐसी स्थिति में बुद्धि को नित्य आत्मा का गुण मानने पर उसका नित्य होना प्राप्त होगा। इसप्रकार बुद्धि को आत्म-गुण मानने से दो दोष प्राप्त हुए। एक–बुद्धि का नित्य होना। दूसरा–नित्य होने से अनेकानेक बुद्धियों (ज्ञानों) का युगपत् बने रहना॥ २३॥

ज्ञान गुण नित्य नहीं—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान प्रस्तुत किया—

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् विनाशः शब्दवत्॥ २४॥ (२६३)

[अनित्यत्वग्रहात्] अनित्य होने के ग्रहण से (बुद्धि के), [बुद्धेः] बुद्धि का [बुद्ध्यन्तरात्] अन्य बुद्धि से [विनाशः] विनाश होजाता है, [शब्दवत्] शब्द के समान।

शब्द की अनित्यता, तथा उत्पत्तिस्थान से श्रोत्र तक पहुँचने में शब्द-सन्तति का उपपादन विस्तारपूर्वक प्रथम [२। २। १३–३६] कियाजाचुका है। शब्द उत्पन्न होकर वीचीतरङ्गन्याय से अगले शब्द को उत्पन्न करता और पहले का नाश करता है। जैसे एक तालाब में पत्थर फेंकने पर, पत्थर के जल में गिरने के स्थान से सब ओर एक लहर, और उस लहर से अन्य लहर–पत्थर गिरने की क्षमता के अनुसार–दूरतक उठती चलीजाती हैं, इसीप्रकार किसी जगह शब्द के होने पर आकाश में शब्द-स्थान से सबओर शब्द की तरंग फैलती चलीजाती हैं। यहाँ पहला शब्द अगले को उत्पन्न करता, और अपने से पूर्व-शब्द को नष्ट करता चलाजाता है। शब्द की ऐसी तरंगों को 'शब्द-सन्तान' अथवा 'शब्द-सन्तति' कहाजाता है। इसप्रकार शब्द के उत्पन्न होने और विनाश होने से उसकी अनित्यता प्रमाणित होती है।

ठीक इसीप्रकार ज्ञान उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं, इस स्थिति को प्रत्येक व्यक्ति जानता-समझता है। एक ज्ञान के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा, और फिर अन्य विषय का ज्ञान–यह क्रम बराबर चलता रहता है, यह कोई छिपा हुआ तथ्य नहीं है। जब एक ज्ञान के अनन्तर दूसरा ज्ञान होता है, तो वही पहले ज्ञान का विरोधी गुण है। अपने उत्पन्न होने पर पहले ज्ञान को नहीं रहने देता। इसप्रकार ज्ञान का अनित्य होना प्रत्येक व्यक्ति के लिये

सुबोध्य है। ज्ञान के आश्रय आत्मा के नित्य होने से यह आवश्यक नहीं कि वह गुण नित्य हो। नित्य आकाश का गुण शब्द अनित्य रहता है। आत्मा को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि से होने वाले विषय-ज्ञान के अनित्य होने में कोई बाधा नहीं है। यह वृत्तिरूप ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, जिससे इस ज्ञान के नित्य होने अथवा आत्मा के अनित्य होने की आपत्ति का उद्भावन किया-जासके ॥ २४ ॥

स्मृति का अयौगपद्य—ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर वादी स्मृति के आधार पर अन्य प्रकार से आपत्ति प्रस्तुत करता है। उसका कहना है—पहले असंख्यात अनुभवों के संस्कार आत्मा में समवेत रहते हैं। आत्मा और मन का सन्निकर्ष होने पर वे संस्कार स्मृति-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। आत्मा और मन का सन्निकर्ष दोनों के नित्य होने से सदा बना रहता है। यदि ज्ञान आत्मा का गुण हो, तो प्रतिक्षण अनेक स्मृतियाँ होती रहनी चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे अनुमान होता है—ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है। इस आपत्ति के निवारण के लिये सूत्रकार ने किसी अन्य आचार्य के द्वारा प्रस्तुत समाधान को सूत्रित किया—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २५ ॥ (२९४)

[ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षात्] ज्ञान (ज्ञान-हेतु संस्कार) से समवेत आत्मप्रदेश के साथ सन्निकर्ष से [मनसः] मन के [स्मृत्युत्पत्तेः] स्मृति की उत्पत्ति होने के कारण [न] नहीं [युगपत्] एक-साथ [उत्पत्तिः] उत्पत्ति (अनेक स्मृतियों की)।

किसी आचार्य के द्वारा यह समाधान आत्मा को विभु मानकर कियागया है। तात्पर्य है—आत्मा विभु है, सर्वत्र व्यापक है। अनन्त विभिन्न संस्कार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में समवेत रहते हैं। मन क्योंकि अणु है, उसका सन्निकर्ष एक समय में आत्मा के किसी एक प्रदेश के साथ होना सम्भव है। इसप्रकार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों के साथ मन का सन्निकर्ष पर्याय से अर्थात् क्रम से होगा। मनःसन्निकृष्ट आत्मा के प्रदेश में जो संस्कार समवेत होगा; उस क्षण में उसीकी स्मृति होना सम्भव है। अतः मनःसन्निकर्ष के पर्याय से होने के कारण स्मृतियाँ पर्याय से होंगी। फलतः ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर भी स्मृतियों के युगपत् होने की आपत्ति निराधार है ॥ २५ ॥

मन शरीर के बाहर नहीं जाता—स्मृतियों के युगपत् न होने का उक्त समाधान दोषपूर्ण है; यह आचार्य सूत्रकार बताता है—

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २६ ॥ (२९५)

[न] नहीं (युक्त, उक्त समाधान), [अन्तःशरीरवृत्तित्वात्] शरीर के भीतर विद्यमान रहने के कारण [मनसः] मन के।

आत्मा शरीर में और शरीर के बाहर सर्वत्र व्याप्त है। अनन्त संस्कार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में समवेत हैं, जो शरीर से बाहर हैं। किसी एक आत्मप्रदेश में एक संस्कार रहता है। तब अनन्त संस्कारों का आत्मप्रदेशों में समवेत होना अधिकता से देह के बाहर सम्भव है। परन्तु मन का शरीर से बाहर जाकर आत्मप्रदेशों के साथ सन्निकृष्ट होना सम्भव नहीं। कारण यह है—देहसहित आत्मा का मन के साथ संयोग चालू जीवन का चिह्न है, जबतक प्रारब्ध कर्माशय फलोन्मुख रहता है। जिन कर्मसमूहों से एक जीवन प्रारम्भ होता है, वे कर्म यथाक्रम फलोन्मुख रहते हैं; फल की प्राप्ति पूर्ण होजाने पर उस देह के साथ मनसहित आत्मा का सम्बन्ध समाप्त होजाता है, और जीवन पूरा होजाता है। जीवन के चालू काल में मन का शरीर से बाहर होना असंभव है। ऐसी दशा में एक जीवन के चालू रहते हुए देह के बाहर आत्म-प्रदेशों के साथ मन का सन्निकर्ष उपपन्न नहीं होसकता। तब युगपत् स्मृतियों का न होना क्या? अधिकतर स्मृति का न होना ही प्राप्त होगा, जो अनिष्ट है। फलतः स्मृतियों के युगपत् न होने का उक्त समाधान सर्वथा दोषपूर्ण है॥ २६॥

मन का देहान्तर्वृत्ति होना साध्य—हेतु वह होता है, जिसका साध्य के प्रति साधनभाव सिद्ध हो, निश्चित हो। स्वयं साध्यधर्म हेतुरूप में प्रस्तुत नहीं कियाजाता। मन का अन्तःशरीरवृत्तित्व अभी सिद्ध कहाँ है? साध्य होने से इसका हेतुरूप में कथन अयुक्त है। वादी की इस भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

साध्यत्वादहेतुः॥ २७॥ (२९६)

[साध्यत्वात्] साध्य होने से (गतसूत्र प्रयुक्त 'अन्तःशरीरवृत्तित्व' हेतु) [अहेतुः] अहेतु है (साध्य का साधक नहीं)।

जीवन का जो स्वरूप बतायागया—फलोन्मुख कर्माशय के सहित सदेह आत्मा का मन के साथ संयोग; यदि वस्तुतः जीवन का यह स्वरूप अपेक्षित हो, तो मन का अन्तःशरीरवृत्ति होना उपपन्न होसकता है। परन्तु जीवन के उक्त स्वरूप में अन्तिमभाग (सदेह आत्मा का मन के साथ संयोग) अपेक्षित नहीं है। जीवन का केवल इतना स्वरूप अपेक्षित है—फलोन्मुख कर्मों का सदेह आत्मा में समवेत होना। आत्मा के कर्माशय-प्रचय में से किसी एक शरीर की प्राप्ति के लिये ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार जिन कर्मों को छाँटलियागया, अथवा चुन लियागया है, वे प्रारब्ध-कर्म हैं। उनके अनुसार आत्मा का जिस शरीर के साथ सम्बन्ध हुआ, उस शरीर सम्बद्ध आत्मा में उन कर्माशय-वासनाओं संस्कारों का

शरीर के अन्तर्गत न मानेजाने से उक्त हेतु में कोई दोष प्राप्त नहीं होता। फलतः उक्त हेतु के आधार पर चेतना को शरीर का धर्म नहीं मानाजासकता ॥ ५४ ॥

शरीर का गुण नहीं चेतना—चेतना के शरीर-गुण न होने में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५५ ॥ (३२४)

[शरीरगुणवैधर्म्यात्] शरीर के गुण (रूपादि) से (चेतना में) वैधर्म्य-वैलक्षण्य होने के कारण (चेतना शरीर-गुण नहीं)।

शरीर के गुण दो प्रकार के हैं, एक जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता; जैसे—गुरुत्व आदि। दूसरे वे हैं—जिनका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है; जैसे—रूप, स्पर्श आदि गुण। चेतना-गुण इन दोनों प्रकारों से विलक्षण है। न तो वह अप्रत्यक्ष है, क्योंकि उसका आन्तर इन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष होता है। तथा रूपादि के समान बाह्येन्द्रिय से चेतना का प्रत्यक्ष होता नहीं, क्योंकि चेतना केवल आन्तर इन्द्रिय का विषय है। इसलिये वह शरीर का गुण न होकर किसी अन्य द्रव्य का गुण मानाजाना चाहिये। वह द्रव्य आत्मा है ॥ ५५ ॥

शरीर-गुणों में वैधर्म्य—उक्त हेतु के विषय में शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूचित किया—

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५६ (३२५)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [रूपादीनाम्] रूप आदि गुणों का [इतरेतरवैधर्म्यात्] परस्पर एक-दूसरे से वैलक्षण्य होने से।

रूप, स्पर्श, गुरुत्व आदि गुणों का परस्पर वैलक्षण्य होने पर भी ये सब शरीर के गुण बने रहते हैं। इसीप्रकार यदि चेतना का इन गुणों से वैलक्षण्य है, तो वह भी अन्य रूप, गुरुत्व आदि गुणों के समान शरीर का गुण मानाजा-सकता है। इसलिये चेतना को शरीर का गुण न मानने में,'शरीरगुणवैधर्म्य'-हेतु अनैकान्तिक है ॥ ५६ ॥

शरीरगुण बाह्येन्द्रियग्राह्य—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥ (३२६)

[ऐन्द्रियकत्वात्] बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से [रूपादीनाम्] रूप आदि गुणों के, [अप्रतिषेधः] उक्त हेतु का प्रतिषेध असंगत है।

शरीर के जितने गुण है, उनके उक्त दो प्रकार निश्चित हैं--कतिपय गुणों का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है; तथा कतिपय गुण सर्वथा अप्रत्यक्ष रहते हैं; उनका ज्ञान अनुमान आदि से होता है। परन्तु चेतना-गुण इन दोनों प्रकारों

में नहीं आता। वह न तो सर्वथा अप्रत्यक्ष है, क्योंकि उसका मानस प्रत्यक्ष होता है ; न वह बाह्येन्द्रियग्राह्य है। यदि चेतना रूपादि के समान शरीर का गुण होता, तो वह शरीर-गुणों के उक्त द्वैविध्य का अतिक्रमण न करता। जैसे कि रूपादि परस्पर विलक्षण होते हुए भी उस द्वैविध्य का अतिक्रमण नहीं करते। शरीर का कोई गुण ऐसा नहीं, जो उक्त द्वैविध्य के अन्तर्गत न आजाता हो। इसके विपरीत चेतना ऐसा गुण है, जो उन दोनों विधाओं में नहीं आता। अतः 'शरीरगुणवैधर्म्य'-हेतु के आधार पर चेतना का शरीर-गुण न होना सिद्ध होता है।

यद्यपि यह प्रथम [१८वें सूत्र से लगाकर ४१ सूत्र तक] प्रमाणित कर-दियागया है कि पृथिवी आदि भूतों, इन्द्रियों तथा मन का धर्म 'ज्ञान' नहीं है। 'चेतना' ज्ञान ही है। और शरीर भी पृथिवी आदि भूतों का विकार है। तब उतने से यह सिद्ध होजाता है--चेतना शरीर का गुण नहीं होसकता। परन्तु विशेष परीक्षा के लिए पुनः, एवं प्रकारान्तर से चेतना को शरीर-गुण न होने का उपपादन कियागया है, जिससे विषय का विविध रीति पर यथार्थ बोध होसके। अनेक प्रकार से तत्त्व की परीक्षा उस विषय में दृढ़ निश्चय करादेती है ॥ ५७ ॥

मन की परीक्षा—बुद्धि की परीक्षा के अनन्तर अब क्रमप्राप्त मन की परीक्षा करना अपेक्षित है। जिज्ञासा होती है प्रत्येक शरीर में एक आत्मा के साथ एक मन सम्बद्ध रहता है, अथवा अनेक मन ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५८ ॥ ३२७)

[ज्ञानायौगपद्यात्] ज्ञानों के युगपत् (एकसाथ) न होने से [एकम्] एक है [मनः] मन, (एक शरीर में)।

मन एक है, एक देह में—शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियाँ अनेक हैं। वे अपने-अपने विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने में साधन होते हैं। इसप्रकार के प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में बाह्य इन्द्रिय के समान आन्तर इन्द्रिय मन' भी साधन होता है। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ अपने रूप आदि नियत विषयों के ग्रहण का सामर्थ्य रखते हैं; परन्तु मन अनियतविषय होता है, क्योंकि अणु-परिमाण होने से मन का एक समय में एक इन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है, इसलिए उस क्षण में उसी इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान होपाता है; भले ही उसी समय अन्य इन्द्रिय भी अपने ग्राह्य विषय से सम्बद्ध हो। उस विषय का ज्ञान उस क्षण में नहीं होसकेगा; क्योंकि मन तब उस इन्द्रिय से सम्बद्ध नहीं है। इसप्रकार एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव नहीं होता। यह स्थिति शरीर में एक मन की सत्ता को सिद्ध करती है। यदि एक से अधिक अनेक मन की स्थिति एक शरीर

में मानीजाती है, तो एक क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ अनेक मन-द्रव्यों का सम्बन्ध होने पर अनेक ज्ञानों का उत्पन्न होना प्राप्त होता है। परन्तु एक क्षण में अनेक ज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होते। इसलिए विषयग्रहण में क्रम होने से एक शरीर में एक मन का होना प्रमाणित होता है ॥ ५८ ॥

क्रिया व ज्ञान देह में एक-साथ अनेक—शिष्य व्यावहारिक स्थिति के आधार पर जिज्ञासा करता है, एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना देखाजाता है, आचार्य ने जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ५९ ॥ (३२८)

[न] नहीं (युक्त प्रतीत होता, उक्त कथन) [युगपत्] एकसाथ [अनेक-क्रियोपलब्धेः] अनेक क्रियाओं की उपलब्धि से।

एक क्षण में अनेक ज्ञानों के एकसाथ न होने के आधार पर प्रतिशरीर में केवल एक मन का मानाजाना युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना व्यवहार में स्पष्ट देखाजाता है। कोई भी क्रिया सदा ज्ञानपूर्वक होती है; अतः एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना मानाजाना चाहिये, जो प्रतिशरीर एक मन स्वीकार करने पर सम्भव न होगा। एक क्षण में अनेक क्रिया व ज्ञानों का होना व्यवहारसिद्ध है। एक अध्यापक अथवा कोई धार्मिक व्यक्ति नदी पर स्नान करने के अनन्तर मन्त्रों का पाठ कर रहा है, चलताजारहा है, जलपात्र को हाथ में थामे हुए है, मार्ग को आगे देखरहा है, इधर-उधर जंगल में उठते हुए शब्दों को सुनरहा है, कुछ भयभीत भी होरहा है, यह समझकर—कि कहीं जंगल की ओर से उठनेवाली इन ध्वनियों में किसी हिंसक पशु का रव तो नहीं है ? उसे पहचानने का प्रयत्न कररहा है; अपने गन्तव्य स्थान का प्रतिक्षण उसे स्मरण होरहा है। इस सब स्थिति में क्रिया व ज्ञान का कोई क्रम प्रतीत नहीं होता, ये एकसाथ होते रहते हैं। इसके आधार पर एक शरीर में अनेक मनों का होना प्रतीत होता है; अतः उक्त कथन चिन्तनीय है ॥ ५९ ॥

ज्ञान एक-साथ अनेक नहीं—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६० ॥ (३२९)

[अलातचक्रदर्शनवत्] अलातचक्र के दीखने के समान [तद्-उपलब्धिः] उन विषयों की उपलब्धि होती है [आशुसञ्चारात्] शीघ्र सञ्चार से।

आग से दहकते हुए सिरेवाली लकड़ी को 'अलात' कहते हैं। लकड़ी के अनजले दूसरे सिरे को पकड़कर जब उसे तेज़ी से घुमायाजाय, उस आग के गोल घेरे का नाम 'अलातचक्र' है। अलात घुमायेजाते समय पूरे एक गोल घेरे [चक्र]

के रूप में दिखाई देता है। परन्तु वह अलात जिस समय उस घेरे के जिस एक कोण पर है, उसी समय अन्य किसी कोण पर नहीं है; परन्तु अलात के तेज़ी से घुमाये जाने के कारण [आशुसञ्चारात्] उसके व्यवच्छेद [अनुपस्थिति के अवकाश] को दृष्टि से पकड़ा नहीं जाता। यद्यपि प्रत्येक कोण पर अलात ठीक क्रम के अनुसार आता है। इसीप्रकार आशुसञ्चारी मन विभिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक सम्बद्ध होकर ही उस विषय के ग्रहण में साधन बनता है। ये ग्रहण [ज्ञान] बराबर क्रमपूर्वक होते हैं; परन्तु मनःसञ्चार की तीव्रता के कारण उस क्रमको पकड़ने में व्यक्ति अक्षम रहता है, और यह समझता है कि यह सब एकसाथ होरहा है। एकसाथ होने की प्रतीति केवल भ्रम है।

आशङ्का कीजासकती है कि क्रम का ग्रहण न होने से क्रियाओं का युगपत् होना प्रतीत होता है; इसमें प्रमाण क्या है ? ऐसा क्यों न मानाजाय कि वे समस्त क्रियामूलक ज्ञान वस्तुतः युगपत् होरहे हैं ?

ज्ञान व क्रियाओं के युगपत् न होने में प्रमाण का उल्लेख प्रथम करदिया-गया है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा उनके ग्राह्य विषय क्रम से गृहीत होते हैं, युगपत् नहीं होते; यह ज्ञानायौगपद्य हेतु अबाधित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से इसे जानता है। इसी आधार पर मन का एकत्व सिद्ध कियागया है। मन के एक होनेसे एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना सम्भव नहीं। इससे निश्चित होता है अनेक क्रियाओं के युगपत् होने की प्रतीति—क्रम का ग्रहण न होने के कारण—भ्रान्त है। इस तथ्य को दृष्टान्त के आधार पर इसप्रकार समझना चाहिये—

जब व्यक्ति अपने देखे या सुने अर्थों के विषय में चिन्तन करता है, तब स्मृतिरूप ज्ञान निरन्तर क्रमपूर्वक उसके अन्तरात्मा में उभरते रहते है, इनमें यौगपद्य किसी अंश में नहीं देखाजाता। इससे अन्य अवस्थाओं में भी ज्ञान का क्रमपूर्वक होना अनुमान कियाजासकता है। क्रम के अग्रहण का अन्य उदाहरण प्रस्तुत कियाजाता है—

एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को किसी अर्थ का बोध कराने के लिए ज्ञान-पूर्वक एक वाक्य का उच्चारण करता है। वहाँ वर्ण, पद, वाक्य और उनका ज्ञान, तथा उनके अर्थों का ज्ञान होने में क्रम का ग्रहण नहीं होपाता। कहना, सुनना, समझना सब युगपत् होगया,—ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि प्रत्येक वर्ण का उच्चारण क्रमपूर्वक है, एक वर्ण के उच्चारणकाल में अन्य वर्ण का उच्चारण असम्भव है। प्रत्येक पद में एक-एक वर्ण का ज्ञान और प्रत्येक वाक्य में अनेक पदों का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है। क्रमिक उच्चारण के समान उनका श्रवण क्रम-पूर्वक होता है। वर्णों से पद का और पदों से वाक्य का प्रतिसन्धान होता है, अनन्तर पदार्थ के स्मरण से वाक्यार्थ-बोध होता है। यह सब कार्य क्रमपूर्वक

होता है, परन्तु उन ज्ञानों का व्यापार अति शीघ्र होजाने से उनके क्रम का ग्रहण नहीं होपाता। यह स्थिति अन्यत्र भी ज्ञान व क्रियाओं के युगपत् न होने का अनुमान कराती है। वस्तुतः क्रम का ग्रहण न होने से इनके युगपत् होने का भ्रम होजाता है। ज्ञानों का युगपत् होना कहीं सन्देहरहित नहीं है, जिससे एक शरीर में अनेक मन होने का अनुमान कियाजासके ॥ ६० ॥

मन अणु है—आचार्य सूत्रकार ने उक्त हेतु के आधार पर मन के एक अन्य धर्म का निर्देश किया—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६१ ॥ (३३०)

[यथोक्तहेतुत्वात्] जैसा कहागया है हेतु, उसके होने से [च] तथा [अणु] अणु-परिमाण है, मन।

ज्ञानों के युगपत् न होने से मन अणु-परिमाण है। यदि मन को अणु-परिमाण न मानाजाय, तो एक समय में अनेक इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने से अनेक ज्ञानों का युगपत् होना प्राप्त होगा, जो सम्भव नहीं है। इसलिये मन को विभु न मानकर अणु मानाजाता है। मध्यम-परिमाणवाला प्रत्येक द्रव्य सावयव तथा अनित्य होता है। मन नित्य एवं निरवयव है, अतः उसे मध्यम परिमाण नहीं कहाजासकता। अनित्य मानने पर उसके कारणों की कल्पना करनी होगी; जो सम्भव नहीं। अतः मन नित्य व अणु है ॥ ६१ ॥

शरीर की रचना पूर्व-कर्मानुसार—प्राणी के शरीर की रचना, वहाँ भी मानव-शरीर की रचना बड़ी अद्भुत है। इसकी रचना में प्राणी के धर्म-अधर्म-रूप अदृष्ट का सहयोग पूर्णरूप में रहता है। लोक में निर्बाधरूप से यह देखा-जाता है कि समस्त इन्द्रियों के सहित मन का सब व्यापार शरीर के आधार से होता है, अन्यत्र नहीं। ज्ञाता चेतन-आत्मा के सबप्रकार के ज्ञान और समस्त उपभोग, किसी का त्यागना व पाना आदि सब व्यवहार शरीर के भरोसे पर होपाते हैं। इस विषय में एक-दूसरे के विपरीत विचारों को जानकर संशय होजाता है कि क्या शरीर की रचना आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के कारण होती है, अथवा कर्म-निमित्तता की उपेक्षा करके, अर्थात् कर्म-सहयोग के बिना केवल पृथिवी आदि भूतों के संयोग से होजाती है? क्योंकि सुनाजाता है-कोई आचार्य शरीर-रचना को कर्म-निमित्तक मानते हैं; तथा अन्य आचार्य बिना कर्म-निमित्त के भूतमात्र से इसकी रचना बताते हैं। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में यथार्थ तत्त्व का निर्देश किया—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ६२ ॥ (३३१)

[पूर्वकृतफलानुबन्धात्] पहले किये कर्मों के फलरूप (आत्मनिष्ठ) अदृष्ट (धर्म-अधर्म) के सम्बन्ध से—सहयोग से [तद्-उत्पत्तिः] उसकी (शरीर की) उत्पत्ति-रचना होती है।

पहले जन्मों के काल में जो वाणी, बुद्धि और शरीर के द्वारा आत्मा ने शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान किया, उन कर्मों के फलस्वरूप धर्म-अधर्म (अदृष्ट) एवं संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। भूतों से शरीर की उत्पत्ति में आत्म-समवेत वे धर्म-अधर्म सहयोगी रहते हैं। जहाँ शरीर के उपादान समवायि-कारण भूत-तत्त्व हैं, वहाँ शरीर को प्राप्त करनेवाले आत्मा के पूर्वकृत धर्म-अधर्म शरीर के निमित्त कारण हैं। अदृष्टनिरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से शरीर की उत्पत्ति नहीं होती।

जिसमें अधिष्ठित आत्मा यह 'मैं हूँ' ऐसा समझता, व अभिमान करता है, जिसको अपना रूप मानता हुआ उसकी चोट-फेंट, रोग, व्रण आदि को स्वयं में अभिनिवेशित करता है, जहाँ उपभोग की लालसा से विषयों को उपलब्ध करता हुआ धर्म और अधर्म का सञ्चय कियाकरता है, वह इस आत्मा का शरीर है। एक शरीर के निमित्त धर्म-अधर्म जब भोग आदि के द्वारा समाप्त होजाते हैं, तब वह शरीर पूरा होजाता है, नष्ट होजाता है; उसके अनन्तर अन्य सञ्चित अदृष्ट से किन्हीं सीमित धर्म-अधर्म के अनुसार आत्मा को अन्य शरीर प्राप्त होजाता है। इस शरीर के प्राप्त होने पर पहले शरीर के समान आत्मा इसमें अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वाणी, बुद्धि एवं शरीर द्वारा कियेजानेवाले अनुष्ठानों में निरन्तर प्रवृत्त रहाकरता है। जीवन की यह सब प्रक्रिया—भूतों से शरीर की उत्पत्ति में—आत्मगत धर्म-अधर्म का सहयोग मानने पर सम्भव होती है।

लोकव्यवहार में यह स्पष्ट देखाजाता है—पुरुष के प्रयोजन-जलाहरण, देहाच्छादन, सुगमयात्रा—आदि को सम्पन्न करने में समर्थ घट-पट-रथ आदि द्रव्यों का उत्पादन—पुरुष के विशेषगुण प्रयत्न का सहयोग होने पर—भूतों से होपाता है। स्वतन्त्र भूत घट, पट, रथ आदि का निर्माण नहीं कर सकते, न वे इस रूप में स्वयं परिणत होते हैं। इसीप्रकार शरीररचना के विषय में अनुमान करलेना चाहिये। भूतों का विकार यह शरीर आत्मा के धर्म-अधर्मरूप विभिन्न गुणों के सहयोग बिना नहीं होपाता, जिसमें अधिष्ठित हुआ आत्मा समस्त जीवनकाल में अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रवृत्त रहता है ॥ ६२ ॥

शरीररचना कर्मनिमित्तक नहीं—आत्मा एवं आत्मगत गुणों की अपेक्षा न रखते हुए अन्य भूत-तत्त्वों की रचना के समान, शरीर की रचना कर्मनिरपेक्ष मानलेनी चाहिये; शिष्य की ऐसी आशङ्का को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

भूतेभ्यो मूर्त्त्युपादानवत् तदुपादानम् ॥ ६३ ॥ (३३२)

[भूतेभ्यः] भूतों से (कर्मों की अपेक्षा के बिना) [मूर्त्त्युपादानवत्] मूर्त्तियों—पृथिवी आदि द्रव्यों के उपादान—आत्मलाभ के समान [तद्-उपादानम्] शरीर का उपादान-उत्पाद होजाता है (केवल भूतों से)।

पृथिवी आदि भूत-भौतिक लोक तथा पृथिवी में रेत, कंकड़ी, पत्थर, गेरू, अञ्जन आदि विविध मूर्त्त द्रव्य जैसे कर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से उत्पन्न होते हैं, तथा पुरुष के प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए इनका उपयोग कियाजाता है; ऐसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से–पुरुष के प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले–शरीर का उत्पन्न होना मानाजासकता है। इस मान्यता में भूतों से अतिरिक्त किसी आत्मा आदि चेतनतत्त्व को मानने की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ६३ ॥

'मूर्त्युपादान' दृष्टान्त साध्यसम—आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

न साध्यसमत्वात् ॥ ६४ ॥ (३३३)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [साध्यसमत्वात्] साध्य के समान होने से।

प्रमाण से सिद्ध कोई हेतु या उदाहरण, किसी अन्य साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होता है। जो अर्थ अभी सिद्ध न होकर स्वयं साध्य है, वह अन्य अर्थ को सिद्ध नहीं करसकता। गत सूत्र में प्रस्तुत 'मूर्त्युपादान' दृष्टान्त अभी स्वयं साध्य है। तात्पर्य है–पृथिवी आदि लोकलोकान्तर, एवं पृथिवी में विविध पदार्थों की रचना किसी चेतन की प्रेरणा के विना एवं कर्मों की अपेक्षा के विना होजाती है, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः इसके आधार पर कोई निर्णय नहीं कियाजासकता; यह दृष्टान्त साध्यसम है ॥ ६४ ॥

शरीर-रचना कर्म-सापेक्ष—आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन में अन्य दोष प्रस्तुत किया—

न उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६५ ॥ (३३४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [उत्पत्तिनिमित्तत्वात्] उत्पत्ति का निमित्त होने से [मातापित्रोः] माता-पिता के, (पुत्र-शरीर की रचना में)।

पृथिवी-पाषाण, गैरिक आदि विविध भूत–भौतिक पदार्थों की रचना निर्बीज होती है; परन्तु शरीर की रचना रजवीर्य-निमित्तपूर्वक होती है। अतः शरीर की उत्पत्ति में 'मूर्त्युपादान' दृष्टान्त विषम है। तात्पर्य है–पाषाण आदि की उत्पत्ति जैसे केवल भूतों से होना सम्भव है, वैसे शरीर की उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि जैसे शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता का रज-वीर्य निमित्त होता है, वैसे पाषाण आदि की उत्पत्ति में नहीं है। अन्यथा पाषाण आदि के समान शरीर शुक्र-शोणित के विना उत्पन्न होजाना चाहिये। अतः पाषाण आदि तथा शरीर की उत्पत्ति में समता न होने से यह विपरीत दृष्टान्त है।

सूत्र में 'मातृ-पितृ' पद शोणित व शुक्र का बोध कराते हैं। आत्मा अपने धर्म-अधर्म के अनुसार जब मातृ-गर्भ में आता है, तब वह कर्मानुसार गर्भवास की कष्टमय स्थिति का अनुभव करता है। माता-पिता अपने कर्मों के अनुसार

पुत्रफल-प्राप्ति का अनुभव करते हैं। यह स्थिति स्पष्ट करती है—माता के गर्भाशय में आश्रय पाकर भूतों से शरीरोत्पत्ति के प्रयोजक होते हैं—कर्म। शरीर-रचना के साथ कर्मों का सम्बन्ध स्पष्ट है। इससे पाषाण आदि द्रव्य तथा शरीर की उत्पत्ति का भेद ज्ञात होजाता है शरीर में बीज की अनुकूलता है, पाषाण आदि में नहीं। अतः उक्त दृष्टान्त कर्मनिरपेक्ष शरीररचना का साधक नहीं होसकता ॥ ६५ ॥

शरीर-रचना का क्रम—शरीर की रचना में आचार्य सूत्रकार शुक्र-शोणित के अतिरिक्त अन्य कारण बताता है, जो पाषाणादि की उत्पत्ति में सम्भव नहीं। आचार्य ने बताया—

तथाऽऽहारस्य ॥ ६६ ॥ (३३५)

[तथा] उसी प्रकार [आहारस्य] आहार के (माता द्वारा कियेगये, शरीरोत्पत्ति का निमित्त होने से)।

मातृ-आहार देहरचना में हेतु—गत सूत्र से 'उत्पत्तिनिमित्तत्वात्' हेतुपद यहाँ अनुवृत्त होता है। जैसे गर्भस्थिति के लिए शरीरोत्पत्ति में शुक्र-शोणित निमित्त हैं, उसीप्रकार गर्भस्थिति होजाने के अनन्तर आगे शरीर की रचना में माता-द्वारा कियागया आहार निमित्त होता है। माता जो खाती-पीती है, उसके पचजाने पर माता के शरीर में रस-द्रव्य का उपचय होता है, जिससे गर्भस्थित कलल-पिण्ड पालित पोषित होता हुआ शरीर के रूप में शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होतारहता है। गर्भ में शुक्र-शोणित के साथ सञ्चित आहाररस शरीर की क्रमिक रचना का प्रयोजक है। शरीर का रचनाक्रम इन पदों से अभिव्यक्त कियाजाता है—अर्बुद, मांसपेशी, कलल, कण्डर अथवा कण्डरा, शिरस्, पाणि पाद आदि। इनका स्वरूप इसप्रकार समझना चाहिये—अर्बुद-बुलबुलाजैसा, मांस-जब उसमें थोड़ा ठोसपना आजाता है। जब उसमें और अधिक पिट्ठी के समान घनता आजाती है। कलल-अङ्गों की अभिव्यक्ति के लिए उसमें कुछ भाग जब उभरने लगते हैं। कण्डर—जब उसमें कुछ लम्बाई दिखाई देनेलगती है। शिरस्—ऊपर का भाग कुछ अधिक स्पष्ट सिर-जैसा तथा शेष भाग से कुछ भारी अलग-जैसा दीखने लगता है। पाणि—बाँह व हाथ के भाग, एवं पाद—टाँग व पैर के भाग स्पष्ट होजाते हैं। शरीर का ऐसा स्वरूप लगभग तीन मास में पूरा होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में बताया है—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुर्विमूर्च्छितः।
मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः

[प्रायश्चित्ताध्याय, (३), ७५]

वीर्यधातु अन्य अपेक्षित पार्थिव आदि धातुओं से मिलकर गर्भ के पहले महीने में द्रवरूप बनारहता है। दूसरे महीने में कुछ कठिन मांसपिण्ड के समान

होजाता है; उसकी संज्ञा 'अर्बुद' है। तीसरे महीने में शरीर सिर, हाथ, पैर आदि अङ्ग तथा इन्द्रिय-गोलकों से युक्त होजाता है। सुश्रुत [शा० ३। १४] में कहा है—'**द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिपच्यमानो भूतसंघातो घनो जायते।**' शरीर के कारण तत्त्व भूतसंघात गर्भ के दूसरे महीने में सरदी-गरमी तथा प्राणवायु के द्वारा पकायाजाता हुआ घनता-कठोरता को प्राप्त होजाता है।

इसप्रकार माताद्वारा उपभुक्त आहार-द्रव्य के परिणामभूत रसों से पुष्ट होता हुआ शरीर नौ-दस मास में सर्वथा पूर्ण होजाता है; यह प्रसवकाल है। मातृभुक्त आहारद्रव्य के रस गर्भ-नाड़ी द्वारा गर्भ में पहुँचकर शिशु-शरीर को उस समय तक पुष्ट करते रहते हैं, जबतक प्रसवकाल आजाय।

अन्न-पान आदि की यह सब स्थिति घट, पट, रेत, पत्थर आदि की रचना में सम्भव नहीं। इसलिए शरीर की रचना में आत्मा के धर्म-अधर्म को निमित्त मानेजाने में कोई बाधा नहीं है। यदि कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति होजाया करती, तो शुक्रशोणित सम्पर्क के अनन्तर कोई दम्पती निःसन्तान न रहाकरते ॥ ६६ ॥

कर्मनिरपेक्ष देहरचना नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ का प्रकारान्तर से निर्देश किया—

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६७ ॥ (३३६)

[प्राप्तौ] प्राप्त होजाने पर (स्त्री-पुरुष संयोग के) [च] भी [अनियमात्] नियम न होने से सन्तानोत्पत्ति का)।

पति-पत्नी का संयोग सर्वत्र गर्भाधान का हेतु होजाता हो, ऐसा नहीं है। तब मानना पड़ता है, माता-पिता के पूर्व-कर्म जहाँ सन्तानोत्पत्ति के अनुकूल होते हैं, वहाँ संयोग होने पर गर्भाधान एवं सन्तान-प्रसव की सम्भावना रहती है। जहाँ अनुकूल कर्म नहीं होते, वहाँ संयोग निष्फल जाता है। यह नियम नहीं कि संयोग होने पर अवश्य शरीररचना व सन्तानोत्पाद हो। यदि कर्मनिरपेक्ष केवल भूततत्त्व शरीररचना में निमित्त हों, तो पति-पत्नी-संयोग के अनन्तर नियमपूर्वक शरीररचना व सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये; क्योंकि यहाँ अन्य किसी कारण का अभाव नहीं रहता। कारणसामग्री के रहने पर कार्य अवश्य होना चाहिये। नियम से सन्तानोत्पत्तिरूप कार्य का—पति-पत्नी-संयोग होने पर भी—न होना, वहाँ किसी कारणविशेष के अभाव को अभिव्यक्त करता है। वह कारण आत्मा के स्वकृत पूर्व-कर्म सम्भव हैं। अतः शरीररचना में कर्मों की कारणता अबाधित है ॥ ६७ ॥

कर्मसापेक्ष है—नर-नारी-संयोग—आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में और भी बताया—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ६८ ॥ (३३७)

[शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्] शरीर की उत्पत्ति में निमित्त होने के समान [संयोगोत्पत्तिनिमित्तम्] संयोग की उत्पत्ति में निमित्त होता है [कर्म] कर्म (आत्मा का पूर्वकृत धर्म-अधर्म)।

नर-नारी का संयोग होने पर जब गर्भाधान नहीं होता, वहाँ यह कहाजा-सकता है,–ऐसे अवसरों पर यही समझना चाहिये कि संयोग ठीक नहीं हो-पाया। उसमें कुछ न्यूनता रहगई है, इसी कारण संयोग होने पर गर्भाधान नहीं होसका। इसमें कर्म को निमित्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके समाधानरूप में सूत्रकार ने बताया–कर्म न केवल शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं, अपितु जो नर-नारी-संयोग शरीरोत्पत्ति का प्रयोजक है, उसका भी निमित्त कर्म है। सन्तानोत्पादक संयोग आवश्यकरूप से कर्मसापेक्ष रहता है। संयोग होने पर गर्भाधान न होना, सन्तानोत्पत्ति में जिस कारण के अभाव को अभि-व्यक्त करता है, वह कारण कर्म है। नर-नारी-संयोग सर्वत्र समान रहते हैं। संयोग में अन्य किसी प्रकार की न्यूनता सम्भव नहीं। इसलिए संयोग की पूर्णता कर्म-सापेक्ष माननी पड़ती है।

शरीर की रचना दुरूह—शरीर की रचना वस्तुतः अत्यन्त दुरूह है। मानवदृष्टि से उसे अकल्पनीय कहाजाय, तो इसमें कुछ असत्य नहीं। पूर्वकाल में, और आज भी, भौतिकविज्ञान, आयुर्विज्ञान एवं जन्तुविज्ञान के इतना अधिक उन्नत होने पर भी शरीररचना के पूर्णज्ञान का दावा नहीं कियाजासकता; रचना करना तो दूर की बात है। शरीर की रचना पर विचार कीजिये–इसमें रक्त आदि धातु, प्राण तथा ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। यह नाड़ीजाल इतना सूक्ष्म एवं परस्पर गुथा हुआ है, जिसका पूर्णरूप से ज्ञान आज-तक भी मानव नहीं करसका है। त्वक्-इन्द्रिय का समस्त शरीर पर व्याप्त रहना, तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे-से-छोटे अंश पर संवेदनशीलता व उसकी संचार-पद्धति का विद्यमान होना; न्यूनाधिक मात्रा की मांसपेशियों का यथा-स्थान संघटन एवं विभिन्न अंगों में छोटे-बड़े जोड़ों का सामंजस्य; सिर, भुजाएँ, उदर आदि की चमत्कारी रचना; विभिन्न प्रकोष्ठों में वात, पित्त, कफ के प्रतिष्ठान व सञ्चार आदि की व्यवस्था; मुख-कण्ठ आदि में ध्वनि के उपयोगी अवयव-सन्निवेश; आमाशय-पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व-अधःस्रोतों का नितान्त व्यवस्थित प्रसार, आदि रूप में शरीर की रचना अपने अवयव-सन्निवेश आदि के साथ इतनी सुविचारपूर्ण नियमित व सुदृढ़ है, जिसे केवल जड़मय भूततत्त्वों के द्वारा सम्पन्न कियाजाना सर्वथा अशक्य है। ऐसी रचना में

कर्मसापेक्षता चेतन के सहयोग का साक्षी है। इसप्रकार आत्मा के सुकृत-दुष्कृत को शरीरोत्पत्ति में निमित्त मानना प्रमाणित होता है।

यह व्यवहार द्वारा स्पष्ट सिद्ध है कि चैत्र के सुख-दुःख आदि भोग का अनुभव मैत्र आदि अन्य किसीको नहीं होता। इसका कारण है शरीर के आधार पर चैत्र नाम से व्यवहृत आत्मा उस नियत देह में सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। यदि आत्मा की शरीरप्राप्ति एवं शरीररचना को अकर्मनिमित्त माना-जाता है, तो सुख-दुःख-भोग आदि की इस व्यवस्था का होना असम्भव हो-जायगा। क्योंकि उस दशा में आत्मा सब समान हैं, तथा शरीररचना व भोग के साधन विशुद्ध [कर्मनिरपेक्ष] भूत-तत्त्व सबके लिए समान हैं। तब चैत्र के भोगानुभव का मैत्र को अनुभव होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। सब अनुभव सबको समानरूप से प्रतीत हों। परन्तु ऐसी स्थिति का नितान्त अभाव है। तब वस्तुस्थिति को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि जिस आत्मा के जो कर्म फलोन्मुख हैं, उनके अनुसार ईश्वरीय व्यवस्था से उस आत्मा के लिये शरीर-रचना होती है; तथा वही आत्मा उस शरीर द्वारा कर्मानुसार सुख-दुःख आदि का अनुभव किया करता है, अन्य आत्मा नहीं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अपने-अपने कर्म उनसे सम्बद्ध रहते हैं, तथा एक आत्मा की स्थिति को अन्य आत्मा की स्थिति से भिन्न करते हैं।

इसप्रकार जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं, वैसे आत्मा का विशिष्ट शरीर के साथ संयोग होने में कर्म निमित्त हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्येक आत्मा का किसी व्यवस्थित शरीर के साथ सम्बन्ध होना यहाँ 'संयोग' पद का अर्थ है। फलतः आत्मा का ऐसे शरीर के साथ सम्बन्ध होना भी कर्मनिमित्तक है। शरीर की उत्पत्ति के लिए नर-नारी का संयोग, शरीर की विशिष्ट रचना, एवं किसी विशिष्ट आत्मा का एक व्यवस्थित शरीर के साथ संयोग, इन सभी कार्यों में आत्मा के सुकृत-दुष्कृत कर्म निमित्त रहते हैं। सांसारिक विविध अनुभूतियों में आत्म-कर्मों की प्रयोजकता अपना विशिष्ट स्थान रखती है॥ ६८॥

शरीर-भेद कर्मसापेक्ष—आचार्य सूत्रकार ने उक्त विवरण का अन्यत्र अतिदेश बताया—

एतेन[1] नियमः प्रत्युक्तः॥ ६९॥ (३३८)

[एतेन] इस पूर्वोक्त विवरण से [नियमः] नियम का (शरीरों की एक-रूपता का) [प्रत्युक्तः] प्रत्याख्यान समझलेना चाहिये।

---

१. **'एतेनानियमः' ऐसा पाठ अन्य संस्करणों में है। वाचस्पति मिश्र ने भी यही पाठ माना है। परन्तु सभी संस्करणों में पाठान्तर 'एतेन नियमः' दियागया है। यह पाठ अर्थानुकूल उपयुक्त होने के कारण यहाँ स्वीकार किया है।**

शरीर आदि की रचना कर्मों को निमित्त माने बिना होजाती है; इस विचार के अनुसार आत्माओं के निरतिशय [विशिष्टतारहित-समान] होने तथा भूतों के परस्पर समान होने से शरीरों की एकरूपता का नियम प्राप्त होता है। परस्पर आत्माओं में तथा परस्पर भूतों में कार्योत्पत्ति के लिए विलक्षणता के किसी कारण की सम्भावना न होने से शरीर आदि कार्य एकरूप होने चाहियें। प्रस्तुत सूत्र में 'नियम' पद का यही तात्पर्य है। तब एक आत्मा का जैसा शरीर है, सब आत्माओं का वैसा ही शरीर होना चाहिये; इस नियम का प्रत्याख्यान गत सूत्र [६८] द्वारा करदियागया है। शरीरों के वैलक्षण्य का कारण आत्म-कर्म रहते हैं; इनके अनुसार शरीरों की विलक्षण रचना होने से उक्त नियम नहीं रहता। यह अनियम, भेद अथवा एक-दूसरे से व्यावृत्ति का नियामक है।

इसीके अनुसार प्रत्येक आत्मा के शरीर-सम्बन्धरूप जन्म में भेद देखा-जाता है। कोई ऊँचे कुल में जन्म लेता है, कोई नीच कुल में। कोई शरीर प्रशंसनीय सुन्दर होता है, तथा कोई निन्दित-कुरूप। कोई शरीर रोगयुक्त रहता है, कोई नीरोग। कोई पूरे अंगों से युक्त होता है, कोई विकलांग। कोई शरीर कष्टों से भरा रहता है, कहीं सुखों का बाहुल्य देखाजाता है। कोई शरीर पौरुष-उत्कर्ष के सूचक लक्षणों से युक्त रहता है, जैसे-आजानुबाहु आदि होना; तथा कोई इससे विपरीत होते हैं, अपकर्ष के सूचक, जैसे-अंगुलियों का मोटा व ठिगना होना, दोनों भौंहों का मिले हुए होना आदि। कोई शरीर प्रशंसनीय लक्षणों वाला होता है, अतिसुन्दर सुडौल-सुघटित आदि; तथा कोई निन्दनीय लक्षणों से युक्त, जैसे नाक व होठों का मोटा होना, माथा दबा हुआ होना आदि। किसी शरीर में इन्द्रियाँ बड़ी पटु, अपने विषय को ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ; तथा कोई शरीर शिथिल इन्द्रियों से युक्त रहता है, न ठीक दिखाई देता न सुनाई देता आदि। शरीर के अन्य सूक्ष्म आन्तरिक भेद इतने होसकते हैं, जिनकी गणना करना कठिन है।

मानव का यह जन्म-सम्बन्धी भेद प्रत्येक आत्मा में समवेत [नियमपूर्वक विद्यमान] धर्म-अधर्म भेद के कारण होता है। यदि प्रत्येक आत्मा में नियत धर्म-अधर्म-रूप अदृष्ट को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो स्वकृत कर्मरूप अतिशय से रहित समस्त आत्माओं की स्थिति एक-समान रहती है; तथा पृथिवी आदि भूततत्त्व सबके लिए समानरूप होते हैं; क्योंकि जन्मादि सम्बन्धी भेदों का नियामक कोई हेतु पृथिवी आदि तत्त्वों में नहीं देखाजाता। ऐसी स्थिति में शरीरसम्बन्धी समग्र रचना प्रत्येक आत्मा के लिए समानरूप में प्राप्त होनी चाहिये। परन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता। जन्म-सम्बन्धी विशेषताओं का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। इस भेद के नियामक आत्माओं के अपने-अपने

विशेष कर्म हैं। इसलिए शरीर की रचना में कर्मों को निमित्त मानना पूर्णरूप से प्रामाणिक है ॥ ६९ ॥

कर्मसापेक्ष जन्म में अपवर्ग की उपपत्ति—जन्म को कर्मनिमित्तक मानने पर मृत्यु का होना तथा कालान्तर में अपवर्ग का होना भी उपपन्न होता है; आचार्य सूत्रकार ने बताया—

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७० ॥ (३३९)

[उपपन्नः] सम्पन्न-सिद्ध होता है [च] भी [तद्-वियोगः] उसका (शरीर का) वियोग (मृत्यु अथवा अपवर्ग रूप में), [कर्मक्षयोपपत्तेः] कर्मों के क्षय की उपपत्ति-सिद्धि से।

विशिष्ट कर्मों के आधार पर आत्मा को एक शरीर प्राप्त होता है। ऐसे कर्मों को प्रारब्ध-कर्म कहाजाता है। इन कर्मों के फल, चालू शरीर के आधार पर भोगे जाकर समाप्त होजाते हैं, तब उस चालू देह का पतन होजाता है; आत्मा उस देह को छोड़जाता है; यह मृत्यु है। आत्मा का शरीर के साथ यह वियोग तभी सम्भव है, जब शरीर की रचना व उसकी प्राप्ति को कर्मनिमित्तक मानाजाता है। क्योंकि प्रारब्ध-कर्मों का क्षय होने से मृत्यु का अवसर आता है। इसीप्रकार आत्मज्ञान होजाने पर जब सञ्चित व प्रारब्ध आदि सब प्रकार के कर्मों का क्षय होजाता है, तब चालू शरीर के पतन के अनन्तर तत्काल देहान्तर (अन्य शरीर) प्राप्त होजाने की सम्भावना नहीं रहती। चालू शरीरपात के अनन्तर निरन्तर देहान्तरप्राप्ति की सम्भावना न रहना अपवर्ग की स्थिति है। इस अवस्था का सिद्ध होना तभी सम्भव है, जब शरीररचना व प्राप्ति को कर्म-निमित्तक मानाजाता है; क्योंकि मृत्यु व अपवर्ग का होना कर्मक्षय पर अवलम्बित रहता है।

प्रारब्ध-कर्मों का भोग से क्षय होकर एक देह के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति होती रहती है। सम्यग्दर्शन, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होने के अनन्तर, मोह (अज्ञान) तथा राग (विषयासक्ति) के क्षीण होजाने से वीतराग आत्मा पुनः देह प्राप्त होने के निमित्तभूत कर्मों का शरीर, वाणी तथा मन से अनुष्ठान करना त्याग देता है। इससे आगे कर्मों का उपचय नहीं होता, तथा पूर्वसञ्चित कर्मों का भोग एवं आत्मज्ञान से क्षय होजाता है। इसप्रकार आगे शरीररचना व उससे आत्मा का सम्बन्ध करनेवाले हेतुओं (कर्मों) का अभाव होजाने से चालू शरीर के पूरा होजाने पर पुनः शरीरान्तर की उत्पत्ति उस आत्मा के लिए नहीं होती। तब उसके जन्म-मरण का निरन्तर क्रम चिरकाल के लिए छूटजाता है। यदि शरीररचना को कर्मनिमित्तक नहीं मानाजाता, तो भूततत्त्वों के सदा बने रहने से आत्मा का भौतिक शरीर के साथ वियोग अनुपपन्न होगा। उस दशा में जन्म-मरण का निरन्तर क्रम कभी समाप्त नहीं होसकता ॥ ७० ॥

आत्मा के देहसम्बन्ध में अविवेक कारण नहीं—जिज्ञासा होती है, शरीर-रचना में कर्मों को निमित्त मानना अपेक्षित नहीं। उसकी रचना में कारण-अदर्शन है। अदर्शन का तात्पर्य है–जड़ और चेतन (प्रकृति-पुरुष) के भेद का न दीखना–ज्ञान न होना, अर्थात् अविवेक। आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का निर्देश करता हुआ समाधान करता है—

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७१ ॥ (३४०)

[तद्-अदृष्टकारितम्] जड़ और चेतन (प्रकृति-पुरुष) के अदर्शन (अज्ञान) से करायाजाता है (शरीरोत्पाद एवं आत्मा के साथ शरीर का संयोग), [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो वह युक्त नहीं; क्योंकि) [पुनः] फिर [तत्प्रसङ्गः] शरीरसम्बन्ध प्राप्त होता है [अपवर्गे] अपवर्ग में, अथवा अपवर्ग होजाने पर।

सूत्र में 'अदृष्ट' पद का तात्पर्य अदर्शन है—दर्शन-ज्ञान न होना। 'तयोः प्रकृतिपुरुषयोः अदृष्टकारितम्-तददृष्टकारितम्'। प्रकृति-पुरुष के अदर्शन से, उनके भेदज्ञान,विवेकज्ञान के न होने से शरीर की रचना तथा शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। कारण यह है–शरीर के उत्पन्न न होने पर आयतन-अधिष्ठान से हीन द्रष्टा दृश्य को कभी नहीं देखपाता। द्रष्टा का यह दृश्य दो प्रकार का बतायागया है। एक-विषय-रूप, शब्द, स्पर्श आदि। दूसरा–नानात्व, अर्थात् प्रकृति-पुरुष का भेद। द्रष्टा आत्मा शरीर प्राप्त होने पर रूपादि विषयों को भोगता है, तथा प्रकृति-पुरुष के भेद को जानपाता है। इसप्रकार द्रष्टा आत्मा के शरीर-सम्बन्ध होने पर दृश्य दो हुए–भोग तथा अव्यक्त (जड़ प्रकृति) और चेतन आत्मा के नानात्व-भेद का ज्ञान। पहला–संसार, और दूसरा अपवर्ग है। इन्हीं दो प्रयोजनों को सम्पन्न करने के लिए शरीर की रचना होती है। तात्पर्य है–शरीर की रचना में ये प्रयोजक हैं, कर्म नहीं। जब ये प्रयोजन पूर्ण व सम्पन्न होजाते हैं, तब चरितार्थ हुए भूत उस आत्मा के लिए शरीर को उत्पन्न नहीं करते; उस दशा में शरीर का वियोग मृत्यु अथवा अपवर्ग का होना उपपन्न होता है। अतः शरीररचना में कर्मों को अनपेक्षित समझना चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया–यदि शरीररचना में कर्मों को निमित्त नहीं मानाजाता, तथा प्रकृति-पुरुष का अदर्शन शरीररचना का निमित्त है, तो अपवर्ग-दशा में दर्शन के हेतु शरीर के न होने से अदर्शन की अवस्था आजाती है; तब वहाँ भी शरीरोत्पत्ति का होना प्रसक्त होता है। शरीर के उत्पन्न न होने पर प्रकृति-पुरुष का 'अदर्शन' है। वह अदर्शन शरीरोत्पत्ति का प्रयोजक है। शरीरोत्पत्ति अर्थात् शरीर का सद्भाव आत्मसम्बद्ध होकर अदर्शन को हटाने में सहयोग देता है। शरीर की अनुत्पत्ति दशा में जो अदर्शन स्वीकार कियागया है; शरीर के निवृत्त,समाप्त होजाने पर अपवर्ग में जब

शरीर का अभाव रहता है, तब पुनः अदर्शन की स्थिति होगी; क्योंकि दर्शन की उत्पत्ति शरीर के रहने पर होती है। शरीरोत्पत्ति से पहले के अदर्शन और शरीरनिवृत्ति के अनन्तर होनेवाले अदर्शन में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जैसे शरीरोत्पत्ति से पूर्व की अदर्शन-अवस्था में दर्शन के लिए शरीरोत्पत्ति अपेक्षित है; ऐसे ही शरीरनिवृत्ति के अनन्तर शरीर के अभाव में प्राप्त अदर्शन की स्थिति को हटाकर दर्शन के लिए शरीरोत्पत्ति का होना अपेक्षित होजाता है। तब शरीरनिवृत्ति होनेपर अपवर्ग में जिज्ञासु की उक्त व्यवस्था के अनुसार शरीरोत्पत्ति का होना प्राप्त होता है। इसलिए शरीररचना में कर्मों की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

यदि कहाजाय, शरीर के आरम्भक भूततत्त्व प्रकृति-पुरुषभेद के दर्शन के लिए शरीर को उत्पन्न करते हैं। शरीर के उत्पन्न होने पर जब एक वार भेद का दर्शन होजाता है, तब भूत चरितार्थ होजाते हैं, अर्थात् अपने अपेक्षित कर्त्तव्य कार्य को पूरा करचुके होते हैं; तब पुनः शरीर को उत्पन्न करने में उनकी प्रवृत्ति नहीं रहती। इसलिए अपवर्ग-दशा में शरीर के उत्पन्न होने का प्रसङ्ग नहीं आता।

यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि प्रयोजन के पूरा होने और न होने की दोनों अवस्थाओं में शरीर की उत्पत्ति का होना देखाजाता है। शरीरोत्पत्ति के दो प्रयोजन बताये -भोग और प्रकृति-पुरुष के भेद का दर्शन। एक वार शरीर की उत्पत्ति से भोगों की उपलब्धि होने पर भूत चरितार्थ होजाते हैं, फिर भी बार-बार शरीर का उत्पन्न होना जानाजाता है। फिर एक शरीर प्राप्त होने पर वह शरीर प्रकृति-पुरुष के नानात्व-दर्शन को उत्पन्न नहीं करता। उसी कार्य के लिए बार-बार शरीर का उत्पन्न होना निरर्थक रहता है। जब एकबार भोगों के भोगेजाने पर पुनः भोगों की उपलब्धि के लिए शरीर का उत्पन्न होना स्वीकार कियाजाता है; तो एक बार नानात्व का दर्शन होने पर उसके लिए भी पुनः शरीर का उत्पन्न होना क्यों नहीं मानाजासकता ? फलतः अपवर्ग में उक्त कथन के आधार पर शरीरोत्पत्ति का होना प्राप्त होता है, जो अवाञ्छनीय तथा अनपेक्षित होने से उसका आधार उक्त कथन त्याज्य है। जन्म-मरण एवं भोग-अपवर्ग की व्यवस्था शरीररचना में कर्मों को निमित्त माने विना सम्भव नहीं है। आत्मदर्शन अथवा जड़-चेतन के भेददर्शन की व्यवस्था कर्मनिमित्तक सर्ग मानने पर सम्भव है। अन्यथा आत्माओं के निरतिशय तथा भूतों के समान होनेपर किसी अन्य विशिष्ट कारण के अभाव में जन्म-मरण आदि की व्यवस्था तथा अपवर्ग का होना असम्भव होगा।

आर्हतदर्शन की कर्मविषयक मान्यता—कर्मों के फलों का भोग अथवा अनुभव ही 'दर्शन' है, और वह अदृष्टजन्य होता है। यह अदृष्ट परमाणुओं का

गुणविशेष है। वही परमाणुओं की क्रिया का हेतु होता है। उससे प्रेरित हुए परमाणु परस्पर संघट्टित होकर शरीर को उत्पन्न करते हैं। उस शरीर में मन अपने अदृष्ट से प्रेरित हुआ प्रविष्ट होजाता है। मन-सहित शरीर में द्रष्टा को विषयों की उपलब्धि हुआ करती है। ऐसी मान्यता आर्हत-दर्शन में स्वीकार कीगई है।

इस मान्यता में पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, अर्थात् अपवर्ग-दशा में सांसारिक प्रक्रिया का चालू रहना अबाधित होगा; शरीर और जन्म-मरण का क्रम वहाँ बना रहेगा। तात्पर्य है-उस दशा में अपवर्ग का होना असम्भव होगा, जो अपवर्ग सर्वदर्शन-संमान्य सिद्धान्त है। कारण यह है-परमाणुओं का गुण-विशेष अदृष्ट-जो परमाणुओं को क्रिया एवं रचना के लिए प्रेरित करता है सदा बना रहता है। जबतक परमाणु है, तबतक उसका गुण-विशेष अदृष्ट उसमें विद्यमान रहता है। न परमाणु का कभी उच्छेद होता, और न उसका गुणविशेष किसी कारण से उच्छेद्य है। इसलिए शरीर की उत्पत्ति में यह मान्यता भी सर्वथा अग्राह्य है ॥ ७१ ॥

कर्म मनोनिष्ठ नहीं—उक्त मान्यता में आचार्य सूत्रकार स्वयं दोष बताता है—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७२ ॥ (३४१)

[मनःकर्मनिमित्तत्वात्] मन में रहनेवाले अदृष्ट (कर्म) के निमित्त होने से [च] और (भी, कभी) [संयोगानुच्छेदः] संयोग (शरीर-मन के संयोग) का उच्छेद न होगा।

परमाणुगत अदृष्ट से प्रेरित परमाणु शरीर को उत्पन्न करते हैं, मनोगत अदृष्ट से प्रेरित मन उस शरीर में प्रविष्ट होजाता है। मनोगत अदृष्ट मन में सदा विद्यमान रहता है। तब शरीर के साथ मन के संयोग का कभी उच्छेद न होगा। एक बार जन्म होकर वह जीवन सदा-सदा के लिए निरन्तर बना रहना चाहिये। मन को शरीर से बाहर निकालनेवाला कोई कारण उपलब्ध नहीं है।

शरीर की उत्पत्ति को कर्मनिमित्तक मानने पर ऐसा कोई दोष सामने नहीं आता। कारण-जिस कर्माशय से एक शरीर का प्रारम्भ होता है, भोग द्वारा उस कर्माशय का क्षय होजाने पर वह शरीर समाप्त होजाता है, अर्थात् उस एक चालू जीवन का मृत्युकाल आजाता है। पुनः सञ्चित कर्माशय से-जो कर्म सद्यः फलोन्मुख होते हैं, उनके निमित्त अन्य शरीर की रचना होकर-पहले शरीर को छोड़कर-इस अन्य शरीर में मन आदि सहित आत्मा आजाता है। यह मृत्यु के अनन्तर पुनः जन्म का होना है। इसप्रकार एक शरीर में भोग द्वारा कर्मक्षयरूप कारण से मन का अपसर्पण तथा अन्य विपच्यमान कर्माशयरूप कारण से शरीरान्तर में उपसर्पण उपपन्न होजाता है।

इन्द्रियों से, मन से तथा देह से होनेवाले कर्मों का फल-भोक्ता आत्मा है । यदि इन्द्रिय, मन, देह को चेतन मानाजाता है, तो कर्म करनेवाले इन्द्रिय आदि हैं, उनका फल भोगनेवाला उनसे अतिरिक्त तत्त्व आत्मा है । आत्मा ने कर्म नहीं किये, वह तो इन्द्रिय आदि ने किये, और फल भोगा आत्मा ने; यह 'अकृत-अभ्यागम'-दोष है । जिसने कर्म नहीं किया, उस फल का अभ्यागम प्राप्त होना स्पष्ट आपत्तिजनक है ।

सूत्र में 'अकृताभ्यागम' पद 'कृतहानि'-दोष का भी उपलक्षण समझना चाहिये । इसका तात्पर्य है-जिसने कर्म किया है, उसको फल न मिलना, अपने किये कर्म की हानि होजाना । देहादि ने कर्म किया, परन्तु उन कर्मों का फल देहादि को न मिलकर उनसे अन्य आत्मा को मिलता है । इससे देहादि को चेतन मानने में 'अकृताभ्यागम'-दोष के साथ 'कृतहानि'-दोष भी प्राप्त होता है । अतः देहादिरूप भूत तथा मन एवं इन्द्रियों का गुण ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा आदि को मानकर उन्हें चेतन बताना सर्वथा प्रमाणरहित है ॥ ४० ॥

आत्म-धर्म हैं ज्ञान, इच्छा आदि—आचार्य सूत्रकार प्रसंग का उपसंहार करते हुए बताता है—

परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४१ ॥ (३१०)

[परिशेषात्] परिशेष से [यथोक्तहेतूपपत्तेः] प्रथम कहे हुए हेतुओं की सिद्धि से [च] तथा (ज्ञानादि गुण आत्मा के निश्चित होते हैं) ।

किसी प्रसंग में अभिमत मान्यता की खोज करने के लिए जब कतिपय तत्त्वों का मान्यता के रूप में प्रतिषेध करते चले आते हैं, तब जो तत्त्व उस वर्ग में शेष रहजाता है, उसको वह मान्यता प्राप्त होजाती है । 'परिशेष' का यही तात्पर्य है । प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रतिषेध करते चले आरहे हैं कि ज्ञान, प्रयत्न आदि गुण भूत, भौतिक देह आदि तथा मन एवं इन्द्रियों के नहीं हैं । तब द्रव्य-वर्ग में आत्मा शेष रहजाता है । फलतः परिशेष अनुमान से ज्ञान आदि गुण आत्मा के हैं, यह सिद्ध होता है ।

आत्मतत्त्व नित्य है—इसके अतिरिक्त आत्मा के लिङ्ग—लक्षणरूप में [१ । १ । १०] तथा लक्षण की परीक्षा के प्रसंगों [३ । १ । १–२७] में आत्मा के अस्तित्व तथा नित्यत्व आदि की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, वे पूर्णरूप से अप्रतिषिद्ध हैं । उनका किसीप्रकार प्रतिषेध न होने से उन हेतुओं की विद्यमानता में-ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा आदि गुण आत्मा के हैं, यह निश्चित होता है ।

पृथिवी आदि भूत-द्रव्यों तथा मन के अतिरिक्त वह कौन-सा द्रव्य है, जो इस प्रतिषेध-परम्परा में शेष रहजाता है ?-उसके ज्ञापन (बोध कराने) के लिए,

तथा प्रस्तुत प्रसंग में अभिमत सिद्धान्त की स्थापना आदि की जानकारी के लिए आचार्य ने इस सूत्र का निर्देश किया है ।

भाष्यकार वात्स्यायन का सुझाव है सूत्र के 'उपपत्ति'- पद को प्रस्तुत प्रसंग की सिद्धि के लिए स्वतन्त्र हेतु समझना चाहिये । पूर्वोक्त अर्थ 'यथोक्तहेतु' इतने अंश से अभिव्यक्त होजाता है । उसी अर्थ की पुष्टि के लिए 'उपपत्ति' अतिरिक्त हेतु है । इसका तात्पर्य है-यह नित्य आत्मा एक देह से सम्बद्ध होकर वहाँ धर्म का आचरण करते हुए-उस देह के पूरा होजाने पर सुखमय स्थानों में दिव्य आत्माओं के साथ अन्य देह प्राप्त करलेता है । इसीप्रकार एक देह में अधर्म का आचरण करते हुए-उस देह के छूट जाने पर दुःखमय स्थानों में देहान्तर को प्राप्त करता है । एक देह को छोड़कर अपने किये धर्म-अधर्म के अनुरूप देहान्तर को प्राप्त करना 'उपपत्ति' का स्वरूप है । यह उपपत्ति-एक नित्य आत्मा का नाना देहों के साथ सम्बन्ध होना-सिद्ध करती है । आत्मा को नित्य मानने पर 'उपपत्ति' का यह स्वरूप सम्भव है ।

चैतन्य को नित्य एवं स्थिर तत्त्व न मानाजाकर यदि ज्ञान की सन्ततिमात्र मानाजाता है, जो एक क्षण से अधिक अपना अस्तित्व नहीं रखता, तो 'उपपत्ति' हेतु निराधार होजाता है । यह निरन्तर परिवर्त्तित व प्रवाहित रहता ज्ञान आत्म-द्रव्यरूप आश्रय से हीन है । तात्पर्य है-आत्मा आदि जैसा कोई स्थिर द्रव्य उसका (ज्ञान का) आश्रय नहीं होता । चैतन्य के रूप में इसप्रकार के ज्ञान-प्रवाहमात्र को स्वीकार करने पर उक्त 'उपपत्ति' का होना सम्भव नहीं रहता । संसार वस्तुतः है क्या ? एक विद्यमान तत्त्व के अधिष्ठान-कालक्रम के अनुसार-अनेक शरीर रहते हैं । उस स्थिर तत्त्व का निरन्तर नाना शरीरों से सम्बन्ध होते रहना संसार है । जब यह शरीर-सम्बन्ध का क्रम निमित्त-विशेषों से उच्छिन्न होजाता है, तब वह अपवर्ग अथवा मुक्ति का प्राप्तहोना है । एक स्थिर चेतन तत्त्व को मानने पर संसार और अपवर्ग की यह व्यवस्था सम्पन्न होती है । परन्तु जब केवल निरात्मक निराश्रय ज्ञान के प्रतिक्षण परिवर्त्ती प्रवाह को चैतन्य का स्वरूप मानाजाता है, तो संसार और अपवर्ग दोनों का अस्तित्व झमेले में पड़जाता है; क्योंकि ऐसी स्थिति में न तो कोई ऐसा स्थिर तत्त्व स्वीकारागया है, जो चिरकाल से चालू इस लम्बे मार्ग पर यात्रा कर रहा हो-जब ऐसा कोई एक स्थायी तत्त्व नहीं, तो एक का अनेक शरीरों से सम्बन्ध होना-रूप-संसार कहाँ रहा ?-और न कोई तत्त्व इस शरीरबन्धन के अनवरत प्रवाह से छूटनेवाला है; तब संसार और अपवर्ग दोनों के अस्तित्व का अभिलापन अशक्य होजाता है । चैतन्यरूप स्थायी आत्मतत्त्व को माने बिना संसार-अपवर्ग की यथायथ व्याख्या सम्भव नहीं ।

स्थायी चेतन आत्मतत्त्व को माने बिना-न केवल संसार-अपवर्ग के

अस्तित्व की व्याख्या असम्भव है, प्रत्युत दैनिक लौकिक व्यवहारों का चलना भी दुरूह एवं अकल्पनीय है। प्रत्येक व्यक्ति लोक में अपने कार्यों को करता हुआ पूर्वापर कार्यों के सम्बन्ध को यथायथ बनाये रखता है, यह स्थिति पहले किये ज्ञान कार्यों के स्मरण के विना नहीं होसकती। किसी व्यक्ति को स्मरण अपने अनुभूत का होसकता है, अन्य के ज्ञान का नहीं। जब स्थायी ज्ञाता आत्मा का अस्तित्व नहीं है, तब कोई भी स्मरण होना असम्भव होगा। स्मरण के विना कार्यों का अनुक्रम—परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं, प्रत्येक कार्य एक-दूसरे से विच्छिन्न होजायगा। क्या किया, क्या करना है, ऐसा कुछ भी निश्चय करना अशक्य होगा। सब कार्य अव्यवस्थित होजायेंगे, किसी कार्य का पूरा होना सम्भव न होगा। इसप्रकार एक नित्य ज्ञाता के अभाव में स्मरण, प्रतिसन्धान आदि के न होसकने से समस्त लोकव्यवहार उच्छिन्न होजायगा। परन्तु ऐसा होता नहीं; लोकव्यवहार अपनी दिशा में यथायथ चलता है; संसार और अपवर्ग की व्यवस्था प्रमाणमूलक है। यह सब स्थिति इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि नाना शरीरों में कालक्रम के अनुसार एक नित्य चेतन आत्मतत्त्व सम्बद्ध होता रहता है। यह क्रम अनादि काल से चालू है, और अनन्त काल तक चलना है। इसप्रकार संसार और अपवर्ग की व्यवस्था आत्मा के नित्य और ज्ञाता होने को प्रमाणित करती है॥ ४१॥

आत्मधर्म है स्मृति—भूत, मन, इन्द्रियों का तथा अन्तःकरण-बुद्धि का धर्म ज्ञान नहीं है, यह विवेचन कियागया। प्रसंगवश ज्ञानसन्ततिमात्र चैतन्य नहीं है, यह भी प्रतिपादित कियागया; फलस्वरूप ज्ञान, नित्य चेतन आत्मा का धर्म रहे, परन्तु स्मरण को बुद्धि अथवा बुद्धिसन्तान का धर्म मानने में क्या बाधा है? वादी की इस उद्भावना के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्॥ ४२॥ (३११)

[स्मरणम्] स्मरण [तु] तो [आत्मनः] आत्मा का (धर्म है), [ज्ञस्वाभाव्यात्] ज्ञाता का यह स्वभाव-स्वरूप होने से।

स्मृति, आत्मा का धर्म, स्मरण ज्ञान है; यह ज्ञाता का स्वभाव है, स्वरूप है। ज्ञाता के ज्ञानस्वरूप-चैतन्यरूप होने से—चाहे ज्ञान अनुभवात्मक हो अथवा स्मृत्यात्मक, वह ज्ञाता से अतिरिक्त अन्य किसीका धर्म नहीं होसकता। नित्य चेतन आत्मा त्रिकालविषयक ज्ञान से सम्बद्ध रहता है। इस यथार्थता को प्रत्येक जानकार जानता है। इसलिये बुद्धि-अन्तःकरण का अथवा नित्य आत्मतत्त्व के आश्रय से हीन बुद्धिसन्तान का धर्म न होकर समस्त ज्ञान नित्य चेतन आत्मा का धर्म है, स्वरूप है; यह प्रमाणित होता है॥ ४२॥

स्मृति के निमित्त प्रणिधान आदि— तेतीसवें सूत्र में आचार्य ने बताया— प्रणिधान आदि लिङ्गों के युगपत् प्रादुर्भाव में न आने के कारण आत्मगत अनेक संस्कारों—एवं मनःसंयोग—की विद्यमानता में भी स्मृतियाँ युगपत् नहीं होपातीं। स्मृति के उन प्रणिधान आदि साधनों का आचार्य सूत्रकार ने संकलन किया—

प्रणिधाननिबन्धाऽभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य-परिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रितसम्बन्धाऽऽनन्तर्यवियोगैक-कार्यविरोधाऽतिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छा-द्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४३ ॥ (३१२)

[प्रणिधान-निबन्ध-अभ्यास-लिङ्ग-लक्षण-सादृश्य-परिग्रह-आश्रय - आश्रित-सम्बन्ध-आनन्तर्य-वियोग-एककार्य-विरोध-अतिशय-प्राप्ति-व्यवधान - सुख - दुःख-इच्छा-द्वेष-भय-अर्थित्व-क्रिया-राग-धर्म-अधर्मनिमित्तेभ्यः] प्रणिधान आदि अधर्म-पर्यन्त सत्ताईस निमित्तों से स्मृतियाँ होती हैं।

प्रत्येक निमित्त का स्वरूप व विवरण यथाक्रम इसप्रकार समझना चाहिये—

प्रणिधान—किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा से मन को एकाग्र कर उसके (स्मृति के) हेतु का चिन्तन करना 'प्रणिधान' कहाता है। स्मरणीय वस्तु की स्मृति के हेतु का चिन्तन करना उस वस्तु की स्मृति का कारण होता है। जैसे—याद किये पाठ को भूलजाने पर छात्र चिन्तन से उसका स्मरण कर लेता है। किसी देश अथवा स्थान के चिन्तन से वहाँ के निवासी तथा अन्य वस्तुओं का स्मरण होआता है।

निबन्ध—अनेक प्रतिपाद्य पदार्थों का एक ग्रन्थ अथवा किसी एक प्रसंग में निबन्धन-ग्रथन-प्रतिपादन करना 'निबन्ध' होता है। इसप्रकार एक जगह ग्रथित अनेक पदार्थ आनुपूर्वी से अथवा बिना क्रम के एक-दूसरे के स्मारक होते हैं। जैसे—इसी शास्त्र में प्रतिपादित प्रमाण आदि पदार्थ परस्पर स्मृति के हेतु होते हैं। आनुपूर्वी से, जैसे—प्रमाण का स्मरण करके प्रमेय का स्मरण होआता है। क्रम के विना, जैसे—निग्रहस्थान के स्मरण-प्रसङ्ग से प्रमाण अथवा विशेष-अनुमान का स्मरण होजाय। निबन्ध का एक अन्य स्वरूप बताया जाता है—किन्हीं दो का कल्पनामूलक गठबन्धन। प्राचीन व्याख्याकारों ने लिखा है, जैगीषव्य आदि ऋषियों द्वारा प्रोक्त धारणाशास्त्र में शरीर के विभिन्न अंगों के साथ विशिष्ट देवताओं का सम्बन्ध जोड़ागया बताया है। जो इस सम्बन्ध को जानते हैं, उन्हें अंग-विशेष के ध्यान से सम्बद्ध देवता का स्मरण होजाता है। औपनिषद उपास-नाओं में जैसे सूर्य में मधुभाव का आरोप करलियाजाता है; लोकव्यवहार के अनुसार मुखविशेष में चन्द्र का आरोप। चन्द्र को देखकर मुखविशेष का स्मरण होजाता है।

अभ्यास—एक विषय में जानकारी का निरन्तर क्रम बना रहना 'अभ्यास' है। तात्पर्य है—एक पदार्थ का बार-बार चिन्तन करना। ऐसे अभ्यास से उस वस्तु के विषय में दृढ़ संस्कार आत्मा में उत्पन्न होजाता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'अभ्यास' पद से वह संस्कार ग्राह्य है। यद्यपि संस्कार स्मृतिमात्र में कारण है; ऐसा संस्कार सद्यः स्मृति का जनक होता है।

लिङ्ग—चिह्न, साधन, हेतु का नाम है। साधन व्याप्य, तथा साध्य व्यापक होता है। साधन से साध्य का स्मरण होजाता है। साध्य-साधन का सम्बन्ध संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय एवं विरोध आदि कई प्रकार का होता है। संयोगसम्बन्ध के उदाहरण हैं—धूम से अग्नि का स्मरण। सींग से गाय का स्मरण होना समवाय-सम्बन्ध का उदाहरण है। गाय अवयवी के अवयव हैं—सींग। अवयव-अवयवी का सम्बन्ध समवाय सिद्ध है। एकार्थसमवायी का उदाहरण है—किसीके पैर दीखने से हाथ का स्मरण होजाता है, तथा हाथ के दीखने से पैर का। हाथ और पैर एक अर्थ-शरीर के समवाय वाले हैं। तात्पर्य है—शरीर एक अवयवी हाथ-पैर आदि अवयवों में समवेत रहता है। इसीप्रकार रूप स्पर्श का लिङ्ग है; जहाँ रूप रहता है, स्पर्श वहाँ अवश्य रहता है। रूप के देखने से स्पर्श का तथा अनुभूत रस का आम्र आदि फलों में स्मरण होजाता है। यहाँ रूप, स्पर्श, रस एकार्थसमवायी हैं। एक अर्थ—आम में इन सबका समवाय है। विरोधी लिङ्ग[1] का उदाहरण है-नकुल (नेवला) को इधर-उधर दौड़ता देखकर उसके विरोधी साँप का स्मरण होआना। ऐसे ही साँप को देखकर नकुल का स्मरण होजाता है।

लक्षण—चिह्नविशेष। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि विशिष्ट परिवार के गाय आदि पशुओं के किसी अंग पर एक विशेष चिह्न रंग आदि से अंकित करदियाजाता था, जो उसी परिवार के लिये नियत था। अन्य परिवार का चिह्न कोई और होता था। वे चिह्न (लक्षण) देखेजाने पर उन परिवार व गोत्रों का स्मरण कराते थे। जैसे—ये गाय गर्ग-परिवार (गोत्र) वालों की हैं, और ये बिद—परिवार की। यह ऐसी प्रथा थी, जैसे आज कोई चिह्न पेटैन्ट कराये जाते हैं; तथा चुनाव आदि में विभिन्न पार्टियों के विशेष चिह्न नियत कियेजाते हैं। उन चिह्नों को देखकर सम्बद्ध पार्टी का स्मरण होजाता है।

---

१. लिंग वह होता है—जिसका स्वाभाविक अविनाभावसम्बन्ध किसीसे हो। केवल संकेत के लिये प्रस्तुत लिंग 'चिह्न' कहाजाता है। यह इन दोनों पदों में थोड़ा वैशिष्ट्य है। लिंग (व्याप्य) का लिंगी (व्यापक) से सम्बन्ध और उदाहरणों के विवरण के लिये द्रष्टव्य हैं—'वैशेषिक दर्शन-विद्योदय-भाष्य [३। १। ६—१३]।

सादृश्य—समान होना। चित्र में समान आकृति को देखकर उस-जैसी आकृति के देवदत्त आदि व्यक्ति का स्मरण होजाता है। समान आकृति के किसी व्यक्ति को देखकर उस आकृति के पूर्वज्ञात व्यक्ति का स्मरण होआता है।

परिग्रह—परिग्रह पद का अर्थ 'स्वीकार करना' है। यहाँ वस्तु के–स्व०-स्वामिसम्बन्ध का परस्पर स्वीकार करना–तात्पर्य है। यह परिग्रह 'स्व' से स्वामी का, तथा स्वामी से 'स्व' का स्मरण होने में हेतु रहता है।

आश्रय—सहारा, किसीके अधीन होना। ग्राम के नेता से उसके अधीन रहनेवाले का स्मरण होजाता है। अपने अधीन व्यक्ति का आश्रय होता है–ग्रामनेता।

आश्रित—जो अधीन, अथवा सहारे में रहे। आश्रित से उसके आश्रय का स्मरण होजाता है। आश्रय से आश्रित का, तथा आश्रित से आश्रय का स्मरण होजाना स्वाभाविक है।

सम्बन्ध—किसी नियत आधार पर लोकव्यवहार में दो वर्गों का एक सम्बन्ध स्थापित होजाता है। वहाँ एक का ज्ञान दूसरे का स्मरण करादेता है। लोक में–'गुरु-शिष्य, यजमान-पुरोहित, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा' आदि अनेक सम्बन्ध व्यवहार्य देखेजाते हैं। इनमें कोई एक अपने सम्बन्धी दूसरे का स्मरण कराता है।

आनन्तर्य—किन्हीं कार्यों का नियम से क्रमपूर्वक होना–उनमें एक कार्य के अनन्तर दूसरे की स्थिति को प्रकट करता है। एक कार्य के सम्पन्न होने पर ठीक उसके अनन्तर होनेवाले कार्य का स्मरण होआता है। इसप्रकार आनन्तर्य स्मृति का हेतु मानाजाता है। यज्ञादि अनुष्ठानों तथा गणना आदि में यह प्रसंग अपेक्षित रहता है।

वियोग—किन्हीं प्रेमी व्यक्तियों का अलग होजाना वियोग है, यह एक-दूसरे की स्मृति का हेतु रहता है। वियोग से दुःखी–अनुतप्त व्यक्ति अपने प्रेमास्पद का स्मरण कियाकरता है।

एककार्य—एक अर्थात् समान कार्य करनेवाले जाने हुए व्यक्तियों में एक के देखने या चर्चा होने से दूसरे का स्मरण होआता है। हमारे एक परिचित परिवार के व्यक्ति ट्रैक्टर का निर्माण करते हैं; किसी भी ट्रैक्टर बनानेवाले संघ का जब कहीं उल्लेख या चर्चा-प्रसंग आता है, तो उस परिवार का तत्काल स्मरण होआता है। जो कोई व्यक्ति समान कार्य करनेवाले अनेक व्यक्तियों को जानता है, तो उनमें से किसी एक का प्रसंग आनेपर अन्यों का स्मरण होजाता है। कभी कारणवश अपने अनेक गुरुओं में से किसी एक का चर्चा-प्रसंग आता है, तो अन्य गुरुओं का स्मरण होजाता है।

विरोध—जब किन्हीं दो व्यक्तियों या राष्ट्रों का परस्पर-विरोध या

संघर्ष होता है, तो किसी एक का प्रसंग आने पर दूसरे का स्मरण होजाता है। वर्त्तमान काल में रूस-अमेरिका, तथा चीन-रूस का संघर्ष चलता रहता है। इनमें से एक का प्रसंग आने पर दूसरे का स्मरण अवश्य होजाता है।

अतिशय—किसी कार्य में किसी व्यक्ति के द्वारा सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करना 'अतिशय' है। गुरुओं के प्रसंग में अतिशय का विचार आने पर तत्काल बलिया-मण्डलान्तर्गत छाता-निवासी गुरुवर श्री काशीनाथ जी शास्त्री का स्मरण होजाता है। जब वर्त्तमान काल के सितारवादकों का कहीं चर्चा-प्रसंग चलता है, तो उसमें अतिशय पं० रविशङ्कर को तत्काल स्मरण करादेता है।

प्राप्ति—किसीने किसीसे कुछ प्राप्त किया, अथवा प्राप्त करना है, वह उसका पुनः-पुनः स्मरण किया करता है।

व्यवधान—ख़ोल या मियान के देखने से उसमें रक्खी वस्तु का स्मरण होजाता है। तकिये के ख़ोल से तकिये का, तथा तलवार के मियान से तलवार का स्मरण होता है।

सुख—सुख की अनुभूति से पूर्वानुभूत सुख के हेतुओं का तथा विविध आधारों का स्मरण होजाता है।

दुःख—इसीप्रकार दुःख का अनुभव करता व्यक्ति पहले जाने हुए दुःख के हेतुओं तथा आधारों को याद किया करता है।

इच्छा—चाहना है; जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है, प्राप्त होने तक उसका वार-वार स्मरण किया करता है।

द्वेष—इच्छा के समान द्वेष भी स्मृति का वैसा ही निमित्त है। व्यक्ति जिससे द्वेष करता है, वह द्वेष उस वस्तु को रह-रहकर याद कराता रहता है।

भय—डर भी स्मृति का साधन है। व्यक्ति जिससे डरता है, भय खाता है, वह भय उस व्यक्ति को भय के कारण का स्मरण कराता रहता है।

अर्थित्व—किसी वस्तु की कामना होना, भोजन या वस्त्र आदि की। यह अर्थिता जिस वस्तु की कामना होती है, उसका स्मरण कराती रहती है।

क्रिया—अर्थात् कार्य। कार्य से कर्त्ता का स्मरण होजाता है। रथ को देखकर रथकार का स्मरण होजाता है। घट-घटिका [घड़ा-घड़ी] आदि कार्य अपने कर्त्ता का स्मरण कराया करते हैं। यह स्मृति का क्षेत्र वहाँ तक है, जहाँ तक हमें कार्य के कर्त्ता की जानकारी रहती है। इसीलिये जगत्कार्य से ईश्वर-कर्त्ता का स्मरण न होकर अनुमान होना मानाजाता है।

राग—जिसमें जिस व्यक्ति का अनुराग होता है, वह उसको याद किया-करता है। स्त्री में अनुराग होने पर पुरुष वार-वार उसका स्मरण करता है। ऐसी दशा में स्त्री पुरुष का स्मरण करती है। एक मित्र दूसरे मित्र का स्मरण करता है।

धर्म—यह एक साधारण ईश्वरीय व्यवस्था है; किसी व्यक्ति को अपने पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण नहीं होता। परन्तु कभी किसी धर्म-विशेष का अतिशय होने पर कोई व्यक्ति बहुत विरल ऐसा निकल आता है, जिसे पूर्वजन्म की किन्हीं विशेष घटनाओं का स्मरण होआता है। ऐसे ही धर्मविशेष के कारण चालू जीवन में अपने अधीत विषयों का किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों को स्मरण रहता है। अन्यथा अनेक व्यक्ति चाहने व प्रयत्न करने पर भी अधीत विषयों का प्रायः स्मरण नहीं करपाते। हमारे गुरु श्री पं० काशीनाथ जी शास्त्री संस्कृत के प्रत्येक विषय के प्रत्येक ग्रन्थ को पुस्तक देखे बिना पढ़ाया करते थे। ऐसी विशिष्ट स्मृति का कारण धर्म-अदृष्ट होता है।

अधर्म—पहले अनुभूत दुःख-साधनों का स्मरण अधर्म-निमित्त के उद्रेक से होजाता है। अधर्मनिमित्तक होने से ऐसा स्मरण दुःख का ही जनक होता है।

सूत्रकार ने यहाँ स्मृति के सत्ताईस निमित्तों का संकलन किया है। यह गणना की व्यवस्था—इयत्ता नहीं, अपितु निर्देशनमात्र है। अन्य निमित्त भी स्मृति के सम्भव हैं। कभी उन्माद आदि स्मृति के कारण बनजाते हैं।

स्मृति का कोई निमित्त ज्ञात होने पर स्मृति का हेतु होता है। यह एक व्यवस्था है—एक समय में कोई एक ज्ञान होसकता है, एकाधिक नहीं; इसलिये स्मृति हेतुओं का युगपत् होना सम्भव नहीं। इसीकारण स्मृतियाँ युगपत् नहीं होसकतीं। यह बात प्रथम तेतीसवें सूत्र में कहीगई है, उसीका समर्थन प्रस्तुत प्रसंग से किया है॥ ४३॥

ज्ञान, उत्पाद-विनाशशील—बुद्धि अर्थात् ज्ञान—जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है—उत्पत्ति-विनाशशील है। परन्तु कभी ज्ञान चिरकाल तक बना रहता है, इससे उसके अनित्य होने में संशय की स्थिति आजाती है—ज्ञान को क्या शब्द के समान उत्पाद-विनाशशील मानाजाय? अथवा कालान्तर में अवस्थित रहने से घट आदि के समान स्थायी मानाजाय? आचार्यों का कहना है कि ऐसे ज्ञान को शब्द के समान उत्पाद-विनाशशील मानाजाना चाहिये। सूत्रकार ने कारण बताया—

कर्मानवस्थायिग्रहणात्॥ ४४॥ (३१३)

[कर्मानवस्थायिग्रहणात्] कर्म-क्रिया के समान अवस्थायीरूप में ग्रहण न होने से (बुद्धि-ज्ञान को क्रिया के समान क्षणिक—अस्थायी मानना चाहिये)।

क्रिया कभी स्थायीरूप में गृहीत नहीं होती; वह निरन्तर प्रवाहित होती देखीजाती है। कमान से छूटे हुए तीर में—जब तक वह लक्ष्य में बिंध नहीं जाता, अथवा लक्ष्यभ्रष्ट होकर भूमि आदि पर गिर नहीं जाता, तबतक क्रिया का प्रवाह निरन्तर रहता गृहीत होता है। इसीप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होनेवाला ज्ञान

प्रत्येक विषय के प्रति नियत होता है। एक ज्ञान किसी एक नियत-विषयक रहता है। एक ज्ञान के अनन्तर दूसरा ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होजाता है, भले ही कभी ज्ञान का विषय एक हो। जैसे एक गति-क्रिया दूर देश तक नहीं जासकती, वहाँ तीर में एक क्रिया के अनन्तर अन्य क्रिया की उत्पत्ति से क्रिया का सन्तान–निरन्तर उत्पत्ति-विनाश प्रवाह–देखाजाता है; ऐसे ही आत्मा में ज्ञान-सन्तान की उपपत्ति समझनी चाहिये। पूर्वज्ञान के रहते अन्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता, अतः जैसे ही पूर्वज्ञान का नाश होता है, अन्य ज्ञान उत्पन्न होजाता है। इस-प्रकार ज्ञान की क्षणिकता, अस्थायिता सिद्ध होती है।

अनित्य पदार्थों के दो प्रकार—अनित्य पदार्थ दो प्रकार के देखेजाते हैं। एक–कालान्तर तक अवस्थित रहते हैं, जैसे—घट, पट आदि पदार्थ। दूसरे–उत्पन्नापवर्गी होते हैं,–उत्पन्न होना, अनन्तर एक क्षण रहकर फिर नष्ट होजाना। यहाँ 'अपवर्ग'-पद नाश के अर्थ में है। तात्पर्य है–ऐसे अनित्य पदार्थों का अस्तित्व केवल दो क्षण रहता है। एक क्षण उत्पत्ति का, दूसरा स्थिति का; तीसरे क्षण में उनका नाश होजाता है। क्रिया एवं शब्द ऐसे ही पदार्थ हैं। उन्हींके समान यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान द्विक्षणावस्थायी है। ज्ञान के उत्पत्ति-विनाशशील अथवा क्षणिक होने का यही तात्पर्य है।

इसके विपरीत यदि यह कहाजाता है कि अनित्य घट आदि के समान बुद्धि कालान्तर में अवस्थित रहती है, तो दीखते हुए घट के–किसी व्यवधान द्वारा–व्यवहित होजाने पर भी उसका प्रत्यक्ष होता रहना चाहिये। जबतक घट सामने रक्खा है, घटविषयक बुद्धि-सन्तान प्रत्यक्षरूप में प्रवाहित होतारहता है। यदि इस बुद्धि को कालान्तरावस्थायी मानाजाय, तो वह घट के व्यवहित होजाने पर भी प्रत्यक्षरूप में अवस्थित रहनी चाहिये। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं; अतः प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि को घट आदि के समान कालान्तरावस्थायी न मानकर, क्रिया आदि के समान द्विक्षणावस्थायी मानाजाना उपपन्न है।

अनन्तरकाल में घट का स्मरण होना प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि के अवस्थित होने में हेतु नहीं है; क्योंकि स्मृति का हेतु सदा संस्कार होता है, जो प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि से उत्पन्न होता है। किसी विषय का प्रत्यक्षज्ञान आत्मा में उस विषय के संस्कार को उत्पन्न करदेता है; स्वयं नष्ट होजाता है। आगे वह संस्कार उस विषय की स्मृति को उत्पन्न कियाकरता है। इसलिये अनित्य बुद्धि को उस विषय की स्मृति होने के आधार पर घट आदि अनित्य पदार्थों के समान कालान्तरावस्थायी नहीं मानाजासकता; क्योंकि स्मृति का कारण प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि नहीं; अपितु बुद्धिजन्य संस्कार होता है, जो आत्मा में समवेत रहता है, तथा यथाकाल प्रणिधान आदि निमित्तों से जागृत होकर स्मृति को उत्पन्न किया करता है।

यह कहना किसीप्रकार युक्त नहीं कि बुद्धि के द्विक्षणावस्थायी होने में हेतु का अभाव है । क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य बुद्धि को यदि घट आदि के समान कालान्तर में अवस्थायी मानाजाता है, तो उसके निरन्तर प्रत्यक्षरूप बने रहने से स्मृति का होना असम्भव होजायगा । प्रत्यक्षज्ञान के न रहने पर स्मृति के होने की सम्भावना रहती है । प्रत्यक्षज्ञान को अवस्थित मानलेने पर वह सम्भावना नष्ट होजायगी; जिस विषय का जबतक प्रत्यक्षज्ञान बनारहता है, तबतक स्मृति का होना सम्भव नहीं । तब बुद्धि को अवस्थित मानने से स्मृति का अभाव प्रसक्त होजायगा । यह स्थिति बुद्धि को उत्पन्नापवर्गिणी मानने में अर्थात् द्विक्षणावस्थायी स्वीकार करने में प्रबल हेतु है ॥ ४४ ॥

ज्ञान (क्षणिक) का ग्रहण अस्पष्ट नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि बुद्धि को क्षणिक मानाजाता है, तो विषय का स्पष्ट ग्रहण नहीं होसकेगा । इस जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्संपाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४५ ॥ (३१४)

[अव्यक्तग्रहणम्] अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण होना चाहिये (विषय का), [अनवस्थायित्वात्] अवस्थायी न होने से (बुद्धि के), [विद्युत्संपाते] बिजली के चमकने पर [रूपाव्यक्तग्रहणवत्] रूप के अस्पष्ट ग्रहण के समान ।

बिजली का चमकना नितान्त अस्थायी होता है । वह चमक आँख-सी झपकजाती है । यह सर्वविदित है—उस प्रकाश में रूप अथवा रूपवाले द्रव्य का स्पष्ट ग्रहण नहीं होता । यदि बुद्धि को इसीप्रकार अस्थायी मानाजाय, वह एक-दो क्षण रहकर नष्ट होजाती है, तो उस बुद्धिरूप ज्ञान-प्रकाश में घटादि विषयों का ग्रहण स्पष्ट नहीं होसकेगा । परन्तु द्रव्यों का ग्रहण स्पष्ट होता देखाजाता है । इससे यह मानाजाना चाहिये कि बुद्धि उत्पन्नापवर्गिणी—उत्पन्न होकर क्षण में नष्ट होजानेवाली—नहीं है ॥ ४५ ॥

आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥ ४६ ॥ (३१५)

[हेतूपादानात्] हेतु के कथन से (जिज्ञासु द्वारा), [प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा] प्रतिषेध कियेजाने वाले अर्थ को स्वीकार करलिया (जिज्ञासु ने) ।

बुद्धि को क्षणिक न मानेजाने के लिये जिज्ञासु ने दृष्टान्त व हेतु के रूप में यह कहा कि बिजली की अस्थायी चमक में रूप का स्पष्ट ग्रहण नहीं होता । इस कथन से जिज्ञासु ने बुद्धि की क्षणिकता को स्वीकार करलिया । कैसे कर-लिया ? यह समझिये ।

चक्षु द्वारा विषय के ग्रहण करने में प्रकाश आवश्यकरूप से निमित्त होता है। प्रकाश के रहते चक्षु विषय का ग्रहण करसकता है। यदि प्रकाश मन्द अथवा अस्थिर है, तो विषय का ग्रहण मन्द, अस्थिर एवं संदिग्ध न होकर स्पष्ट व निश्चयात्मक होता है। इससे यह सिद्ध होजाता है कि बिजली की चमक में रूप का अव्यक्त ग्रहण बुद्धि की क्षणिकता के कारण न होकर बिजली (प्रकाश) की अस्थिरता के कारण होता है, जो प्रकाशरूप में चाक्षुष बुद्धि का आवश्यक निमित्त है। इससे बुद्धि की क्षणिकता में कोई अन्तर नहीं आता। बुद्धि का व्यक्त (स्पष्ट) व-अव्यक्त (अस्पष्ट) होना बुद्धि के निमित्तों की विविधता से होता है; इसमें बुद्धि का अवस्थित या अनवस्थित होना अपेक्षित नहीं।

वस्तुतः बुद्धि अपने रूप में सदा एक-सी रहती है। विषय का ग्रहण होना 'बुद्धि' अथवा 'ज्ञान' है, वह चाहे स्पष्ट हो, या अस्पष्ट; उसका बुद्धिरूप या ज्ञानरूप होना दोनों अवस्थाओं में समान है। जब पदार्थ के विशेष धर्मों का ग्रहण न होकर केवल सामान्य धर्म गृहीत होते हैं, तब वह ज्ञान अव्यक्त, तथा विशेष धर्मों का ग्रहण होने पर व्यक्त है,-यह कहना भी संगत नहीं है। क्योंकि ज्ञान-चाहे सामान्य हो या विशेष, वे दोनों अपनी स्थिति में व्यक्त हैं। यदि सामान्य ग्रहण के निमित्त उपस्थित हैं, तो वैसा ज्ञान होगा; विशेष ग्रहण के निमित्तों की उपस्थिति में विशेषज्ञान होगा। दोनों प्रकार के ज्ञान एक-दूसरे से पृथक् हैं; तथा अपने-अपने निमित्तों के होने पर आत्मलाभ करते हैं। इसलिये जब कहीं पदार्थ के सामान्य अथवा विशेष धर्मों का ग्रहण नहीं होता, उसमें उनके निमित्तों का न होना कारण है। वह बुद्धि के व्यक्त-अव्यक्त रूप का आपादक नहीं। बुद्धि वस्तुतः सदा व्यक्तरूप रहती है।

यदि व्यक्त-अव्यक्त पदों का बुद्धि के साथ प्रयोग कियाजाना केवल इस भावना से अभीष्ट हो कि वह कहीं विशेष धर्म और कहीं सामान्य धर्म को विषय करती है, तो यह व्यवहारमात्र की दृष्टि से उपयोगी भले हो, पर वस्तुस्थिति यही है कि बुद्धि के अनवस्थायी (क्षणिक-द्विक्षणावस्थायी) होने से उसे अव्यक्त नहीं कहाजासकता। प्रत्येक पदार्थ का जैसा ज्ञान होता है, वह अपने रूप में व्यक्त रहता है ॥ ४६ ॥

ज्ञान स्पष्ट कैसे—आचार्य सूत्रकार इस वास्तविकता को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करता है—

प्रदीपार्चिस्सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम् ॥ ४७ ॥ (३१६)

[प्रदीपार्चिस्सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्] प्रदीप की ज्वाला के निरन्तर चलते रहने पर उसके अभिव्यक्त ग्रहण के समान [तद्-ग्रहणम्] बुद्धि-सन्तान का अभिव्यक्त ग्रहण होजाता है।

बुद्धि यद्यपि अनवस्थायी है, क्षणिक है, पर अर्थ का ग्रहण करने के रूप में वह सदा व्यक्त है; यह समझे रहना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति यह स्पष्ट देखता है—दिये की लौ निरन्तर उठती रहती है। तेल-बत्ती के सहयोग से उसका ऊर्ध्व-प्रवाह निरन्तर चालू रहता है। लौ की जिस एक लहर का जो तेल-बत्ती कारण है, वही तेल-बत्ती अन्य लहर का कारण नहीं होता। अतः दीपशिखा की प्रत्येक लहर अपने कारणभेद से अन्य लहर से भिन्न है। यह स्थिति दीपशिखा के प्रतिक्षण परिवर्त्तन की प्रयोजक है। इससे दीपशिखा का अनवस्थायी होना प्रमाणित है। फिर भी उसका ग्रहण व्यक्त है। ऐसे ही विभिन्न विषयों के अनुसार बुद्धि-सन्तान निरन्तर चालू रहता है, अर्थात् परिवर्तित होता रहता है; फिर भी अर्थ-ग्रहण के रूप में वह व्यक्त है। जैसे ज्वाला प्रतिक्षण नई-नई चलती रहती भी व्यक्त है, इसीप्रकार नये-नये विषय का ज्ञान विषयानुसार निरन्तर बदलता रहता भी व्यक्त है। ऐसी दशा में बुद्धि के क्षणिक (अनवस्थायी) होने पर उसके अव्यक्त होने का कभी अवसर नहीं आता ॥ ४७ ॥

चेतना आत्मधर्म में संशय—सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक पुष्ट करने की भावना से जिज्ञासा को पुनः उभारागया—चेतना को शरीर का धर्म क्यों न मानाजाय? जबकि शरीर के रहने पर चेतना रहती है, न रहने पर नहीं रहती। सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना के अनुसार ऐसे संशय का कारण बताया—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४८ ॥ (३१७)

[द्रव्ये] द्रव्य में [स्वगुणपरगुणोपलब्धेः] अपने गुण तथा अन्य के गुण की उपलब्धि से [संशयः] संशय है (शरीर में चेतनाविषयक)।

द्रव्य में अपने धर्म तो रहते ही हैं, पर कभी अन्य का धर्म अन्य द्रव्य में देखाजाता है। जलों में अपना धर्म (गुण) द्रवत्व (पिघलापन) उपलब्ध होता है। पर कभी अन्य द्रव्य (तेज) का धर्म उष्णता भी उपलब्ध होता है। इससे संशय होता है—शरीर में जो चेतना धर्म उपलब्ध है, यह शरीर का अपना धर्म है, अथवा अन्य किसी द्रव्य का? वह अन्य द्रव्य आत्मा है। तब चेतना को शरीर और आत्मा में से किस द्रव्य का धर्म मानाजाय? ॥ ४८ ॥

चेतना शरीर-धर्म नहीं—आचार्य सूत्रकार ने बताया, चेतना शरीर का धर्म नहीं होसकता; क्योंकि—

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ४९ ॥ (३१८)

[यावच्छरीरभावित्वात्] जबतक शरीर है, तबतक विद्यमान रहने से [रूपादीनाम्] रूप आदि धर्मों के (शरीर-सम्बन्धी)।

यह देखाजाता है—शरीर के अपने धर्म रूपादि उस समय तक शरीर में बराबर बने रहते हैं, जबतक शरीर विद्यमान रहता है। परन्तु शरीर के रहते

भी चेतना नहीं रहती। मृत शरीर में चेतना का अभाव देखाजाता है; परन्तु शरीर के जो अपने धर्म हैं—रूप आदि, वे मृत शरीर में विद्यमान रहते हैं। जैसे जलों में अपना धर्म द्रवत्व बना रहता है, उष्णता पर-धर्म नहीं रहता। इससे प्रमाणित होता है—चेतना शरीर का धर्म नहीं है।

कभी शरीर में भी शरीर-धर्म का उत्पाद-विनाश देखाजाता है। स्नान आदि करने से शरीर संस्कृत होजाता है। यह संस्कार-विशेष शरीर का धर्म है; पर शरीर के रहते ही कालान्तर में वह संस्कार नष्ट होजाता है। इसीप्रकार शरीर के रहते चेतना का नाश होजाना सम्भव है। तब चेतना को शरीर-संस्कार के समान शरीर का धर्म क्यों न मानाजाय ?

वस्तुतः स्नान आदि से शरीर में होनेवाला संस्कार अपने कारण के नाश से नष्ट होजाता है। स्नान आदि संस्कार के कारण का अभाव न रहने पर वह संस्कार नहीं रहता। परन्तु शरीर में चेतना के कारण का विनाश प्रमाणित नहीं कियाजासकता। जैसे शरीर में चेतना उपलब्ध होती है, वैसे ही शरीर में चेतना का अभाव देखाजाता है। परन्तु संस्कार की स्थिति ऐसी नहीं है; संस्कृत और असंस्कृत शरीर के अन्तर को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। इसलिये स्नानादिजनित संस्कार—शरीरधर्म के समान चेतना को शरीर-धर्म कहना असंगत है।

यदि आग्रहवश चेतना को शरीर का धर्म कहाजाता है, तो ऐसे वक्ता को बताना चाहिये कि चेतना का कारण कहाँ रहता है? शरीर में? या शरीर के बाहर? अथवा शरीर और बाहर दोनों जगह? ये तीनों स्थितियाँ दोषावह हैं। यदि चेतना का कारण शरीर में अवस्थित रहता है, तो शरीर में कभी चेतना उत्पन्न हो, और कभी न हो,-यह स्थिति नहीं होनी चाहिये; जबतक शरीर है, चेतना बराबर बनी रहनी चाहिये; पर ऐसा नहीं है, मृत शरीर में शरीर रहते भी चेतना नहीं रहती।

दूसरा विकल्प भी दोषपूर्ण है। यदि शरीर में चेतना को उत्पन्न करनेवाला कारण शरीर से बाहर कहीं अन्यत्र रहता है, और अन्यत्र अवस्थित वह कारण अपने अधिकरण से भिन्न अधिकरण—शरीर में चेतना को उत्पन्न करदेता है, तो लोष्ट अथवा पाषाण आदि में भी चेतना को उत्पन्न कर दे। पर ऐसा सम्भव नहीं; अतः चेतना के कारण का शरीर से बाहर होना अयुक्त है। तीसरे विकल्प में पूर्वोक्त दोष यथावत् हैं। इसके साथ यह भी आपत्तिजनक बात है कि चेतना-निमित्त उभयत्र होने पर शरीर में ही चेतना उत्पन्न हो, और शरीर के समानजातीय अन्य द्रव्यों में उत्पन्न न हो, ऐसी व्यवस्था में कोई हेतु नहीं है। तब शरीर में चेतना की उत्पत्ति के समान प्रत्येक शरीरजातीय द्रव्य में चेतना उत्पन्न होनी चाहिये। परन्तु ऐसा किसी प्रमाण से उपपन्न नहीं है। अतः चेतना को शरीर का धर्म मानाजाना सर्वथा अप्रामाणिक है ॥ ४६ ॥

चेतना भूत-धर्म, पाकज गुण के समान—शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है, 'घट आदि एक द्रव्य में श्याम आदि गुण का उत्पन्न होना और विनाश होना देखाजाता है; इसीप्रकार एक शरीर में चेतना के उत्पत्तिविनाश सम्भव हैं। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५० ॥ (३१९)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः] अग्निसंयोग के कारण अन्य गुण की उत्पत्ति होने से (घट आदि द्रव्य में)।

घट का धर्म रूप है, घट में रूप का अत्यन्त विनाश नहीं होता। कच्चे घड़े में श्याम-रूप है; अग्नि-संयोग से घड़ा जब पकजाता है, तब रक्त-रूप की उत्पत्ति होजाती है। दोनों दशाओं में रूप वहाँ बराबर बनारहता है, भले ही श्याम-रूप से रक्त-रूप भिन्न हो। परन्तु शरीर में चेतना का अत्यन्त अभाव हो-जाता है। यदि चेतना शरीर का धर्म हो, तो एक चेतना का विनाश होने पर अन्य चेतना उत्पन्न होजानी चाहिये। परन्तु मृतशरीर में ऐसा सम्भव नहीं होता; इसलिये चेतना को शरीर का धर्म मानना असंगत है ॥ ५० ॥

इस विषय में अन्य विचारणीय सूत्रकार ने बताया—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ५१ ॥ (३२०)

[प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः] प्रतिद्वन्द्वी(—प्रतियोगी-विरोधी गुण) की सिद्धि से [पाकजानाम्] पाकज गुणों की समानता से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (चेतना के शरीरधर्म न होने का)।

जिन द्रव्यों में पूर्ववर्त्ती गुण के प्रतियोगी-विरोधी गुण की सम्भावना रहती है, उन्हीं द्रव्यों में पाकज गुण की उत्पत्ति देखीजाती है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, गुण अपने आश्रय द्रव्य की उत्पत्ति होने अथवा न होने पर वहाँ किसी एक स्थिति में रहते हैं। जिस स्थिति में रहते हैं, अग्निसंयोग से उसमें परिवर्त्तन होसकता है। वहाँ पहले गुण का नाश होकर गुणान्तर की उत्पत्ति होजाती है। जिस गुण की अग्निसंयोग से उत्पत्ति होती है, वह पहले गुण का विरोधी है। कच्चे आम को पकाने के लिये पाल में रखदियाजाता है। वहाँ अग्निसंयोग अर्थात् ऊष्मा-गरमी पाकर आम पकजाता है। तब उसमें कच्चे आम के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श नष्ट होजाते हैं, और दूसरे उनके विरोधी गन्ध, रस, रूप, स्पर्श उत्पन्न होजाते हैं। कच्चे आम में जिस गन्ध का अनुभव होता है, वह पके आम में नहीं रहता; उसकी जगह अन्य प्रकार के गन्ध का अनुभव होता है। कच्चे आम का रस कुछ खट्टा और पके आम का मधुर होता है। रूप भी अनेक वार बदलजाता है; कच्चे का हरा-सा, और पके आम का पीला-जैसा रूप होजाता है। स्पर्श भी कच्चे का कुछ कठोर, तथा पके का मृदु होता है। यही स्थिति

कच्चे और पके घट आदि द्रव्यों में देखीजाती है। इससे स्पष्ट है–इन द्रव्यों में पूर्ववर्त्ती गुणों के प्रतिद्वन्द्वी गुण सम्भव हैं। ये गुण उन द्रव्यों के अपने धर्म हैं। अग्निसंयोग से पूर्ववर्त्ती गुण का नाश होकर उसकी जगह उसका विरोधी दूसरा गुण उभर आता है। यह निश्चित है, उन द्रव्यों में पूर्ववर्त्ती गुण के साथ–विरोधी होने के कारण–पाकज गुण रह नहीं सकता। परन्तु उनमें से कोई एक गुण तबतक द्रव्य में अवश्य रहता है, जबतक उस द्रव्य का अस्तित्व है। पाकज दशा में विरोधी गुण सदा सजातीय रहता है।

यह सब स्थिति चेतना और शरीर के सम्बन्ध में नहीं देखी जाती। यदि पाकज गुण के समान चेतना को शरीर का धर्म मानकर वहाँ उसके उत्पाद-विनाश की स्थिति को कहाजाता है, तो शरीर में चेतना का प्रतिद्वन्द्वी गुण होना चाहिये, जो मृतशरीर में चेतना के न रहने पर उसके स्थान में आसके। परन्तु विरोधी होने से चेतना के साथ न रहसकनेवाला उसका प्रतिद्वन्द्वी अन्य सजातीय गुण कभी किसी को आजतक गृहीत नहीं हुआ, जिससे चेतना के साथ उसके विरोध का अनुमान कियाजासके। अतः चेतना शरीर का धर्म नहीं है,-इस तथ्य का जो प्रतिषेध कियागया, वह निराधार है॥ ५१॥

शरीर का धर्म, चेतना नहीं—शरीर का गुण चेतना नहीं है; इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शरीरव्यापित्वात्॥ ५२॥ (३२१)

[शरीरव्यापित्वात्] शरीर में व्यापी होने से।

शरीर और शरीर के जितने अवयव हैं, उन सब में चेतना व्याप्त है, ऐसा जानाजाता है। शरीर का ऐसा कोई अङ्ग नहीं है, जहाँ चेतना का अनुभव न हो। शरीर के अवयव अपनी स्थिति में शरीर से भिन्न हैं। तब शरीर और शरीर के समस्त अवयवों में चेतना के प्रतीत होने से एक शरीर व शरीरावयवों में अनेक चेतनों का होना प्राप्त होता है।

विभिन्न शरीरों में चेतन एक है, अथवा प्रत्येक शरीर में चेतन पृथक्-पृथक् हैं? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये यह हेतु दियाजाता है, एक चैत्र शरीर में स्थित चेतन को होनेवाले सुख, दुःख, ज्ञान आदि का अनुभव अथवा स्मरण अन्य मैत्रादि शरीरवर्त्ती चेतन को नहीं होता; इसलिये प्रत्येक शरीर में चेतन पृथक्-पृथक् मानाजाता है। इसी व्यवस्था के अनुसार यदि चेतना को शरीर का धर्म मानकर शरीर में व्यापी होने से शरीर के प्रत्येक अवयव में चेतना को पृथक्-पृथक् मानाजाता है, तो शरीर के एक अवयववर्त्ती चेतन के सुख, दुःख, ज्ञान आदि का अन्य अवयववर्त्ती चेतन को अनुभव न होना चाहिये। चेतना को शरीर का गुण मानने पर–जैसे विभिन्न शरीरों में पूर्वोक्त व्यवस्था है,

ऐसे एक शरीर में भी वह व्यवस्था लागू होगी। शरीर के अवयवभेद से एक शरीर में अनेक चेतन होने के कारण उन्हें परस्पर सुखादि का अनुभव न होना चाहिये। परन्तु एक शरीर में ऐसा कभी नहीं होता, इसलिये एक शरीर में अनेक चेतन का होना सम्भव नहीं। इसी आधार पर चेतना को शरीर का गुण मानना भी सम्भव नहीं ॥ ५२ ॥

केश आदि देहावयव में चेतना नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, शरीर के किसी अवयव में चेतना अविद्यमान नहीं रहती, यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (३२२)

[केशनखादिषु] केश और नख आदि में [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होने से (चेतना की)।

चेतना को शरीर में व्यापी बताने के आधार पर एक शरीर में शरीरावयवों के सहारे अनेक चेतनों की कल्पना कर चेतना को शरीर-धर्म होने का निषेध कियागया। परन्तु शरीर में केश, नख आदि ऐसे अवयव हैं, जहाँ चेतना नहीं रहती। ऐसी दशा में पूर्वोक्त 'शरीरव्यापी' हेतु असिद्ध होजाता है। वह अपने साध्य—चेतना शरीर का गुण नहीं है—को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ ५३ ॥

केश आदि में चेतना का प्रसंग नहीं—आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसंगः ॥ ५४ ॥ (३२३)

[त्वक्पर्यन्तत्वात्] त्वक् पर्यन्त होने से [शरीरस्य] शरीर के [केशनखादिषु] केश नख आदि में [अप्रसंगः] प्रसंग–प्राप्ति नहीं (शरीर का अंग होने की)।

शरीर के अंग नहीं केश आदि शरीर का लक्षण [१।१।११] चेष्टाश्रय, इन्द्रियाश्रय, अर्थाश्रयरूप में प्रथम कियागया है। यह स्थिति केश, नख आदि में घटित नहीं होती। इनके काटने आदि से कोई दुःख नहीं होता, जो शरीर के किसी अन्य अंग में अवश्य होता है। समस्त शरीर त्वक् से आच्छादित है, त्वक् इन्द्रिय के अधिष्ठान त्वक्-सहित का नाम शरीर है। केश, नख, आदि जो त्वक् से बाहर हैं, उनकी शरीर में गणना नहीं होती। त्वक्पर्यन्त यह कलेवर-पिण्ड जीवन, चिन्तन, मनन, सुख, दुःख, ज्ञान आदि भोग-प्राप्ति के लिये आत्मा का अधिष्ठान है, यही शरीर है। वस्तुतः यह लक्षण जीवित शरीर का समझना चाहिये। शरीर नाम मृत का भी रहता है, पर उसमें उक्त लक्षण नहीं रहते। जीवित अवस्था में चेतना को शरीरव्यापी बतायागया है। केश, नख आदि को

शरीर के अन्तर्गत न मानेजाने से उक्त हेतु में कोई दोष प्राप्त नहीं होता। फलतः उक्त हेतु के आधार पर चेतना को शरीर का धर्म नहीं मानाजासकता ॥ ५४ ॥

शरीर का गुण नहीं चेतना—चेतना के शरीर-गुण न होने में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५५ ॥ (३२४)

[शरीरगुणवैधर्म्यात्] शरीर के गुण (रूपादि) से (चेतना में) वैधर्म्य-वैलक्षण्य होने के कारण (चेतना शरीर-गुण नहीं)।

शरीर के गुण दो प्रकार के हैं, एक जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता; जैसे—गुरुत्व आदि। दूसरे वे हैं—जिनका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है; जैसे—रूप, स्पर्श आदि गुण। चेतना-गुण इन दोनों प्रकारों से विलक्षण है। न तो वह अप्रत्यक्ष है, क्योंकि उसका आन्तर इन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष होता है। तथा रूपादि के समान बाह्येन्द्रिय से चेतना का प्रत्यक्ष होता नहीं, क्योंकि चेतना केवल आन्तर इन्द्रिय का विषय है। इसलिये यह शरीर का गुण न होकर किसी अन्य द्रव्य का गुण मानाजाना चाहिये। वह द्रव्य आत्मा है ॥ ५५ ॥

शरीर-गुणों में वैधर्म्य—उक्त हेतु के विषय में शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूचित किया—

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५६ (३२५)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [रूपादीनाम्] रूप आदि गुणों का [इतरेतरवैधर्म्यात्] परस्पर एक-दूसरे से वैलक्षण्य होने से।

रूप, स्पर्श, गुरुत्व आदि गुणों का परस्पर वैलक्षण्य होने पर भी ये सब शरीर के गुण बने रहते हैं। इसीप्रकार यदि चेतना का इन गुणों से वैलक्षण्य है, तो वह भी अन्य रूप, गुरुत्व आदि गुणों के समान शरीर का गुण मानाजा-सकता है। इसलिये चेतना को शरीर का गुण न मानने में, 'शरीरगुणवैधर्म्य'-हेतु अनैकान्तिक है ॥ ५६ ॥

शरीरगुण बाह्येन्द्रियग्राह्य—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥ (३२६)

[ऐन्द्रियकत्वात्] बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से [रूपादीनाम्] रूप आदि गुणों के, [अप्रतिषेधः] उक्त हेतु का प्रतिषेध असंगत है।

शरीर के जितने गुण हैं, उनके उक्त दो प्रकार निश्चित हैं—कतिपय गुणों का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है; तथा कतिपय गुण सर्वथा अप्रत्यक्ष रहते हैं; उनका ज्ञान अनुमान आदि से होता है। परन्तु चेतना-गुण इन दोनों प्रकारों

में नहीं आता। वह न तो सर्वथा अप्रत्यक्ष है, क्योंकि उसका मानस प्रत्यक्ष होता है; न वह बाह्येन्द्रियग्राह्य है। यदि चेतना रूपादि के समान शरीर का गुण होता, तो वह शरीर-गुणों के उक्त द्वैविध्य का अतिक्रमण न करता। जैसे कि रूपादि परस्पर विलक्षण होते हुए भी उस द्वैविध्य का अतिक्रमण नहीं करते। शरीर का कोई गुण ऐसा नहीं, जो उक्त द्वैविध्य के अन्तर्गत न आजाता हो। इसके विपरीत चेतना ऐसा गुण है, जो उन दोनों विधाओं में नहीं आता। अतः 'शरीरगुणवैधर्म्य'-हेतु के आधार पर चेतना का शरीर-गुण न होना सिद्ध होता है।

यद्यपि यह प्रथम [१८वें सूत्र से लगाकर ४१ सूत्र तक] प्रमाणित करदियागया है कि पृथिवी आदि भूतों, इन्द्रियों तथा मन का धर्म 'ज्ञान' नहीं है। 'चेतना' ज्ञान ही है। और शरीर भी पृथिवी आदि भूतों का विकार है। तब उतने से यह सिद्ध होजाता है--चेतना शरीर का गुण नहीं होसकता। परन्तु विशेष परीक्षा के लिए पुनः, एवं प्रकारान्तर से चेतना को शरीर-गुण न होने का उपपादन कियागया है, जिससे विषय का विविध रीति पर यथार्थ बोध होसके। अनेक प्रकार से तत्त्व की परीक्षा उस विषय में दृढ़ निश्चय करादेती है ॥ ५७ ॥

मन की परीक्षा—बुद्धि की परीक्षा के अनन्तर अब क्रमप्राप्त मन की परीक्षा करना अपेक्षित है। जिज्ञासा होती है प्रत्येक शरीर में एक आत्मा के साथ एक मन सम्बद्ध रहता है, अथवा अनेक मन ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५८ ॥ ३२७)

[ज्ञानायौगपद्यात्] ज्ञानों के युगपत् (एकसाथ) न होने से [एकम्] एक है [मनः] मन, (एक शरीर में)।

मन एक है, एक देह में—शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियाँ अनेक हैं। वे अपने-अपने विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने में साधन होते हैं। इसप्रकार के प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में बाह्य इन्द्रिय के समान आन्तर इन्द्रिय मन भी साधन होता है। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ अपने रूप आदि नियत विषयों के ग्रहण का सामर्थ्य रखते हैं; परन्तु मन अनियतविषय होता है, क्योंकि अणु-परिमाण होने से मन का एक समय में एक इन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है, इसलिए उस क्षण में उसी इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान होपाता है; भले ही उसी समय अन्य इन्द्रिय भी अपने ग्राह्य विषय से सम्बद्ध हो। उस विषय का ज्ञान उस क्षण में नहीं होसकेगा; क्योंकि मन तब उस इन्द्रिय से सम्बद्ध नहीं है। इसप्रकार एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव नहीं होता। यह स्थिति शरीर में एक मन की सत्ता को सिद्ध करती है। यदि एक से अधिक अनेक मन की स्थिति एक शरीर

में मानीजाती है, तो एक क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ अनेक मन-द्रव्यों का सम्बन्ध होने पर अनेक ज्ञानों का उत्पन्न होना प्राप्त होता है। परन्तु एक क्षण में अनेक ज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होते। इसलिए विषयग्रहण में क्रम होने से एक शरीर में एक मन का होना प्रमाणित होता है ॥ ५८ ॥

क्रिया व ज्ञान देह में एक-साथ अनेक—शिष्य व्यावहारिक स्थिति के आधार पर जिज्ञासा करता है, एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना देखाजाता है, आचार्य ने जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ५९ ॥ (३२८)

[न] नहीं (युक्त प्रतीत होता, उक्त कथन) [युगपत्] एकसाथ [अनेक-क्रियोपलब्धेः] अनेक क्रियाओं की उपलब्धि से।

एक क्षण में अनेक ज्ञानों के एकसाथ न होने के आधार पर प्रतिशरीर में केवल एक मन का मानाजाना युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना व्यवहार में स्पष्ट देखाजाता है। कोई भी क्रिया सदा ज्ञानपूर्वक होती है; अतः एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना मानाजाना चाहिये, जो प्रतिशरीर एक मन स्वीकार करने पर सम्भव न होगा। एक क्षण में अनेक क्रिया व ज्ञानों का होना व्यवहारसिद्ध है। एक अध्यापक अथवा कोई धार्मिक व्यक्ति नदी पर स्नान करने के अनन्तर मन्त्रों का पाठ कर रहा है, चलताजारहा है, जलपात्र को हाथ में थामे हुए है, मार्ग को आगे देखरहा है, इधर-उधर जंगल में उठते हुए शब्दों को सुनरहा है, कुछ भयभीत भी होरहा है, यह समझकर–कि कहीं जंगल की ओर से उठनेवाली इन ध्वनियों में किसी हिंसक पशु का रव तो नहीं है? उसे पहचानने का प्रयत्न कररहा है; अपने गन्तव्य स्थान का प्रतिक्षण उसे स्मरण होरहा है। इस सब स्थिति में क्रिया व ज्ञान का कोई क्रम प्रतीत नहीं होता, ये एकसाथ होते रहते हैं। इसके आधार पर एक शरीर में अनेक मनों का होना प्रतीत होता है; अतः उक्त कथन चिन्तनीय है ॥ ५९ ॥

ज्ञान एक-साथ अनेक नहीं—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६० ॥ (३२९)

[अलातचक्रदर्शनवत्] अलातचक्र के दीखने के समान [तद्-उपलब्धिः] उन विषयों की उपलब्धि होती है [आशुसञ्चारात्] शीघ्र सञ्चार से।

आग से दहकते हुए सिरेवाली लकड़ी को 'अलात' कहते हैं। लकड़ी के अनजले दूसरे सिरे को पकड़कर जब उसे तेज़ी से घुमायाजाय, उस आग के गोल घेरे का नाम 'अलातचक्र' है। अलात घुमायेजाते समय पूरे एक गोल घेरे [चक्र]